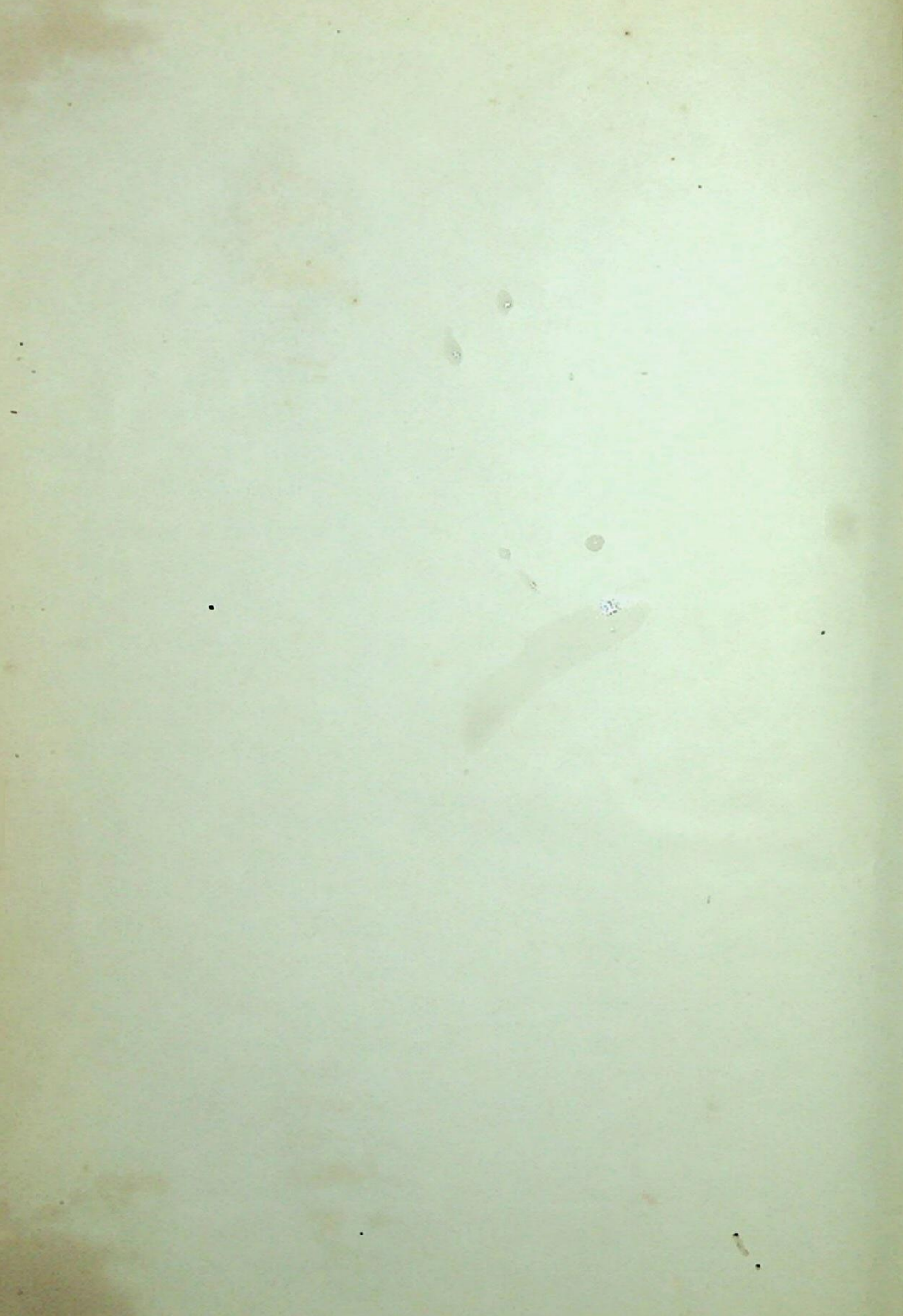
जीवन-ज्योति



डॉ. मंगलदेव शास्त्री

भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन



जीवन-ज्योति

असाम्प्रदायिक एवं विश्वमानवीय दृष्टि से जीवन-दर्शन का प्रतिपादक ग्रन्थ

*

अर्थद्रष्टा एवं ग्रन्थकर्ता

विद्यामार्तण्ड (कां. वि.), विद्यारत्न,

डॉ. मंगलदेव शास्त्री

(मुनि मेधातिथि)

एम. ए., एम. ओ. एल., डी. फ़िल्. (ऑक्सफ़ोर्ड)

पूर्व-उपकुलपति

संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी



भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन

लोकोदय ग्रन्थमाला : ग्रन्थांक : ३२६
सम्पादक एवं नियामक
लक्ष्मीचन्द्र जैन
प्रथम संस्करण : फ़रवरी १९७२
मूल्य : ~~सोलह रुपये~~
Rs. 100/-



जीवन-ज्योति

(जीवन-दर्शन)

डॉ. मंगलदेव शास्त्री

प्रकाशक
भारतीय ज्ञानपीठ
३६२०/२१, नेताजी सुभाष मार्ग, दिल्ली-६

मुद्रक
सन्मति मुद्रणालय
एवं सुदर्शन मुद्रक, वाराणसी

Published by
BHARATIYA JNANPITH
3620/21, Netaji Subhash Marg, Delhi-6

Price : Rs ~~16.00~~

JEEVANA-JYOTI : LIFE'S PHILOSOPHY :
Dr. MANGALDEVA SHASTRI

धन्यवाद-प्रकाशन

२३ जनवरी १९६९ को धर्मपत्नी श्रीमती सावित्रीदेवी का, ६९ वर्ष की अवस्था में, स्वर्गवास हो गया। उन की पवित्र स्मृति में ग्रन्थकर्ता ने 'श्रीमती सावित्रीदेवी धर्मार्थ ट्रस्ट,' दिल्ली, की स्थापना की, जिस की नियमतः रजिस्ट्री १५ दिसम्बर १९७० को हो चुकी है। रोगियों, विधवाओं की सहायता, छात्रों की सहायता और प्रोत्साहन जैसे उद्देश्यों के साथ उस का एक उद्देश्य हिन्दी अथवा हिन्दी और संस्कृत में धर्म और संस्कृति-विषयक पुस्तकों का प्रकाशन भी है।

इसी दृष्टि से ग्रन्थकर्ता ने हिन्दी अनुवाद-सहित अपनी पुस्तक 'जीवन-ज्योति' का सर्वाधिकार और स्वामित्व उपर्युक्त धर्मार्थ ट्रस्ट के नाम समर्पित कर दिया है।

बड़ी प्रसन्नता है कि ट्रस्ट की अनुमति से मेरे द्वारा किये गये प्रस्ताव को, कि उक्त ग्रन्थ का प्रकाशन और वितरण सुप्रसिद्ध संस्था 'भारतीय ज्ञानपीठ' के द्वारा हो, भारतीय ज्ञानपीठ के अधिकारियों ने स्वीकार कर लिया है। मैं स्वयं को उन का अनुगृहीत मानता हूँ।

यहाँ मैं विशेष रूप से उन महानुभावों के प्रति अपना हार्दिक धन्यवाद-प्रकाशन करना अपना कर्तव्य समझता हूँ, जिन से इस ग्रन्थ के तैयार करने में और मुद्रण आदि में प्रोत्साहन और साहाय्य प्राप्त हुआ है।

ग्रन्थ के प्रारम्भ में दिये गये श्रद्धेय श्री काकासाहेब कालेलकर के शुभाशंसन से प्रतीत होगा कि उन्होंने हिन्दी अनुवाद-सहित ग्रन्थ के प्रकाशन में विशेष रुचि प्रकट की थी। वास्तव में उन्हीं की प्रेरणा से ग्रन्थ के मुद्रण आदि में निम्न-निर्दिष्ट सज्जनों से सहायता प्राप्त हुई है। इसलिए सर्वतः प्रथम उन्हीं के प्रति अपनी नम्र कृतज्ञता और धन्यवाद को प्रकट करना अपना कर्तव्य समझता हूँ।

कलकत्ता के सुप्रसिद्ध देशभक्त, अनेक विद्या-संस्थाओं के संस्थापक तथा संचालक, पद्मभूषण श्री सीताराम सेक्सरिया ने पुस्तक के मुद्रण और प्रकाशन में जो लगातार रुचि ली है और उस के लिए अच्छी आर्थिक सहायता भी दी है, तदर्थ मैं उन का हार्दिक धन्यवाद करता हूँ।

श्री सेक्सरिया जी की प्रेरणा से बंगाल पेपर मिल्स के डाइरेक्टर, धर्मशील श्री हनुमानप्रसाद जी धानुका ने पुस्तक की छपाई के लिए बढ़िया काग़ज़ देने का जो अनुग्रह किया है, उस के लिए उन के प्रति मेरा अत्यन्त धन्यवाद है।

अन्त में, पुस्तक के शुद्ध और सुन्दर ढंग से छपवाने में प्रिय मित्र आचार्य श्री सीताराम चतुर्वेदी जी ने जो बड़ी कृपा की है, उस के लिए मैं उन का विशेष अनुगृहीत हूँ।

—मंगलदेव शास्त्री
(मुनि मेधातिथि)
१६/१२/१९७१

मंगल भवन,
२४/६ शक्तिनगर,
दिल्ली–७

पद्म-विभूषण आचार्य श्री काका साहेब कालेलकर का

शुभाशंसन

...हमारे सारे अध:पात के ऐतिहासिक कारण अनेक हैं। किन्तु प्रजामानस में जो पुरुषार्थहीनता फैल गयी उसका मुख्य कारण तो दार्शनिक ही है।...

इसलिए संकुचित और सदोष जीवनदृष्टि को टालने के लिए भ्रामक शास्त्र-वचनों को बाजू पर रखकर जीवन की उन्नति, राष्ट्र का उत्कर्ष और समन्वय-कारी वीरोचित संगठन की प्रेरणा देने वाले नये शास्त्र वचनों की आवश्यकता थी।

यह माङ्गल्य-वर्धक काम संस्कृत-विद्या के प्रकाण्ड पण्डित श्री मङ्गलदेव शास्त्री ने अपनी युगानुकूल किताब "जीवन-ज्योति" में किया है। इस ज्योति ने निराशा-रूपी अन्धकार को हटाकर जीवन के उत्कर्ष की साधना का उपदेश किया है।

...श्री मङ्गलदेव शास्त्री समझाते हैं कि सारी दु:खमीमांसा ही बदलनी चाहिए :—कि "स्वेच्छा से स्वीकृत दु:ख तो तप ही है।", "पुरुषार्थी लोगों को उन्नति के लिए दु:ख की सीढ़ी चढ़नी पड़ती है।", "सृष्टि-विधाता भगवान् ने सुख और दु:ख दोनों सहेतुक निर्माण किये हैं। हमारे जीवन में दोनों की आवश्यकता है।" जीवनमें दु:ख नहीं होता तो पुरुषार्थ की प्रेरणा भी क्षीण हो जाती।

व्यक्ति और समाजका परस्पर सम्बन्ध समझाते हुए उन्होंने "दार्शनिक व्यक्तिवाद" का सुन्दर ढंग से खंडन किया है। और केवल जीव-शिव का ही नहीं, किन्तु व्यष्टि-समष्टि का (व्यक्ति और समाज का) सामंजस्य, उन्नति,

उत्कर्ष और विश्वात्मैकत्व-भावना के लिए स्वार्थ, लोभ, संकुचितता और विलासिता का संयम करके विश्वसेवा का पुरुषार्थ करना कितना आवश्यक है, यह सब यहाँ बताया है।

जिस तरह के जीवन-दर्शन की आवश्यकता हमारे देश के लिए और दुनिया के लिए मैंने मान ली है, उसी का विस्तार इस जीवन-ज्योति में पाकर मुझे परम सन्तोष हुआ।

शास्त्री जी ने अपनी षोडश-कलायुक्त सारी किताब संस्कृत-पद्यों में ही लिखी है। इतना ही नहीं, किन्तु इस कल्याणकारी युगानुकूल जीवनदर्शन की हर एक रश्मि का प्रारम्भ उन्होंने अनुकूल वैदिक वचनों से ही किया है। यह उन्होंने ठीक ही किया है।...

उन्होंने अपने ग्रन्थ का आजकी सांस्कृतिक भाषा हिन्दी में अनुवाद भी तैयार करके रखा है।

मैं आशा करता हूँ कि थोड़े ही दिनों में जीवन-ज्योति का यह युगानुकूल और संस्कृतिपोषक जीवन-दर्शन राष्ट्रभाषा में सब लोगों के लिए उपलब्ध होगा।...

ऐसी शुद्ध दार्शनिक दृष्टि की पोषक इस जीवन-ज्योति का मैं अभिनन्दन करता हूँ, स्वागत और पुरस्कार भी करता हूँ।

'सन्निधि' राजघाट, नयी दिल्ली—१

काका कालेलकर

१।८।१९६८

प्राक्कथन

(इंग्लिश से हिन्दी में अनुवाद)

जीवन-ज्योति—नामक प्रकृत ग्रन्थ मानव-जीवन के दर्शन के संक्षिप्त प्रतिपादन के रूप में लिखा गया है। इसकी मुख्य विशेषता है कि यह किसी भी प्रकार की सांप्रदायिक संकीर्णता की भावना से रहित है।

ग्रन्थकार ने ग्रन्थ की रचना, सुललित संस्कृत पद्यों में, शास्त्रीय प्रमाणों से समर्थित अपने आध्यात्मिक अनुभव के आधार पर की है। पुस्तक नर-नारायण के संवाद रूप में लिखी गयी है। उसमें प्रत्येक रश्मि (= अध्याय) के प्रारम्भ में प्राश्निक के रूप में नर अपनी जिज्ञासा उपस्थित करता है और तदनन्तर उसी के अन्तरात्मा-रूपी भगवान् नारायण उसका समाधान करते हैं। पुस्तक का रचना-क्रम सावधानता-पूर्वक निर्धारित किया गया है और उसकी पद्यावली सरलता से कण्ठस्थ की जा सकती है।

ग्रन्थ में विशेष रूप से इस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया गया है कि विश्वव्यापी परमतत्त्व वास्तव में एक है और सर्वथा अविभाज्य है; यद्यपि आनुषङ्गिक तत्तद् उपाधियों या प्रभावों से प्रभावित तत्तद् व्यक्तियों को विभिन्न रूपों में उसकी प्रतीति हो सकती है। उदाहरणार्थ, उस परमतत्त्व का साक्षात्कार भूमा, ब्रह्म, विशुद्ध आनन्द, सामरस्य (= विरोधों की एकरसात्मक स्थिति), विश्वमाता अथवा परमा प्रकृति, पराशान्ति, समन्वय (= विरोधों में सामञ्जस्य की भावना), पूर्ण, अनन्तानन्त ऐश्वर्य अथवा परममाधुर्य—इन रूपों में हो सकता है।

ग्रन्थ का मुख्य रूप से प्रतिपादन यही है कि परमतत्त्व का साक्षात्कार ही मानव-जीवन का प्रधान लक्ष्य है। वास्तव में इसी जीवन में परमतत्त्व का साक्षात्कार ही तत्त्वज्ञान का उद्देश्य होता है।

इस प्रसङ्ग में ग्रन्थकार का कहना है कि वैचारिक जगत् में जीवन के सम्बन्ध में दो परस्पर-विरुद्ध दृष्टियाँ प्रचलित हैं। प्रथम तो निराशावादियों की दृष्टि है, जो जीवनको अवसादमय, कोरा स्वप्नरूप, छाया के समान निःसार, अथवा भ्रान्त प्रतीति के रूप में ही देखती है (तु० "संसारः स्वप्नमात्रोऽयं चलाः प्राणा धनं तथा। सुखं तत्र न पश्यामि दुःखं तत्र दिने दिने।।"), जिसका अन्त केवल आत्मत्व या आत्मचेतना के नितरां अपलाप में ही होता है (तु० "असुर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसावृताः। तांस्ते प्रेत्यापि गच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः।।")।

साथ ही दूसरी दृष्टि है, जो जीवन को, आत्मत्व के निषेध का क्षेत्र न मानकर, निरतिशय आनन्द के प्रकाश के रूप में अथवा अनन्तानन्त शाश्वतिक स्थिति में आत्म-स्वरूप की अनुभूति के रूप में ही देखती है।

उक्त दोनों दृष्टियों में, जहाँ पहली केवल अभावात्मक है, वहाँ दूसरी सातिशय रूपमें भावात्मक है, जिसमें जीवन केवल आत्मानन्द का प्रकाश (= लीला) ही है। ऐसी स्थिति में जीवन में जो शोक या दुःख का भान होता है, उसे सत्यकी स्पष्ट प्रतीति में अहंकार-प्रयुक्त अवरोध या परिसीमन के कारण ही समझना चाहिए। नैतिक दृष्टि से आत्म-विश्वास का अभाव, बुद्धि का वैपरीत्य अथवा समष्ट्यात्मक या सामाजिक मूल्यों के सम्बन्ध में व्यक्तिगत मूल्यों की समुचित व्यवस्था के निर्धारण में सहज दुर्बलता (या अकौशल) ही उक्त अवरोध (अथवा परिसीमन) का कारण होता है।

ग्रन्थकार का दृष्टिकोण सांसारिक जीवन की उपेक्षा नहीं करता, क्योंकि उनका कहना है कि आदर्शात्मक जीवन का यह अर्थ नहीं है कि मनुष्य शोक-बहुल तथा कर्मपरक सांसारिक जीवन का तिरस्कार कर दे या उससे मुँह मोड़

ले। साधारणतया जिसको 'वैराग्य' कहा जाता है, उसपर उस आदर्शात्मक जीवन का आधार नहीं है। यह एक कठोर सत्य है और वीरता-पूर्वक इसका सामना करना चाहिए।

ग्रन्थ की सोलह रश्मियों में ग्रन्थकार उन सिद्धान्तों की व्याख्या करते हैं जिनके सच्चाई के साथ पालन करने से मनुष्य निश्चय रूप से जीवन में सफलता को पा सकता है और जीवन्मुक्ति या दिव्य जीवन का भी अनुभव प्राप्त कर सकता है। उन सिद्धान्तों में प्रमुख स्थान उस आशावादी दृष्टिकोण का है जो प्रकाश, आनन्द और रूप को जीवनका सारांश समझता है।

यह संसार कार्य-कारण-भाव के नियम से नियन्त्रित है, जिसके मूल में दैवी विधान कार्यकर हो रहा है। परन्तु स्मरण रखना चाहिए कि इस कर्म-शाला की पृष्ठ-भूमि में जो दिव्य अधिष्ठाता स्थित है, आत्यन्तिक स्वातन्त्र्य ही उसका वास्तविक स्वरूप है। ग्रन्थकार स्वयं कहते हैं—

> कार्यंकारणयोर्मध्यवर्तिनी यैकसूत्रता।
> अन्तर्नियामिका शक्तिः सैव विश्वस्य मन्यते॥
> विधानं च विधाता च विधिर्वा सा निगद्यते।
> नामभेदैः पदार्थस्य न स्वरूपं विभिद्यते॥

(जीवनज्योति १०।३३-३४)

विश्व की पृष्ठभूमि में विद्यमान विधान और नियन्त्रण करनेवाला परम तत्त्व (या विधाता) दोनों वास्तव में अभिन्न हैं। एक दृष्टि से जिसको हम नियन्त्रण-रूप कठोरता समझते हैं, वही दूसरी दृष्टि से करुणा का अनन्त-प्रवाह-रूप दीखता है। ब्रह्मचर्य, आत्म-संयम और आत्म-शुद्धि की कठोरता की चित्तके स्वस्थ विकास के लिए वैसी ही अत्यधिक उपयोगिता है, जैसी कि परोपकार-भावना की तथा करुणा के स्वच्छन्द प्रवाह की। चारित्र्य-निर्माण के लिए सत्य, धैर्य और संतोष के गुण उसी तरह आवश्यक हैं, जिस तरह कि आत्म-संमान की उदात्तता और विनय-भाव की नम्रता। सतत-जागरूकता, कर्तव्य-परायणता और कठोर आत्म-परीक्षण स्वस्थ (=निर्दोष) जीवन के

लिए वैसे ही अनिवार्य रूप से आवश्यक हैं, जैसे सरल भाव से युक्त श्रद्धा और निष्कपट आत्म-समर्पण। नियम-पूर्वक तत्परता से पालन किये जाने पर ये सब गुण जीवन में दृढता और सौन्दर्य दोनों का संपादन करते हैं।

मैं समझता हूँ कि प्रकृत ग्रन्थ के विशिष्ट स्वरूप का सामान्य परिचय मैंने ऊपर दे दिया है। इस प्रकार के ग्रन्थ की विशेष उपयोगिता उन लोगों के लिए है जो सांसारिक जीवन में रहते हुए साथ ही आत्मसाक्षात्कार और आनन्द के मार्ग पर आगे बढ़ना चाहते हैं। पर जो इस मार्ग में आगे बढ़ चुके हैं, उनको भी इस ग्रन्थ के अध्ययन से अवश्य पर्याप्त लाभ होगा।

संसार की वर्तमान स्थिति में मैं हृदय से चाहता हूँ कि इस ग्रन्थ का अधिक से अधिक प्रचार हो। ग्रन्थ वास्तव में इस योग्य है।

२ (ए) सिगरा, वाराणसी
१०।८।१९६८

गोपीनाथ कविराज,
एम० ए०, डी० लिट्, महामहोपाध्याय,
पद्मविभूषण

प्रस्तावना

ग्रन्थ की पृष्ठभूमि

आज से ६८ वर्ष पूर्व, १९०३ में, प्रकृत ग्रन्थकार ने गुरुकुल में प्रविष्ट होते हुए, उपनयन-वेदारम्भ संस्कार के अवसर पर, ब्रह्मचर्य-व्रत ग्रहण करते हुए यज्ञाग्नि के साक्ष्य में इस मन्त्र का पाठ किया था—

"ओं यथा त्वमग्ने देवानां यज्ञस्य निधिपा असि। ओम्
एवमहं मनुष्याणां वेदस्य निधिपो भूयासम्॥"
(पारस्करगृह्यसूत्र २।४।२)

[अर्थात्, हे अग्निदेव ! जैसे तुम देवों में यज्ञ-रूप निधि के रक्षक हो, उसी प्रकार मैं मनुष्यों में वेद-रूप निधि का रक्षक बनूँ—ऐसा आशीर्वाद मुझे दीजिए !]

तब से ही वेदाध्ययन की भावना हृदय में बद्धमूल होने लगी। यथा-विधि आर्ष-पद्धति से वेद-वेदाङ्ग के अध्ययन में मन लगाया। सौभाग्य से १९०८ से तो प्रायः बराबर ही वेद और वैदिक वाङ्मय का अध्ययन, मनन और स्वाध्याय चलता रहा है। अनेक वैदिक ग्रन्थों की रचना और संपादन उसी का आनुषङ्गिक परिणाम है।

इस अनवरत वैदिक स्वाध्याय की एक ऐसी गहरी छाप मन में बैठ गयी है कि उठते बैठते प्रायः उसका ध्यान आता रहता है। उस स्वाध्याय से एक ऐसा अद्भुत प्रकाश मिला है, जिसकी परम्परा चिरकाल से प्रायः विलुप्त हो गयी थी।

वेद ऐसे धरातल पर हमें ले जाते हैं जो मानव-मात्र के लिए अनवरुद्ध है; पर संकुचित सांप्रदायिक विचारधारा की गति वहाँ नहीं है ।[१]

स्वभावत: क्रमश: यह तीव्र प्रेरणा होने लगी कि 'सर्वजनहिताय' अथवा विश्वकल्याण के लिए उस अद्भुत प्रकाश को जगत् में फैलाया जाय । 'रश्मिमाला', 'अमृतमन्थन', 'भारतीय संस्कृति का विकास' (वैदिक धारा तथा औपनिषद धारा) इन ग्रन्थों का उद्गम उसी प्रेरणा-स्रोत से हुआ है ।

उसी प्रेरणा का कदाचित् चरम विकास पाठकों को इस जीवनज्योति में मिलेगा ।

ग्रन्थ का वैशिष्ट्य

"यशा विश्वस्य भूतस्याहमस्मि यशस्तम:"

(अथर्वसंहिता ६।५८।३)

(अर्थात्, मैं समस्त प्राणियों का यश:स्वरूप हूँ; मैं अत्यन्त यशवाला हूँ ।)

"पुरुषो वै प्रजापतेर्नेदिष्ठम्" (शतपथब्राह्मण २।५।१।१)

(अर्थात्, मनुष्य प्रजापति अथवा परमेश्वर के सबसे अधिक समीप है ।)

---

१. वेदों के विषय में हमने अन्यत्र (तु० जीवनज्योति ११।५) लिखा है—

सत्यविद्याप्रतिष्ठा ये वेदा उक्ता: सनातना: ।
तेषां स्थितिर्हितायैव विश्वस्यास्य मता ध्रुवम् ।।

तथा च—

इन्द्रियार्थेष्वसक्ता ये प्राप्ता आध्यात्मिकीं स्थितिम् ।
स्वार्थदृष्टिमतिक्रम्य विश्वतादात्म्यमाश्रिता: ।। १ ।।
सत्यमेव परं ब्रह्म सत्यमेव परं तप: ।
सत्यमेव परं लक्ष्यं येषां त ऋषयो मता: ।। २ ।।
त एव ऋषय: साक्षात् पश्यन्त्यार्षेण चक्षुषा ।
यदेतत्पावनं ज्ञानं दिव्यलोकादुपागतम् ।। ३ ।।
देशकालानवच्छिन्नं वेदशब्देन संज्ञितम् ।
तदेतदमृतं नूनं विश्वकल्याणसाधनम् ।। ४ ।।

इत्यादि श्रुतियों के अनुसार मानव और मानव-जीवन की महिमा का उत्कर्ष विद्वानों से छिपा नहीं है।

उसी मानव-जीवन का तात्त्विक दृष्टि से क्या स्वरूप है? क्या लक्ष्य है? उसकी प्राप्ति इसी जीवन में कैसे हो सकती है? उस प्राप्ति में कौन-कौन से विघ्न आते हैं और उनका प्रतीकार कैसे हो सकता है? इत्यादि प्रतिपाद्य विषयों को लेकर ही मुख्यतया इस ग्रन्थ की प्रवृत्ति हुई है।

पर इस प्रकार के विषयों का प्रतिपादन तत्तत् सांप्रदायिक ग्रन्थों में और विभिन्न दार्शनिक निबन्धों में भी किया गया है? इस स्थिति में इस ग्रन्थ का उनकी अपेक्षा अपना वैशिष्ट्य क्या है? यह प्रश्न उठता है। इसी प्रश्न का समाधान करने का यहाँ नीचे हम प्रयत्न करेंगे।

जीवन में आशावाद

कहने की आवश्यकता नहीं है कि इधर चिरकाल से भारतीय विचारधारा में मानव-जीवन के विषय में—

"संसारः स्वप्नमात्रोऽयं चलाः प्राणा धनं तथा।
सुखं तत्र न पश्यामि दुःखं तत्र दिने दिने॥"

(अर्थात् यह संसार स्वप्नमात्र है। प्राण और धन-संपत्ति चलायमान हैं। वहाँ मुझे सुख नहीं दिखायी देता, पर दुःख प्रतिदिन देखने में आता है।),

"मरणं प्रकृतिः शरीरिणां विकृतिर्जीवनमुच्यते बुधैः।"

(रघुवंश ८।८७)

(अर्थात्, शरीरधारियों के लिए मरण स्वाभाविक है, जीवन एक अस्वाभाविक घटना है),

'यह संसार दुःखमय है, और इसीलिए हेय और असार है।',

'जीवन कारागार के सदृश केवल बन्ध-स्थान है।'[१]

---

१. तु० "भवबन्धविमुक्तये", "संसारकारागृहमोक्षमिच्छोः" (विवेक-चूडामणि ६८, २७३),

इसी प्रकार की अवसाद-जनक और निराशामय हीनदृष्टि की परम्परा रही है। इसी दृष्टि को आधार मान कर प्रायेण विभिन्न सांप्रदायिक और दार्शनिक विचार प्रवृत्त हुए हैं।

उपर्युक्त विचारधारा के स्थान में 'यह जीवन सृष्टिकर्ता परमेश्वर का महान् प्रसाद है', 'उसका उत्तरोत्तर अनन्त उत्कर्ष ही मानव-जीवन का परम लक्ष्य है', 'उस लक्ष्य की प्राप्ति इस जीवन में ही की जा सकती है', मानव-जीवन के सम्बन्ध में ऐसी आशावादिनी दृष्टि का प्रतिपादन ही इस ग्रन्थ का प्रथम वैशिष्ट्य है।

इस सम्बन्ध में ग्रन्थ के निम्न-निर्दिष्ट उद्धरण द्रष्टव्य हैं—

"आशा सर्वोत्तमं ज्योतिर्निराशा परमं तमः" (१।१५)

(अर्थात्, आशा सर्वोत्तम ज्योति है और निराशा घोर अन्धकार है),

"जीवनं परमोत्कृष्टः प्रसादो जगतीपतेः" (१।१८)

(अर्थात्, जीवन जगत्स्रष्टा परमेश्वर का परमोत्कृष्ट प्रसाद है),

"भूतानामुद्दिधीर्षैव सृष्टेरस्या असंशयम्।
कारणं करुणामूला स्वयम्भूपरमात्मनः॥ (१५।२८)

(अर्थात्, इसमें सन्देह नहीं कि स्वयम्भू परमात्मा की प्राणियों का उद्धार करने की इच्छा ही इस सृष्टि का कारण है और उस उद्दिधीर्षा के मूल में भगवान् की करुणा ही है)[1],

"तदेतदमृतं पुण्यं पीत्वा पीत्वा रसायनम्।
इहैव जीवने विद्वान् ब्रह्मभूयाय कल्पते॥" (१६।१५४)

(अर्थात्, जीवन के सम्बन्ध में उक्त दृष्टि रसायन-रूप पवित्र अमृत के समान है। उसका बराबर पान करके विद्वान् इसी जीवन में ब्राह्मी स्थिति को प्राप्त कर सकता है)।

---

१. तु० "नूनं सृष्टिरशेषा करुणावरुणालयेन देवेन। कल्याणकामनाभिर्जीवानां निर्मितास्माकम्॥" (जीवनज्योति १०।६८)

इसी प्रकार ग्रन्थ में अनेकत्र जीवन के विषय में आशावादिनी दृष्टि को अपनाते हुए, इस विचार की ओर संकेत किया गया है कि यह संसार, कारागार के सदृश एक बन्ध-स्थान न होकर, बच्चों के सर्वतोमुख विकास के लिए जैसे विद्यालयों का निर्माण किया जाता है, उसी प्रकार हमारे उत्तरोत्तर विकास के लिए उत्पन्न किया गया है। इसलिए, जीवन की समस्याओं के भय से अपने कर्तव्य कर्मों की उपेक्षा करके मिथ्यासंन्यास की प्रवृत्ति के स्थान में, कर्तव्य की भावना से अथवा अनासक्त बुद्धि से अपने कर्तव्यों का पालन ही हमें करना चाहिए , इसी में हमारा कल्याण निहित है।

उपर्युक्त मौलिक सिद्धान्त के आधार पर ही जीवन-सम्बन्धी समस्याओं का समाधान इस ग्रन्थ में किया गया है। जैसा ऊपर कहा है, यही उसका प्रथम वैशिष्ट्य है।

दुःख-मीमांसा

उपर्युक्त मौलिक दृष्टि से सम्बद्ध ही ग्रन्थ का दुःख-विषयक विचार है। दुःख-मीमांसा-नामक द्वितीय रश्मि में जिस नवीन दृष्टि-कोण से दुःख पर विस्तृत विचार किया गया है, उसको भी हम इस ग्रन्थ का एक वैशिष्ट्य कह सकते हैं।

'यह संसार दुःखमय है, और इसीलिए हेय और असार है।', "दुःखमेव सर्वं विवेकिनः" (योगसूत्र २।१५) (अर्थात्, विवेकी पुरुष के लिए सब कुछ दुःख-रूप ही है), "बाधनालक्षणं दुःखम्। तदत्यन्तविमोक्षोऽपवर्गः" (न्यायसूत्र १।१।२१-२२) (अर्थात्, बाधना अथवा पीडा को ही दुःख समझना चाहिए और उससे अत्यन्त छुटकारे को ही अपवर्ग या मोक्ष कहते हैं), "त्रिविधदुःखात्यन्तनिवृत्तिरत्यन्तपुरुषार्थः" (सांख्य-सूत्र १।१) (अर्थात्, आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक इन तीन प्रकार के दुःखों की अत्यन्त निवृत्ति ही मनुष्य का अत्यन्त पुरुषार्थ है)। दुःख के विषय में हमारी परम्परागत दृष्टि ऐसी ही रही है।

उसी दुःख के विषय में उक्त दुःख-मीमांसा के प्रसङ्ग में मुख्य रूप से जिन सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया गया है, वे ये हैं—

(१) सृष्टि की योजना में दुःख की प्राप्ति निष्प्रयोजन नहीं हो सकती;
(२) दुःखों को कार्यसिद्धि में भूमिका-मात्र ही समझना चाहिए;
(३) स्वेच्छा से स्वीकृत दुःख तप ही होता है;
(४) मनुष्यों की समुन्नति में दुःख सोपान-रूप ही होते हैं;
(५) महान् पुरुष दुःखों का स्वागत ही किया करते हैं।

स्पष्टतया दुःख के सम्बन्ध में इस नवीन दृष्टि का प्रतिपादन भी ग्रन्थ का एक वैशिष्ट्य है।

इस सम्बन्ध में ग्रन्थ के निम्नस्थ पद्य विशेष रूप से द्रष्टव्य हैं—

"तत्रैवं सति लोकेऽस्मिन् दुःखावस्थेति या मता।
सप्रयोजनता तस्या नूनं नैवात्र संशयः॥"

(अर्थात्, इसलिए संसार में जिसको दुःख की अवस्था माना जाता है उसका ईश्वर की दृष्टि में कोई न कोई प्रयोजन अवश्य होता है, यही मानना चाहिए)

"उत्तरोत्तरमुत्कृष्टप्रगतावुत्सुकस्तु यः।
दुःखानां स्वागतं कुर्वंस्तत्त्वज्ञो नावसीदति॥"

(अर्थात्, तत्त्वज्ञानी मनुष्य, जो अपने जीवन में उत्तरोत्तर उत्कृष्ट उन्नति के लिए उत्सुक रहता है, दुःखों का स्वागत करता हुआ उनसे विषाद को नहीं प्राप्त होता)

"दुःखं वै दुःखरूपेण तावदेव प्रतीयते।
यावत् परिग्रहस्तस्यानिच्छयैव विधीयते॥"

(अर्थात्, दुःख दुःख-रूप से तभी तक प्रतीत होता है, जब तक उसका ग्रहण अनिच्छा से ही किया जाता है)

"दुःखं चेत्स्वेच्छया प्राज्ञः प्रसन्नेनान्तरात्मना ।
आदत्ते, तत्तपोरूपमाधत्ते, नात्र संशयः ॥"

(अर्थात्, यदि बुद्धिमान् मनुष्य आये हुए दुःख को स्वेच्छा-पूर्वक प्रसन्न मन से स्वीकार कर लेता है, तब वही दुःख उसके लिए निःसन्देह तप का रूप धारण कर लेता है)

"नूनं तपांसि कृच्छ्राणि शास्त्रोक्तानि विधानतः ।
आचरन्त्यात्मनः शुद्धचै श्रद्धया ये मनीषिणः ॥"

(अर्थात्, शास्त्रों में अनेकानेक कृच्छ्रातिकृच्छ्र व्रत आदि तपों का विधान किया गया है । जो बुद्धिमान् हैं वे आत्म-शुद्धि के लिए उन तपों का श्रद्धा से विधिपूर्वक पालन किया करते हैं)

"तत्रैवं सति लोकेऽस्मिन् दुःखावस्थेति योच्यते ।
नूनं सास्मद्धितायैव नोद्वेगाय मनीषिणः ॥"

(अर्थात्, उपर्युक्त वस्तुस्थिति के कारण, लोक में जिसको दुःखावस्था कहा जाता है वह निश्चय ही हमारे कल्याण के लिए होती है, ऐसा मानना चाहिए । समझदार लोग उससे उद्विग्न नहीं होते)

(२।१३,१६,२४,२५,२६,३३)

व्यष्टि - और समष्टि-दृष्टियों का सामञ्जस्य

(इस विषय का प्रतिपादन ग्रन्थ की पन्दरहवीं रश्मि में किया गया है)

मनुष्य-जीवन का परम लक्ष्य क्या है और उसकी प्राप्ति कैसे की जा सकती है ? इस प्रश्न के सम्बन्ध में हमारी परम्परागत दृष्टि व्यक्ति-परक ही रही है । जैसे—

"एकः प्रजायते जन्तुरेक एव प्रलीयते ।
एकोऽनुभुङ्क्ते सुकृतमेक एव च दुष्कृतम् ॥
व्यष्टेरेतादृशी दृष्टिः पारम्पर्यक्रमागता ।
बन्धमोक्षप्रवादोऽपि तामाश्रित्यैव तिष्ठति ॥

(जीवनज्योति १५।७-८)

(अर्थात्, प्राणी (=मनुष्य) अकेला पैदा होता है और अकेला ही मृत्यु-ग्रस्त होकर प्रलीन हो जाता है। अपने सुकृत और दुष्कृत (= पुण्य-पाप) का फल भी वह अकेला ही भोगता है। व्यक्ति के सम्बन्ध में यही दृष्टि परम्परा से चली आ रही है। बन्ध और मोक्ष की व्यवस्था भी इसी दृष्टि पर आश्रित है।)

तत्तत् संप्रदायों और दर्शनों ने प्रायेण इसी व्यक्ति-परक दृष्टि का अवलम्बन किया है।

इस सम्बन्ध में इस ग्रन्थ की दृष्टि बहुत कुछ उक्त दृष्टि से भिन्न है। इसके अनुसार व्यष्टि समष्टि के बिना नहीं रह सकती। व्यष्टि समष्टि पर आश्रित है और उसका कल्याण समष्टि के साथ उसके सामञ्जस्य में ही रहता है। इस सम्बन्ध में ग्रन्थ का प्रतिपादन इस प्रकार है—

"व्यष्टीनां जीवनं तस्माद् व्यापारः स्थितिरेव च।
यथा सरसि मीनानां समष्टावाश्रितं तथा॥
समष्ट्या तेन व्यष्टीनां किञ्च तासां परस्परम्।
सामञ्जस्यं समुत्कृष्टं परमं लक्ष्यमुच्यते॥
समष्ट्याः कार्यकरणे व्यष्टीनामेकतानता।
धर्मस्य वस्तुतो मूलमाहुस्तस्मान्मनीषिणः॥
तस्यामेव स्थितौ तिष्ठन्नद्वैतं स्वपरार्थयोः।
तत्त्वतो मन्यते विद्वानजिह्मेनैव चेतसा॥"

(१५।३६-३९)

(अर्थात्, इसलिए व्यष्टियों का जीवन, व्यापार और स्थिति, तालाब में मछलियों के (जीवन आदि के) समान, समष्टि में ही आश्रित होते हैं। इस कारण से व्यष्टियों का समष्टि के साथ, तथा व्यष्टियों का परस्पर भी, समुत्कृष्ट सामञ्जस्य ही परम लक्ष्य माना जाता है। इसीलिए मनीषी लोग समष्टि के कार्य के करने में व्यष्टियों की एकतानता को वास्तव में धर्म का मूल बतलाते हैं। उसी स्थिति में स्थित हुआ विद्वान् निष्कपट भाव से स्वार्थ और परार्थ में वास्तव में अद्वैत को मानता है।

इस प्रकार समष्टि-दृष्टि की उपेक्षा न करके व्यष्टि-दृष्टि और समष्टि-दृष्टि दोनों के पारस्परिक सामञ्जस्य का प्रतिपादन भी प्रकृत ग्रन्थ का एक वैशिष्टय है।

तत्त्वमीमांसा

(ग्रन्थ की बारहवीं रश्मि का यही प्रतिपाद्य विषय है)

आध्यात्मिक क्षेत्र में विश्वके मूलतत्त्व के स्वरूपके विषय में भी विभिन्न धार्मिक सम्प्रदायों तथा दर्शनों में ऐकमत्य नहीं है, यह बात विद्वानों से छिपी नहीं है। इस वैमत्य से न केवल जिज्ञासुओं के मन में ही उलझन पैदा होती है, किन्तु धार्मिक जगत् में सांप्रदायिक संघर्ष का भी यह एक कारण है। इस सम्बन्ध में तत्त्वमीमांसा प्रकरण में जो विचार उपस्थित किया गया है, उसे भी इस ग्रन्थ का एक वैशिष्टय समझना चाहिए।

इस सम्बन्ध में विशेषतः निम्नस्थ पद्यों को देखिए—

"यतो भूतानि जायन्ते यत्र तेषां लयो मतः।
यदाश्रयेण तिष्ठन्ति तत्त्वं तन्नित्यमव्ययम्।
रुचिभेदाद्धियो भेदादथवा संप्रदायतः।
तत्त्वस्य विषये दृष्टेर्भेदः समुपजायते॥
दर्शनानि विभिन्नानि संप्रदायास्ततोऽपरे।
समुत्पन्नानि लोकेऽस्मिन् दृश्यन्ते यत्र तत्र वै॥
एकस्यैव प्रमेयस्य परिभाषान्तरं यथा।
क्रियते शास्त्रभेदेन तथा तत्त्वेऽपि दृश्यताम्॥"

(१२।१३, २०-२१, २६)

(अर्थात्,

जिससे सब भूत उत्पन्न होते हैं, जिसमें उनका लय होता है
और जिसके आश्रय से वे वर्तमान रहते हैं, वही नित्य अविनाशी तत्त्व है।

मूल तत्त्व के विषय में जो अनेक दृष्टियाँ पायी जाती हैं,
उनका कारण रुचिभेद, बुद्धिभेद अथवा संप्रदायभेद ही है।
संसार में जहाँ-तहाँ पाये जाने वाले विभिन्न दर्शनों
और संप्रदायों की उत्पत्ति इन्हीं कारणों से हुई है।
एक ही पदार्थ के लिए विभिन्न शास्त्रों में विभिन्न पारिभाषिक शब्द
नियत कर लिये जाते हैं।
मूलतत्त्व के विषय में भी ऐसा ही समझना चाहिए।)

उक्त प्रतिपादन से, यह स्पष्ट है, न केवल सब सांप्रदायिक संघर्ष ही समाप्त हो जाता है, किन्तु साथ ही सब साम्प्रदायिक सिद्धान्तों में, जो आपाततः परस्पर विरुद्ध प्रतीत होते हैं, मौलिक एकता का दर्शन भी होने लगता है और इस प्रकार उनमें पारस्परिक सामंजस्य का दृढ आधार मिल जाता है।

इस प्रसङ्ग में ग्रन्थ के निम्नस्थ स्थलों को भी देखिए—

"कार्यकारणयोर्मध्यवर्त्तिनी यैकसूत्रता।
अन्तर्नियामिका शक्तिः सैव विश्वस्य मन्यते॥
विधानं च विधाता च विधिर्वा सा निगद्यते।
नामभेदैः पदार्थस्य न स्वरूपं विभिद्यते॥"

(१०।३३-३४)

(अर्थात्, कार्य और कारण के मध्य में रहने वाली जो एकसूत्रता है, उसी को समस्त विश्वकी अन्तर्नियामिका शक्ति माना जाता है। उसी को 'विधान', 'विधाता' अथवा 'विधि' कहा जाता है। यह समझ लेना चाहिए कि किसी पदार्थ के अनेक नामों के कारण उसके स्वरूप में भेद नहीं आता है।)

"सत्यानां परमं सत्यं मूलतत्त्वं निगद्यते।
शक्तिर्माता शिवो विष्णुः सत्यमोंकार एव वा॥
धम्मो कर्मेश्वरो ब्रह्मेत्यादिशब्दैः कथंचन।
शब्दसृष्टिमतिक्रान्तं यदाहुः शब्दकोविदाः॥

(१६।१६६-१६७)

(अर्थात्, मूलतत्त्व को सत्यों का परम सत्य कहा जाता है। शब्दसृष्टि को अतिक्रान्त करके रहने वाले उसी मूलतत्त्व को शाब्दिक विद्वान् शक्ति, माता, शिव, विष्णु, सत्य, ओंकार, धम्म, कर्म, ईश्वर, ब्रह्म इत्यादि शब्दों द्वारा किसी प्रकार कहते हैं।)

परम-लक्ष्य-विषयक मौलिक एकता

मूलतत्त्व के समान ही, जीवनके परम लक्ष्य के सम्बन्ध में भी नाना संकीर्ण दृष्टियाँ प्रचलित हैं। उनको लेकर भी तत्तत् विचारों में जो परस्पर विरोध फैला हुआ है, उससे कौन परिचित नहीं है। उनके विषय में भी तात्त्विक दृष्टि से अविरोध का प्रतिपादन इस ग्रन्थ का एक वैशिष्ट्य है।

इस सम्बन्ध में, उदाहरणार्थ, निम्नस्थ प्रतिपादन को देखिए—

"भूमा ब्रह्म परा शान्तिः साम्यावस्थैकतानता।
सामरस्यं परानन्दः सर्वेऽनर्थान्तरा इमे॥"

(१६।१३)

(अर्थात्, भूमन्, ब्रह्मन्, परा शान्ति, साम्यावस्था, एकतानता, सामरस्य और परानन्द ये सब शब्द समानार्थक हैं; अर्थात् ये सब शब्द एक ही तत्त्व के द्योतक हैं।

इसी प्रकार आपाततः प्रतीयमान सब विरोध-स्थलों में, यदि हम तात्त्विक दृष्टि से प्रचलित रूढ शब्दों के अन्तरभिप्राय को बुद्धि द्वारा पकड़ने का यत्न करें तो, उनमें रहने वाला मौलिक अविरोध तुरन्त दृष्टिगत होने लगता है। इस प्रकार की तात्त्विक बुद्धि के उदय होने पर, सूर्य के उदय होने पर अन्धकार के समान, उपर्युक्त सब विरोध स्वतः नष्ट हो जाते हैं।

इस सिद्धान्त का प्रतिपादन भी प्रकृत ग्रन्थ का परम वैशिष्ट्य है।

चारित्र्य-संपत्ति

जीवन-यात्रा में और विशेषतः अध्यात्म-मार्ग में नैतिक दृष्टि और चारित्र्य-संपत्ति का अत्यन्त महत्त्व है। विभिन्न धार्मिक संप्रदायों में और विभिन्न समाजों

में परस्पर सांमनस्य और वास्तविक सद्भावना की दृष्टि के परिपोषण के लिए यही एक ऐसा सार्वभौम उपाय है, जिसका जाति, देश, काल और धार्मिक अथवा सामाजिक परम्पराओं के आधार पर कोई संकोच अथवा अपवाद नहीं होता।[१]

नैतिक दृष्टि का प्रतिपादन अनेक ग्रंथों में स्वर्ग आदि की प्राप्ति के प्रलोभन के आधार पर किया जाता है। यही प्रायः कहा जाता है कि मनुष्य को सत्य बोलना चाहिए अथवा दान देना चाहिए, क्योंकि ऐसा करने से पुण्य होगा और उससे परलोक में सुख प्राप्त होगा। यह प्रवृत्ति वास्तव में नैतिक दृष्टि के मूल में कुठाराघात के समान है। उसके स्थान में केवल आत्मा की तुष्टि अथवा विकास अथवा उसकी अन्तरङ्ग मौलिक आवश्यकता के रूप में नैतिक दृष्टि का प्रतिपादन और समर्थन करना चाहिए। सच्ची नैतिक दृष्टि और तन्मूलक चारित्र्य-संपत्ति का स्वरूप यही है।

इस विषय में प्रकृत ग्रन्थका दृष्टिकोण बराबर यही है। इस सारे प्रतिपादन को भी ग्रन्थ का एक महत्त्वपूर्ण वैशिष्ट्य कहा जा सकता है।

इस प्रसंग में, उदाहरणार्थ, चतुर्थ रश्मि की संख्या १,२,५,६,७ और ८ की रचनाएँ विशेष रूप से द्रष्टव्य हैं।

उपसंहार

ग्रन्थ के वैशिष्ट्य को दिखाने के लिए ऊपर जो कुछ कहा गया है, उसे केवल निदर्शन रूप में समझना चाहिए। वास्तव में तो समग्र ग्रन्थ ही अनेक दृष्टियों से अपना ख़ास वैशिष्ट्य रखता है।

सबसे बड़ी विशेषता इस ग्रन्थ की यह है कि इसकी रचना, आदि से अन्त तक, नितान्त असाम्प्रदायिक दृष्टिकोण से हुई है। इसकी बराबर यही दृष्टि रही

---

१. तु० "जातिदेशकालसमयानवच्छिन्नाः सार्वभौमा महाव्रतम्"

(योगसूत्र २।३१)

है कि समस्त मानव-समाज की आध्यात्मिक तथा नैतिक पिपासा की शान्ति इसके विचारों से हो सके। इस दृष्टि से इस ग्रन्थ को यदि

विश्व-मानव-गीताञ्जलि

भी कहा जाय, तो कदाचित् अतिशयोक्ति न होगी।

अन्य प्रासङ्गिक विचार

सोलह रश्मियाँ

ग्रन्थ में सोलह ही रश्मियाँ क्यों रखी गयी हैं ? इस प्रश्न का उत्तर यही है कि वैदिक वाङ्मय में पुरुष अथवा प्रजापति को सोलह कलाओं वाला प्राय: बतलाया गया है; उदाहरणार्थ देखिए —

"षोडशकल: सोम्य पुरुष:" (छान्दोग्योपनिषद् ६।७।१), "स एष संवत्सर: प्रजापति: षोडशकल:" (बृहदारण्यकोपनिषद् १।५।१४)। ऐसे कथनों की कई प्रकार से व्याख्या की जा सकती है; पर उसकी यहाँ आवश्यकता नहीं है। तो भी इसमें सन्देह नहीं है कि प्राचीनकाल से पुरुष (अथवा मानव) के साथ 'षोडश' (= सोलह) संख्या का संबन्ध रहा है। उसी आधार पर यहाँ सोलह रश्मियाँ रखी गयी हैं। इसका स्थूल अर्थ यह तो है ही कि मानव के पूर्ण विकास का अध्ययन सोलह भागों में किया जा सकता है।

श्रुति-वचनों का उद्धरण

ग्रन्थ में तत्तद् रचनाओं के प्रारम्भ में प्रायेण श्रुति-वचन उद्धृत किये गये हैं। इससे यह न समझना चाहिए कि उन वचनों के नीचे की रचनाएँ उनकी व्याख्या-रूप हैं। वास्तव में उन श्रुति-वचनों का उद्धरण रचनाओं के बाद का है। उनके उद्धरण का प्रयोजन यही है कि तत्तद् रचनाओं के प्रतिपाद्य अर्थ को उनका समर्थन प्राप्त हो और इस प्रकार उनके प्रभाव में अतिशय आ सके।

नर-नारायण का संवाद

ग्रन्थ की रचना नर-नारायण के संवाद के रूप में हुई है। यह एक प्राचीन शैली है और इसका अनुसरण शिष्ट तथा प्रामाणिक पुरुषों ने किया है।

प्रतिपादन में इस शैली के अवलम्बन से स्पष्टतः एक विशेष सजीवता आ जाती है। इसी कारण से उक्त शैली का अवलम्बन इस ग्रन्थ में किया गया है।

इसके अतिरिक्त, एक दूसरा गहरा कारण भी है। मनुष्य के यावज्ज्ञान का संवर्धन वास्तव में 'नर-नारायण' के संवादरूप में ही होता है। 'नर' और 'नारायण' दोनों सखा-रूप में प्रत्येक मनुष्य में वास करते हैं, ऐसा श्रुति और पुराण आदि में प्रायः कहा गया है।[1] ऐसी अवस्था में 'नर' की ओर से जिज्ञासा और 'नारायण' की ओर से उसके समाधान का किया जाना स्वाभाविक ही है। इसी मौलिक सत्य के आधार पर नर-नारायण के संवाद-रूप में ग्रन्थ की रचना हुई है।

पद्यों की भाषा में इसी सिद्धान्त को हम इस प्रकार कह सकते हैं—

नारायणः परं तत्त्वं तत्प्रकाशो नरः स्मृतः।
परतत्त्वप्रसादेन तत्त्वविज्जायते नरः॥ १॥[2]
रहस्यं परमं ह्येतदनुभूतं महात्मभिः।
केवलं शब्दशास्त्रज्ञपण्डितानामगोचरम्॥ २॥
व्याख्यायते तदेवात्र विश्वकल्याणकाम्यया।
अन्तःस्थितस्य देवस्य लब्ध्वा सत्प्रेरणां मुदा॥ ३॥
तदेतदमृतं पुण्यं पीत्वा पीत्वा रसायनम्।
इहैव जीवने विद्वान् ब्रह्मभूयाय कल्पते॥ ४॥

---

१. तु० "द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परि षस्वजाते" (ऋग्वेद १।१६४।२०), तथा "नरनारायणौ नित्यं केवलं यत्र तिष्ठतः। भ्रातु-भावं समापन्नौ परमं सख्यमाश्रितौ॥" (जीवनज्योति ६।८८)। "व्यक्तित्वं परतत्त्वं च सख्यभावेन तिष्ठतः। मनुष्येऽस्मिन् सहैवेति श्रुतिराह वचोऽमृतम्॥" (जीवनज्योति १०।९२)।

२. देखिए—"तमक्रतुः पश्यति वीतशोको धातुः प्रसादात्" (कठोपनिषद् १।२।२०)।

अर्थात्—

परतत्त्व अथवा मूलतत्त्व को नारायण कहा जाता है उसी का प्रकाश नर है।

परतत्त्व के प्रसाद से नर तत्त्वविद् हो जाता है॥

यह परम रहस्य है; महात्माओं द्वारा इसका अनुभव किया गया है।

केवल शब्दात्मक शास्त्रों के ज्ञाता पण्डित लोग इस रहस्य को नहीं समझते॥

अन्तःस्थित परमदेव की सत्प्रेरणा को पाकर, विश्वकल्याण की कामना से,

उसी रहस्य की व्याख्या यहाँ हृदयोल्लास के साथ की गयी है॥

इस अमृत-रूप पवित्र रसायन का बारबार पान करके,

इसी जीवन में विद्वान् ब्राह्मी स्थिति को प्राप्त कर सकता है॥

अन्त में हम केवल इतना और जोड़ना चाहते हैं—

आशावादेन संपन्नजीवनेन निरन्तरम्।
प्रेमकारुण्ययोर्धाम्नि विश्वासेन परात्मनि॥
उत्तरोत्तरमुत्कर्षलब्धये विश्वमानुषम्।
प्रेरयज्जीवनज्योतिश्चिरं लोके प्रकाशताम्॥

अर्थात्,

निरन्तर आशावाद से सम्पन्न जीवन तथा

प्रेम और करुणा के निधान परमात्मा में विश्वास के साथ

उत्तरोत्तर उत्कर्ष की प्राप्ति के लिए मानवमात्र को

प्रेरणा देती हुई यह जीवन-ज्योति

चिरकाल तक लोक में प्रकाशित हो !!!

वैदिक-स्वाध्याय मन्दिर,
ज्योतिराश्रम,
शक्तिनगर, देहली—७
श्रावणी २०२८
(६ अगस्त १९७१)

मङ्गलदेव शास्त्री
(मुनि मेधातिथि)

[illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

विषय-सूची

प्रथमो रश्मिः

जीवन-संगीतकम्

जीवेम शरदः शतम् । रोहेम शरदः शतम् ।
भवेम शरदः शतम् । भूयसीः शरदः शतात् ।।

(अथर्ववेद १९।६७।२,४,६,८)



प्रथम रश्मि

जीवन-संगीतक

हम सौ वर्ष तक जीवित रहें;
हम सौ वर्ष तक क्रमशः उत्कर्ष को प्राप्त करते रहें;
हम सौ वर्ष तक जीवन के आनन्द का अनुभव करें;
एवं सौ वर्षों के अनन्तर भी अनेक वर्षों तक !

(अथर्ववेद १९।६७।२,४,६,८)

प्रथमो रश्मिः

जीवन-संगीतकम्

जीवेम शरदः शतम् । रोहेम शरदः शतम् ।
भवेम शरदः शतम् । भूयसीः शरदः शतात् ।।

(अथर्ववेद १६।६७।२,४,६,८)

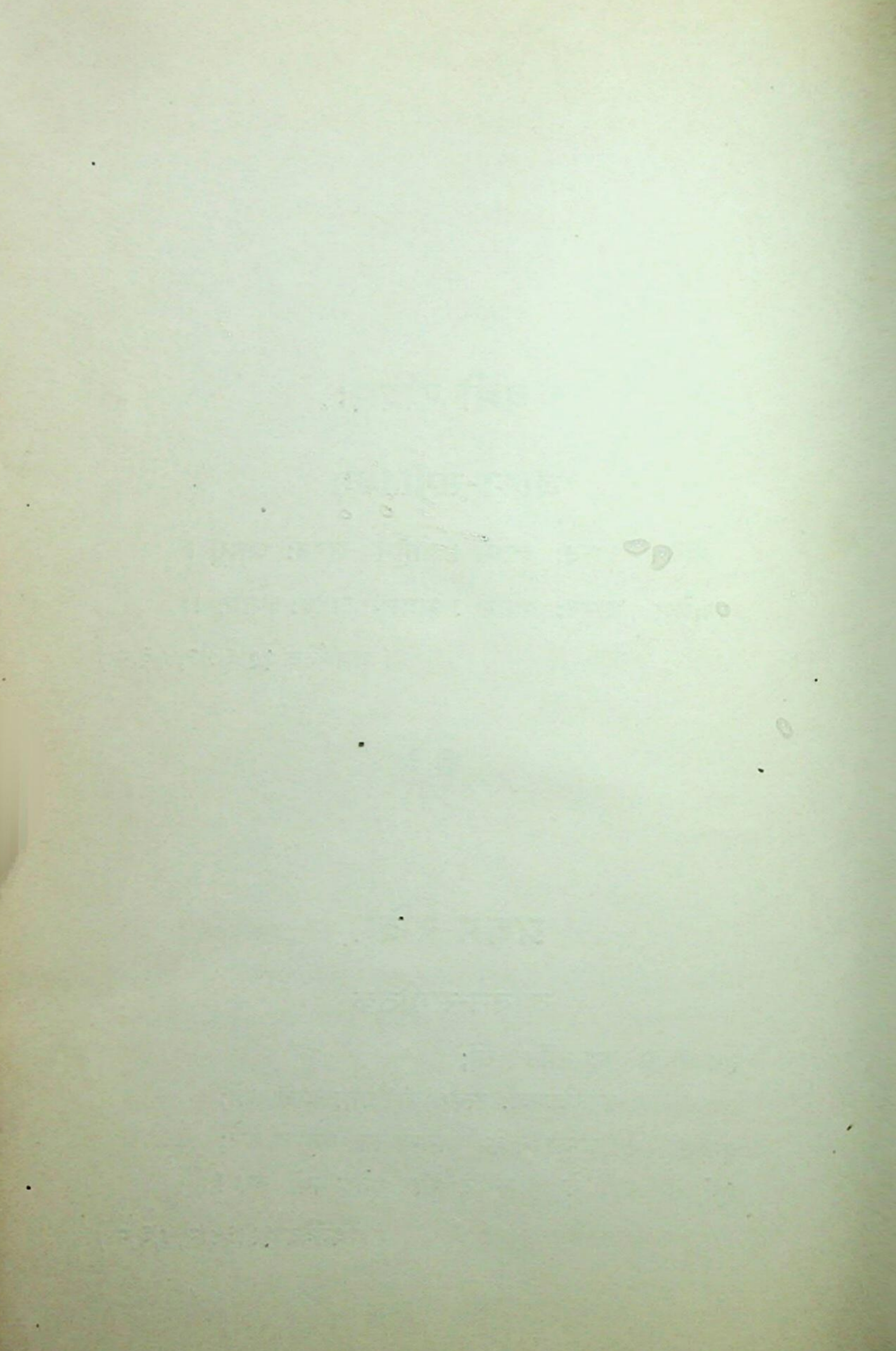


प्रथम रश्मि

जीवन-संगीतक

हम सौ वर्ष तक जीवित रहें;
हम सौ वर्ष तक क्रमशः उत्कर्ष को प्राप्त करते रहें;
हम सौ वर्ष तक जीवन के आनन्द का अनुभव करें;
एवं सौ वर्षों के अनन्तर भी अनेक वर्षों तक !

(अथर्ववेद १६।६७।२,४,६,८)



जीवन - ज्योतिः

दिव्यं यत्परमं धाम
ज्योतीरूपं सनातनम् ।
तन्म आविर्भवत्सद्यस्
तमो हार्दं विनाशयेत् ॥

जो दिव्य ज्योतिःस्वरूप सनातन परम धाम है,
वह मेरे लिए आविर्भूत होता हुआ सद्यः
मेरे हृदय के अज्ञान को विनष्ट कर दे !

ग्रन्थ का उपक्रम

प्रारम्भ के आठ पद्यों में ग्रन्थ के उपक्रम तथा प्रतिपाद्य विषय का संक्षेप में निर्देश किया जाता है—

कदाचिन्मानुषं वृत्तं द्रष्टुकामावुपस्थितौ ।
नरनारायणौ दिव्यौ भूमण्डलमिदं महत् ॥ १ ॥
देशाद् देशान्तरे नानाधर्माणामनुवर्तिनीः ।
प्रजास्तासां प्रवृत्तीश्च दृष्ट्वा विस्मयमागतौ ॥ २ ॥
परस्परं विवादेन मानवान् दुःखकातरान् ।
सांमनस्येन रहितान् सौमनस्येन वा पुनः ॥ ३ ॥

निराशाराक्षसीग्रस्तानवसादेन पीडितान् ।
चारित्र्येण विहीनांश्च सत्यभावनया तथा ॥ ४ ॥

उत्तरोत्तरमुत्कर्षप्राप्तये जीवनं हि यत् ।
अपि तद् भाररूपेण मन्यमानानवज्ञया ॥ ५ ॥

दुःखं दुःखमिदं सर्वमिति बुद्धया विमोहितान् ।
सदादर्शप्रकाशस्याभावे मोहतमोमयान् ॥ ६ ॥

दर्शं दर्शं महाखेदमनुभूय दयान्वितौ ।
सुमेरोर्महतः शृङ्गं दिव्यशोभासमन्वितम् ॥ ७ ॥

अवाप्य जगदुद्धारचिन्तनं तौ प्रचक्रतुः ।
दिव्यसंदेशरूपेण तदेवात्र निबध्यते ॥ ८ ॥

कभी मनुष्यों के वृत्त को देखने की इच्छा से दिव्य नर और नारायण इस विशाल भूमण्डल में उपस्थित हुए ।

देश-देशान्तर में विभिन्न धर्मों का अनुसरण करनेवाली प्रजाओं और उनकी प्रवृत्तियों को देखकर उनको आश्चर्य हुआ ।

उन्होंने देखा कि मनुष्य परस्पर के विवाद के कारण दुःख से खिन्न हैं । पारस्परिक सद्भावना तथा सौहार्द की भावनाओं से रहित हैं । निराशारूपी राक्षसी से ग्रस्त और अवसाद से पीडित हैं । चारित्र्य और सत्य की भावना से हीन हैं । इस मनुष्य-जीवन के भी, जो उत्तरोत्तर उत्कर्ष की प्राप्ति के लिए मिला है, महत्त्व को न समझते हुए, उसको केवल भार-रूप ही मान रहे हैं । 'यह संसार केवल दुःखरूप हैं'—इस प्रकार के विचार से विमोहित हैं और मनुष्य-जीवन के वास्तविक आदर्शों के प्रकाश के अभाव में अज्ञानान्धकार से ग्रस्त हैं ।

यह सब कुछ देखकर उनको बड़ा खेद हुआ । साथ ही उनके हृदय में दया का भाव उत्पन्न हुआ । वे दोनों दिव्य शोभा से समन्वित महान् सुमेरु पर्वत के शिखर पर चले गये और वहाँ पहुँचकर 'जगत् का उद्धार कैसे हो सकता है ?' —इस विषय का चिन्तन करने लगे ।

दिव्य संदेश के रूपमें उसी चिन्तन का प्रतिपादन इस ग्रन्थ में किया जाता है—

जीवन-संगीतक

नर उवाच

भगवन् ! जीवनविषये येयमवज्ञा प्रवर्तते परितः ।
तस्या यथापनोदः सद्यः संजायते नूनम् ॥ ९ ॥
दिव्यं तं संदेशं जीवनसंगीतरूपेण ।
ब्रूहि मां येन लोकः सर्वः कल्याणभाग् भवति ॥१०॥

नर ने कहा—

भगवन् ! मनुष्य-जीवन के विषय में यह जो अवज्ञा की भावना सर्वत्र फैली हुई है, उसको निश्चय रूप से जल्दी से जल्दी जिस प्रकार दूर किया जा सकता है उस दिव्य संदेश को, जीवन के संगीत के रूप में, आप मुझे बतलाइए, जिससे सारे जगत् का कल्याण हो ।

नारायण उवाच

धन्योऽसि वत्स ! येनेयं जिज्ञासाद्य तवोदिता ।
तस्याः संदेशरूपेण समाधानमिहोच्यते ॥११॥
विद्धीमं संदेशं जीवनसंगीतरूपेण ।
श्रावय लोकान् परित आशाज्योतिःप्रसाराय ॥१२॥

श्रीनारायण ने कहा—

अयि वत्स ! तुम धन्य हो, जो तुम्हारे मन में आज यह जिज्ञासा उदित हुई है । जीवन-संदेश के रूप में उसका समाधान हम यहाँ करते हैं ।

तुम इस संदेश को जीवन के संगीत के रूप में समझो । इस को सब ओर लोगों को सुनाओ, जिससे आशावाद की ज्योति का प्रकाश सर्वत्र फैल जाये ।

[१]

आशा सर्वोत्कृष्ट प्रकाश है

"अस्माकं सन्त्वाशिषः सत्या नः सन्त्वाशिषः ।"

(यजुर्वेद २।१०)

अर्थात्, हम आशावादी बनें । हमारी आशाएँ सफल हों !

भारतीय विचारधारा में इधर चिरकाल से 'संसार असार और मिथ्या है', 'जीवन दुःखमय और क्षण-भंगुर है' इस प्रकार की निराशावाद की भावनाओं का साम्राज्य रहा है । हमारी जाति और राष्ट्र के जीवन को शक्तिहीन, उत्साहहीन और आदर्शहीन बनाने में निराशावाद का बहुत बड़ा हाथ रहा है, यह कौन नहीं जानता ?

पर भारतीय संस्कृति की सूत्रात्मा में आशावाद सदा से ओत-प्रोत रहा है । वैदिक वाङ्मय आशावाद की प्राण-प्रद भावनाओं से आद्योपान्त परिपूर्ण है, यह हमने प्रायः चिरकाल से भुला दिया है । उसी आशावाद की महिमा का वर्णन नीचे किया जाता है :—

निराशायाः समं पापं मानवस्य न विद्यते ।
समुत्सार्य समूलं तामाशावादपरो भव ।।१३।।

मनुष्य के लिए निराशा के समान दूसरा पाप नहीं है । इसलिए तुम्हें उस पाप-रूपिणी निराशा को निर्मूल हटाकर आशावादी बनना चाहिए ।

मानवस्योन्नतिः सर्वा साफल्यं जीवनस्य च ।
चारितार्थ्यं तथा सृष्टेराशावादे प्रतिष्ठितम् ॥१४॥

मनुष्य की सारी उन्नति, जीवन की सफलता और सृष्टि की चरितार्थता आशावाद में ही प्रतिष्ठित हैं ।

आशा सर्वोत्तमं ज्योतिर्निराशा परमं तमः ।
तस्माद् गमय तज्ज्योतिस्तमसो मामिति श्रुतिः ॥१५॥

आशा सर्वोत्कृष्ट प्रकाश है । निराशा घोर अन्धकार है । इसीलिए "भगवन् ! मुझको अन्धकार से प्रकाश की ओर ले चलिए" ऐसा श्रुति का वचन है ।[1]

आस्तिक्यमात्मविश्वासः कारुण्यं सत्यनिष्ठता ।
उत्तरोत्तरमुत्कर्षो नूनमाशावतामिह ॥१६॥

आस्तिकता (जीवन में आदर्श-भावना), आत्मविश्वास, कारुण्य, सत्यनिष्ठता और उत्तरोत्तर समुन्नति—संसार में इनका सद्भाव आशावादियों में ही हो सकता है ।

निराशावादिनो मन्दा निष्ठुराः संशयालवः ।
अन्धे तमसि मग्नास्ते श्रुतावात्महनो मताः ॥१७॥

निराशावादी लोग स्वभाव से ही मन्द (उदात्त भावनाओं से विहीन), निष्ठुर (असंवेदनशील) और संशयालु होते हैं । वेद में[2] ऐसे ही लोगों को किसी भी प्रकार की प्रेरणा से विहीन अज्ञानान्धकार में निमग्न, तथा आत्मविस्मृति-रूप आत्महत्या करने वाला कहा गया है ।

---

१. तु० "तमसो मा ज्योतिर्गमय" (बृहदारण्यकोपनिषद् १।३।२८) ।

२. तु० "असुर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसावृताः ।
तांस्ते प्रेत्यापि गच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः ॥" (यजुर्वेद ४०।३)

अर्थात्, आत्मत्व या आत्मचेतना की विस्मृति-रूप आत्महत्या (अर्थात् जीवन में आदर्श-भावना का अभाव), न केवल व्यक्तियों के लिए, किन्तु जातियों और राष्ट्रों के लिए भी, किसी भी प्रकार की प्रेरणा से विहीन अज्ञानान्धकार में गिराकर, सर्वनाश का हेतु होती है ।

[२]

जीवन का रहस्य

"भद्रादधि श्रेयः प्रेहि" (अथर्ववेद ७।८।१)

अर्थात्, तुम भद्र से भद्रतर जीवन को प्राप्त करो !

'जीवन निःसार और मिथ्या है', 'जीवन बन्ध या कारागार के समान है और उससे छुटकारा (मोक्ष) पाना ही हमारा परम कर्तव्य है' ऐसी अनार्य और मिथ्या भावनाओं ने हमारे जातीय जीवन को चिरकाल से अकर्मण्य और अवसाद-मय बना रखा है। इसके कारण ही, जेल के .क़ैदी के समान, हम न केवल अपने ही, किन्तु जाति, राष्ट्र या मानव के विकास और समुत्थान से भी प्रायः उदासीन रहे हैं।

परन्तु नीचे के पद्यों में जीवन के विषय में एक दूसरी ही दृष्टि का प्रतिपादन किया गया है, जिसको वास्तव में वैदिक दृष्टि कहना चाहिए। उसके अनुसार जीवन मिथ्या होने के स्थान में परमात्मा का एक महान् प्रसाद है। इस अनन्तानन्त ब्रह्माण्ड में अनन्त विकास और समुन्नति का साधन जीवन ही है। वास्तव में तो हमारा जीवन शाश्वत है; हमारा यह जीवन उसी शाश्वत अनन्त जीवन की प्राप्ति का एक अनिवार्य और अमूल्य साधन है। इसीलिए इसमें आस्था की अनिवार्य रूप से आवश्यकता है। देखिए—

> जीवनं परमोत्कृष्टः प्रसादो जगतीपतेः।
> तस्य तत्त्वं रहस्यं च ये विदुस्ते मनीषिणः ॥१८॥

जीवन जगदीश्वर का सर्वोत्कृष्ट प्रसाद है। मनीषी लोग ही उसके वास्तविक स्वरूप और रहस्य को समझते हैं।

> जीवनस्य भयं मृत्योर्मरणान्तं च जीवितम्।
> आ जन्मनः क्रमेणायुर्ह्रासो मृत्युपथानुगः ॥ १९॥
> इत्येवं नैकधानर्थमूलं मिथ्यामतिर्नृणाम्।
> जीवनास्थाविहीनाँस्तान् विदधाति भयार्दितान् ॥२०॥

'जीवन को मृत्यु का भय है', 'मृत्यु-पर्यन्त ही जीवन है', तथा 'जन्म से ही आयु घटने लगती है और बराबर मृत्यु के पास पहुँचती जाती है'

इस प्रकार के अनेकानेक, अनर्थ के मूल, परम्परागत मिथ्या-विचार मनुष्यों को जीवन में आस्था से रहित और भय से व्याकुल बनाते हैं।[1]

निराशावादिनो मन्दा मोहावर्तेऽत्र दुस्तरे।
निमग्ना अवसीदन्ति पङ्के गावो यथावशाः ॥२१॥

प्रगति की भावना से विहीन निराशावादी लोग मोह के दुस्तर भँवर में पड़े हुए, दलदल में फँसी बेबस गौओं के समान, दुःख पाते हैं।

तेषामेवानुकम्पार्थमभिधत्तेऽसकृच्छ्रुतिः ।
"कुर्वन्नेवेह कर्माणि"[2] "जीवा ज्योतिरशीमहि"[3] ॥२२॥

उनके प्रति अनुकम्पा के भाव से ही वेद में "मनुष्य को सौ वर्ष तक कर्म करते हुए ही जीने की इच्छा करनी चाहिए", "हम बराबर प्रकाशमय आशामय जीवन को प्राप्त करें" इस प्रकार बार-बार कहा गया है।

कर्मैव जीवनं तस्माद्, विकासस्तस्य भास्वरः।
उत्तरोत्तरलोकेषु कर्तव्यत्वेन मन्यताम् ॥२३॥

इसलिए कर्म का ही नाम जीवन है। उत्तरोत्तर लोकों अथवा अवस्थाओं में उसके प्रकाशमान विकास को ही हमें अपना ध्येय समझना चाहिए।

---

१. तु० "मरणं प्रकृतिः शरीरिणां विकृतिर्जीवनमुच्यते बुधैः" (रघुवंश ८।८७)। तथा "संसारः स्वप्नमात्रोऽयं चलाः प्राणा धनं तथा। सुखं तत्र न पश्यामि दुःखं तत्र दिने दिने।" अर्थात् मनुष्य के लिए मृत्यु स्वाभाविक और जीवन अस्वाभाविक है। एवं, संसार स्वप्न मात्र हैं। प्राण और धन चलायमान हैं। संसार में सुख के स्थान में बराबर दुःख ही दुःख दीख पड़ता है। तु० "मरणान्तं च जीवितम्" (दिव्यावदान में पूर्णावदान)।

२. दे० "कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतँ समाः" (यजुर्वेद ४०।२)।

३. दे० "जीवा ज्योतिरशीमहि" (ऋग्वेद ७।३२।२६)।

उत्तरोत्तरमुत्कर्षि जीवनं शाश्वतं हि नः।
अस्पृष्टं तमसा चापि मोहरूपेण सर्वथा ॥२४॥

वास्तव में हमारा जीवन उत्तरोत्तर समुन्नतिशील और शाश्वत (सदा रहने वाला) है। उसका स्वरूप अज्ञान-रूपी अन्धकार से सर्वथा अस्पृष्ट है।



जीवन के स्वरूप को बतलाकर, जीवन-यात्रा में समुन्नतिशील व्यक्ति की भावना किस प्रकार की होनी चाहिए—इसका प्रतिपादन नीचे की रचनाओं में किया गया है—

[३]

जीवन के लिए बराबर यत्न करो

"भद्रं जीवन्तो जरणामशीमहि"

(ऋग्वेद १०।३७।६)।

अर्थात्, हम कल्याणमय जीवन का अनुसरण करते हुए वृद्धावस्था को प्राप्त हों!

प्राप्य मानवीयजन्म पुण्यकर्मसंचयेन।
दीनदुःखिरक्षणेन संयतस्व जीवनाय। २५॥

मनुष्य-जन्म को पाकर, पवित्र, कर्मों का संचय और दीन-दुःखियों की रक्षा-सेवा करते हुए, जीने का यत्न करो!

सत्यथानुवर्तनेन भव्यभावभावनेन।
लोकशंप्रसारणेन संयतस्व जीवनाय ॥२६॥

सदाचार के मार्ग पर चलते हुए, सुन्दर-समुन्नत विचारों को रखते हुए और लोक-कल्याण का प्रसार करते हुए, जीने का यत्न करो!

दैन्यभावभञ्जनेन धैर्यधर्मधारणेन।
वीरतासमाश्रयेण संयतस्व जीवनाय ॥२७॥

दीनता के भाव का भञ्जन करते हुए, धैर्य-रूपी धर्म को धारण करते हुए, वीरता-पूर्वक जीने का यत्न करो !

जीवनं त्विदं मृषेति पामरा जना वदन्ति ।
नैव तत्तथा, ततोऽत्र संयतस्व जीवनाय ॥२८॥

यह जीवन मिथ्या है, ऐसा मूर्ख-पामर लोग कहते हैं। पर वास्तव में जीवन मिथ्या नहीं है । इसलिए इस संसार में जीने का यत्न करो !

[४]

संसार में जय किन लोगों की होती है ?

"मह्यं नमन्तां प्रदिशश्चतस्रः"

(ऋग्वेद १०।१२८।१)

अर्थात्, मेरे लिए सब दिशाएँ झुक जाएँ। अर्थात् जीवन की प्रत्येक दिशा में मैं सफलता और विजय प्राप्त करूँ !

"आ नो भद्राः क्रतवो यन्तु विश्वतः"

(यजुर्वेद २५।१४)

अर्थात्, हमें सब ओर से कल्याणकारी विचार प्राप्त हों !

परोपकारतत्पराः स्वदेशभक्तिवत्सलाः ।
अमानिनस्तथापि ये जयन्ति ते जना भुवि ॥ २९ ॥

परोपकार-परायण और अपने देश की भक्ति में तत्पर होते हुए भी जो अभिमान से रहित होते है, संसार में उन्हीं की जय होती है ।

उदात्तकर्मशालिनो न दैन्यभावधारिणः ।
तथापि सन्ति प्रश्रिता जयन्ति ते जना भुवि ॥ ३० ॥

उदात्त कर्मों को करनेवाले और दीनता के भाव से दूर रहने वाले होते हुए भी जो नम्र होते हैं, संसार में उन्हीं की जय होती है ।

विहातुमुद्यता मुदा परार्थमात्मनो हितम्।
विशुद्धसत्त्वशालिनो जयन्ति ते जना भुवि॥ ३१॥

जो विशुद्ध उदात्त चरित्र वाले व्यक्ति दूसरों के निमित्त अपने हित को प्रसन्नता-पूर्वक छोड़ने के लिए उद्यत रहते है, संसार में उन्हीं की जय होती है।

विसृष्टकीर्तिकामनाः स्वधर्मपालने रताः।
तथाप्यहो! यशस्विनो जयन्ति ते जना भुवि॥ ३२॥

अहो! कीर्ति की कामना को छोड़ कर स्वधर्म के पालन में तत्पर होते हुए भी जो यशस्वी होते हैं, संसार में उन्हीं की जय होती है।

विरागमूर्त्तयोऽपि नित्यमार्त्तदुःखदुःखिनः।
सुखेन ये न शेरते जयन्ति ते जना भुवि॥ ३३॥

स्वयं वैराग्य की मूर्ति होते हुए भी जो आर्त जनों के दुःख से दुःखी होने के कारण कभी सुख की नींद नहीं सो पाते हैं, संसार में उन्हीं की जय होती है।

अमायिनो दृढव्रतास्तपस्विनो जितेन्द्रियाः।
सदाशया महाशया जयन्ति ते जना भुवि॥ ३४॥

जो छल-कपट से रहित, दृढव्रत, तपस्वी, जितेन्द्रिय और शुभ तथा उच्च विचारों वाले होते हैं, संसार में उन्हीं की जय होती है।

[५]

गन्तव्य महान् शिखर

"कृधी न ऊर्ध्वाञ्चरथाय जीवसे"

(ऋग्वेद १।३३।१४)

अर्थात् भगवान्! हमें उद्योगशील जीवन के लिए समुन्नत कीजिए।

जैसे धीरवीर मनुष्य पर्वतों के महान् शिखरों पर चढ़ जाते हैं, वैसे ही मनुष्य को अपने जीवन में समुन्नति के शिखर तक पहुँचने के लिए प्रयत्न करना चाहिए। यह सफलता महाशक्तिरूपी परमात्मा की सहायता से ही प्राप्त हो सकती है। इसी विषय का प्रतिपादन नीचे के पद्यों में किया गया है—

जीवनेऽस्मिन् मनुष्येण स्वाभीष्टशिखरं महत् ।
गन्तव्यं विद्यते, कृत्वा सर्वा बाधा अधस्पदम् ॥ ३५ ॥

प्रत्येक मनुष्य को अपने जीवन में—समस्त बाधाओं को पैरोंतले रौंदते हुए अपने अभीष्ट आदर्श-रूपी महान् शिखर पर पहुँचना ही है—ऐसा विचार रखना चाहिए ।

नीचे जीवन के स्वाभीष्ट शिखर पर पहुँचने के उपाय का वर्णन करते हैं—

येयं भगवती शक्तिर् लोकान् संव्याप्य तिष्ठति ।
सिद्धिरूपेण तां नित्यमाश्रयेत् शिखरं गमी ॥ ३६ ॥

समस्त लोक-लोकान्तरों में व्याप्त होकर उनका नियन्त्रण करने वाली निश्चय ही एक महती शक्ति है । सब प्रकार की सिद्धि की वही अधिष्ठातृ-देवता है । जो अपने जीवन के अभीष्ट शिखर पर (या आदर्श तक) पहुँचना चाहता है उसे उसी भगवती शक्ति का सिद्धि के रूप में आश्रय लेना चाहिए ।

तस्या एव प्रभावेण महिम्ना च महीयते ।
प्रत्यूहराक्षसान् हत्वा मानवोऽत्र न संशयः ॥ ३७ ॥

उसी भगवती महाशक्ति के प्रभाव और महिमा से मनुष्य स्वकीय अभीष्ट की सिद्धि में बाधक विघ्न-रूपी राक्षसों का हनन करके निस्सन्देह महत्त्व को प्राप्त कर सकता है ।

नीचे प्रतीकात्मक शैली से उस भगवती महाशक्ति के स्वरूप और स्वभाव का वर्णन करते हैं—

सिंहारूढा त्रिनेत्रा च धनुर्बाणधरा शुभा ।
सुप्रसन्ना महाविद्या या तां देवीं नमाम्यहम् ॥ ३८ ॥

मैं उस महाशक्ति देवी को प्रणाम करता हूँ जो सिंहारूढा है (अर्थात्, महाभयंकर बाधाओं पर विजय प्राप्त करने वाली है), जो त्रिनेत्रा है (अर्थात्, अलौकिक दिव्य दृष्टि से युक्त है), जो धनुष् और बाण को धारण करने वाली है (अर्थात्, सर्वदा जागरूक और संनद्ध रहने वाली है), जो कल्याण करने वाली और सदा प्रसन्न रहनेवाली है (अर्थात्, धनुर्बाणधरा होने पर भी उसमें क्रूरता और क्रोध नहीं हैं) और जो महाविद्या है । अभिप्राय यही है कि समस्त विश्व की संचालिका महाशक्ति को इस प्रकार मूर्तरूप में सदा

अपना सहायक समझते हुए मनुष्य को पूर्ण अध्यवसाय और विश्वास से अपने उच्च आदर्शों की प्राप्ति के लिए सदा प्रयत्नशील रहना चाहिए।

जीवन का दूसरा नाम संघर्ष है। अपने आदर्शों की प्राप्ति में मनुष्य को अनेक प्रकार के, बाह्य तथा आभ्यन्तर, शत्रुओं या बाधक शक्तियों का प्रतिरोध करना पड़ता है। इसी दृष्टि से उपर्युक्त सिद्धिदात्री भगवती शक्तिदेवी की प्रार्थना नीचे दी जाती है—

ऋषभं मा समानानां सपत्नानां भयङ्करम्।
हन्तारं कुरु शत्रूणां[1] देवि! दारिद्र्यनाशिनि!॥ ३९॥

सब प्रकार के दारिद्र्य या अपूर्णता को नाश करने वाली हे भगवति शक्तिदेवि! मैं अपनी अपूर्णताओं को दूर करके पूर्णता की ओर बढ़ने को उत्सुक हूँ। तुम मुझे जो मेरे समान हैं उनमें श्रेष्ठ, जो मेरे प्रतिस्पर्धी हैं उनके लिए भयंकर, जो मेरे बाधक हैं उनके लिए विनाशकारी बनाओ। अर्थात्, अपने अभीष्ट की प्राप्ति में सब प्रकार की बाधाओं को पैरतले कुचलते हुए मैं बराबर आगे ही बढ़ता चलूँ।

ऊपर जिस अर्थ का प्रतिपादन किया है उसका उपसंहार करते हुए कहते हैं—

इत्येवं देवदेवं तं सततमाश्रितो जनः।
उत्तरोत्तरमुत्कर्षं जीवने लभते ध्रुवम्॥ ४०॥

इस प्रकार देवों के देव उस परमात्मा की शरण में रहता हुआ मनुष्य निश्चय ही जीवन में उत्तरोत्तर उत्कर्ष को प्राप्त करता है।

[६]

आत्म-विश्वास का सिद्धान्त

उक्त प्रतिपादन के साथ-साथ, यह भी समझ लेना चाहिए कि जीवन में सब सिद्धियों की प्राप्ति के लिए आत्म-विश्वास ही परम साधन है, ऐसा भी एक पक्ष है। इसी सिद्धान्त का प्रतिपादन नीचे किया गया है—

---

१. तु० "ऋषभं मा समानानां सपत्नानां विषासहिम्।
हन्तारं शत्रूणां कृधि विराजं गोपतिं गवाम्॥ (ऋग्वेद १०।१६६।१)

आत्मा ही आत्मा का बन्धु है

आत्मविश्वास एवात्र सिद्धीनां साधनं महत्।
अयमप्यपर: पक्ष: श्रुत्यादिषु निगद्यते ॥ ४१ ॥
आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मन:।
इत्येवमभियुक्तैर्यो बहुधा प्रतिपाद्यते ॥ ४२ ॥
इन्द्रोऽहं न परा जिग्ये[1] श्रुतिरेतादृशी खलु।
अभिधत्ते तमेवार्थमधस्तात्तत्प्रपञ्च्यते ॥ ४३ ॥

इस संसार में आत्म-विश्वास ही सिद्धियों का परम साधन है—यह दूसरा पक्ष भी श्रुति आदि में कहा गया है।

'आत्मा ही आत्मा का बन्धु है', 'आत्मा ही आत्मा का रिपु है'[2] इस प्रकार उस पक्ष का प्रतिपादन मनीषियों द्वारा प्राय: किया गया है।

"अहमिन्द्रो न परा जिग्ये" (ऋग्० १०।४८।५) (अर्थात् 'मैं इन्द्र हूँ, मैं पराजित नहीं हो सकता') यह श्रुति भी उसी अर्थ का प्रतिपादन करती है।

नीचे इसी की विस्तार से व्याख्या की गयी है—

[७]

मैं ही इन्द्र, मैं ही विश्वकर्मा हूँ

"अहमिन्द्रो न परा जिग्ये" (ऋग्वेद १०।४८।५)

अर्थात्, मैं इन्द्र (अर्थात् शक्ति का केन्द्र) हूँ, मेरा पराजय नहीं हो सकता।

---

१. तु० "अहमिन्द्रो न परा जिग्ये" (ऋग्वेद १०।४८।५)
२. तु० भगवद्गीता ६।५।

आत्मविश्वास ही सारी उन्नति का मूल है—यही बात नीचे की रचना में बतलायी गयी है। साथ ही, हमारी आत्मा के लिए भी 'इन्द्र' शब्द का पयोग होता है, इस विषय का प्रमाण भी नीचे दिखलाया गया है—

इन्द्रोऽहमिन्द्रकर्माहमरातीनां वधोऽस्म्यहम्।
तेषां बाधास्तिरस्कृत्य पदं मूर्ध्नि दधाम्यहम् ॥ ४४ ॥

मैं सर्वैश्वर्यशाली इन्द्र हूँ, मैं इन्द्रकर्मा हूँ। मैं शत्रुओं का विनाशक हूँ। शत्रुओं की बाधाओं को ध्वस्त करके मैं ही उनको आक्रान्त करता हूँ।

ऐश्वर्याणि समग्राणि वर्तन्ते यानि कानिचित्।
वर्त्तेऽधिदेवता तेषां भोक्ता चापि न संशयः ॥ ४५ ॥

जो भी ऐश्वर्य दृष्टिगोचर होते हैं उन सबका अधिष्ठातृ-देवता तथा भोक्ता निस्सन्देह मैं ही हूँ। अर्थात्, समस्त ऐश्वर्यों की प्राप्ति मनुष्य को ही होती है और उनका ऐश्वर्यत्व इसी में है कि मनुष्य उनका उपभोग करता है।

इन्द्रियेष्वस्ति या शक्तिर्याश्च तेषां प्रवृत्तयः।
तासामहमधिष्ठाता स्रष्टा द्रष्टा च वस्तुतः ॥ ४६ ॥

आभ्यन्तर जगत् की दृष्टि से भी मनुष्य के इन्द्रत्व की व्याख्या इस पद्य में की गयी है।

आँख, हस्त-पादादि इन्द्रियों में जो शक्ति विद्यमान है, या जो भी उनकी प्रवृत्तियाँ हैं उन सबका अधिष्ठाता (नियन्त्रण करने वाला), स्रष्टा (=जनक या उद्गम) तथा द्रष्टा (=उपभोक्ता) वास्तव में मैं ही हूँ (अथवा मेरा आत्मा ही है)।

अत एवेन्द्रशब्देन व्युत्पत्तिः क्रियते बुधैः।
इन्द्रियेत्यस्य शब्दस्य शब्दशास्त्रविशारदैः ॥ ४७ ॥

मनुष्य के वास्तविक स्वरूप में (या आत्मा में) ही इन्द्रत्व को मानकर शब्द-शास्त्र-विशारद महामुनि पाणिनि जैसे वैयाकरणों ने 'इन्द्रिय' इस शब्द की व्युत्पत्ति 'इन्द्र' शब्द से की है[१]।

---

१. तु० "इन्द्रियमिन्द्रलिङ्गमिन्द्रदृष्टमिन्द्रसृष्टमिन्द्रजुष्टमिन्द्रदत्तमिति वा" पाणिनि-कृत अष्टाध्यायी ५।२।९३) इस सूत्र द्वारा 'इन्द्र' शब्द से ही 'इन्द्रिय' शब्द बनाया गया है। स्पष्टतः यहाँ 'इन्द्र' शब्द से अभिप्राय जीवात्मा का है।

[८]

मेरे ही अन्तर्यामिन् आत्मन् !

उपर्युक्त आत्म-विश्वास के सिद्धान्त के आधार पर अपने आत्मा को ही लक्ष्य में रखकर की गयी एक प्रार्थना नीचे दी जाती है—

अन्तर्यामिन् ! ममैवात्मन् ! सूर्यकोटिसमप्रभ !
निर्विघ्नं कुरु मे देव ! सर्वकार्येषु सर्वदा ॥ ४८ ॥[1]

करोड़ों सूर्यों की प्रभा के समान प्रभा से युक्त, हे देव-रूप अन्तर्यामिन् ! मेरे ही आत्मन् ! मेरे समस्त कार्यों में आने वाले विघ्नों का सर्वदा वारण कीजिए।

आध्यात्मिक पद्धति की व्याख्या

नर-नारायण के संवाद-रूप इस ग्रन्थ में प्रश्नकर्ता नर और उत्तर देने वाले श्रीनारायण हैं। श्रीनारायण के उत्तर में यत्र-तत्र ऐसे प्रतिपादन मिलते हैं जो उत्तम-पुरुष में कहे गये हैं और इसीलिए किसी साधक के जैसे प्रतीत होते हैं; जैसा कि ऊपर की दो रचनाओं में है। ऐसा क्यों है ? इसी शंका को लेकर यहाँ समाधान किया गया है। समाधान यह है कि शास्त्रों में कहीं-कहीं अध्यात्म-पद्धति अथवा आध्यात्मिकी वृत्ति का आश्रय लेकर भी अर्थ का प्रतिपादन किया जाता है। अभिप्राय यह है कि कभी-कभी प्रथम पुरुष में अन्य व्यक्ति द्वारा कहलायी जाने वाली बात, प्रभावातिशय के उद्देश्य से, उत्तम पुरुष में ही कह दी जाती है। इस ग्रन्थ में भी कहीं कहीं इस पद्धति का अवलम्बन किया गया है। इसी बात को नीचे के पद्यों में कहा गया है—

---

१. इस रचना की विशेष व्याख्या के लिए ग्रन्थकर्ता की 'रश्मिमाला' पुस्तक में सातवीं रचना की अवतरणिका को देखिए। इसी सम्बन्ध में 'विवेकचूडामणि' (३८९) को भी देखिए—"स्वयं ब्रह्मा स्वयं विष्णुः स्वयमिन्द्रः स्वयं शिवः। स्वयं विश्वमिदं सर्वं स्वस्मादन्यन्न किंचन ॥"

आध्यात्मिकीं समाश्रित्य वृत्तिमस्मद्युतां खलु।
इह संगीतमुद्गीतं सर्वलोकहितावहम् ॥ ४९ ॥
अध्यात्मपद्धतिरियमस्मच्छब्देन संयुता।
समाश्रितेह चान्यत्र भवेद् रुच्यै विशेषतः ॥ ५० ॥[1]

यहाँ (अर्थात् उक्त दो रचनाओं में) आध्यात्मिकी वृत्ति का आश्रय लेकर उत्तम पुरुष में ('अहम्', 'मम' या 'मे' शब्दों के साथ) सबका हित करने वाले संगीत का गान किया गया है।

'अस्मद्' शब्द से युक्त यह अध्यात्म-पद्धति, जिसका यहाँ तथा इस ग्रन्थ में अन्यत्र भी आश्रय लिया गया है, विशेष रूप से पाठकों के लिए रुचि-प्रद हो, ऐसा ग्रन्थकर्ता का अभिप्राय है।

गौणी वृत्ति से आत्मा में इन्द्रत्व की भावना

तदेवमभिधावृत्त्या हीन्द्र आत्मेति मन्यते।
अधस्ताद् धर्मसामान्यात्तयोः साम्यमिति स्थितिः ॥ ५१ ॥

ऊपर ७ वीं संख्या की रचना में 'इन्द्र' और 'आत्मा' को अभिधा-वृत्ति से पर्यायवाची माना गया है। परन्तु नीचे की रचना में परस्पर गुणों की समानता के आधार पर इन्द्र और आत्मा में साम्य मान लिया गया है।

[९]

ऐन्द्री शक्ति का विकास

दिवसे दिवसेऽवस्थाः प्रतिकूला उपस्थिताः।
सर्वस्यापि जनस्येह जायन्ते नात्र संशयः ॥ ५२ ॥

---

१. यास्काचार्य के निरुक्त (७।१,२) में परोक्षकृत, प्रत्यक्षकृत और आध्यात्मिकी इन तीन प्रकार की ऋचायें बतलायी हैं। इन में से आध्यात्मिकी ऋचायें वे होती हैं जिनमें स्वयं देवता की ओर से उत्तम पुरुष (जैसे 'मैं') में कोई बात कही जाती है। जैसे ऋग्वेद (१०।१२५) में "अहं राष्ट्री संगमनी वसूनाम्" (ऋग्वेद १०।१२५।३) इत्यादि मन्त्रों में स्वयं वाग्देवता 'मैं' कहकर अपना वर्णन करती है।

दृष्ट्वानिवार्यतामेतां लोकस्यास्य मनस्विनः।
सर्वबाधाप्रसहने समर्था आसते सदा ॥ ५३ ॥
सैषा समर्थता नूनं सर्वथाप्यनपायिनी।
उपायः सर्वसिद्धीनां प्रथमं लक्षणं तथा ॥ ५४ ॥
अनेनैव प्रकारेण प्रत्येकं मानुषे स्वतः।
ऐन्द्र्याः शक्तेः समुत्पत्तिर्विकासश्चापि जायते ॥ ५५ ॥
वृत्ररूपेण मन्यन्तामन्तरायाः समुन्नतेः।
तेषामुन्मूलनं कर्तुमैन्द्री शक्तिरपेक्ष्यते ॥ ५६ ॥
सेयं शक्तिः स्वभावेन सर्वस्यात्मनि तिष्ठति।
आविर्भावः पुनस्तस्या अन्तरायानपेक्षते ॥ ५७ ॥
रहस्यं परमं ह्येतदाख्यानस्येन्द्रवृत्रयोः।
जानन्ति चानुवर्त्तन्त आत्मतत्त्वविचक्षणाः ॥ ५८ ॥
स्वागतं कथ्यतां तस्मात्प्रतिकूलाः परिस्थितीः।
निमित्तीकृत्य ता यस्मादिन्द्रत्वं लभ्यते जनैः ॥ ५९ ॥

इसमें सन्देह नहीं है कि सब किसी के सामने दिन प्रतिदिन प्रतिकूल अवस्थाएँ उपस्थित होती रहती हैं।

मनस्वी लोग संसार की इस अनिवार्य स्थिति को देखकर सदा सब बाधाओं को सहने के लिए समर्थ रहते हैं।

अपने स्वरूप को सर्वथा सुरक्षित रखनेवाली यही समर्थता निश्चय रूप से सब सिद्धियों का उपाय तथा प्रथम लक्षण दोनों हैं।

इसी प्रकार से प्रत्येक मनुष्य में ऐन्द्री शक्ति की स्वतः उत्पत्ति और विकास होता है।

उन्नति के मार्ग में जो विघ्न उपस्थित होते हैं उनको वृत्र-रूप में मानना चाहिए। उनका उन्मूलन करने के लिए ऐन्द्री शक्ति की अपेक्षा की जाती है।

सो यह ऐन्द्री शक्ति स्वभावतः सब की आत्मा में रहती है। परन्तु उसका आविर्भाव अन्तरायों अर्थात् उन्नति के मार्ग में आनेवाले विघ्नों की अपेक्षा करता है।

इन्द्र और वृत्र के आख्यान का यही परम रहस्य है। जो आत्मतत्त्व में विचक्षण हैं वे उक्त रहस्य को जानते और उसका अनुसरण भी करते हैं।

इसलिए प्रतिकूल परिस्थितियों का स्वागत करना चाहिए। क्योंकि उनको निमित्त करके ही मनुष्यों द्वारा इन्द्रत्व की प्राप्ति की जाती है।

[१०]

सत्त्व-संपन्न महान् पुरुष

"अहमस्मि सहमान उत्तरो नाम भूम्याम्"

(अथर्ववेद १२।१।५४)

अर्थात, संसार में विरोधी शक्तियों पर विजय प्राप्त कर मैं उत्कृष्ट पद को प्राप्त करने वाला हूँ।

महतामथ क्षुद्राणामन्तराय उपस्थिते।
कृशानौ कनकस्येव परीक्षा जायते ध्रुवम् ॥ ६० ॥

अग्नि में जैसे (अच्छे बुरे या खरे खोटे) स्वर्ण की परीक्षा हो जाती है, इसी प्रकार विघ्न या बाधा के उपस्थित होने पर निश्चय ही महान् और क्षुद्र लोगों की परीक्षा हो जाती है।

वातेरिताः प्रकम्पन्ते वृक्षा एव, न पर्वताः।[१]
आपत्तिसमये वृत्तं क्षुद्राणां महतां तथा ॥ ६१ ॥

तेज वायु या आँधी के चलने पर वृक्ष ही काँपने लगते हैं, पर्वत नहीं। आपत्ति के आने पर क्षुद्र और महान् लोगों की ऐसी ही दशा होती है। अर्थात् आपत्ति के समय क्षुद्र लोग घबड़ा जाते हैं, पर महान् पुरुष अविचल ही रहते हैं।

---

१. तु० "द्रुमसानुमतां किमन्तरं यदि वायौ द्वितयेऽपि चञ्चलाः" (रघुवंश ८।९०)

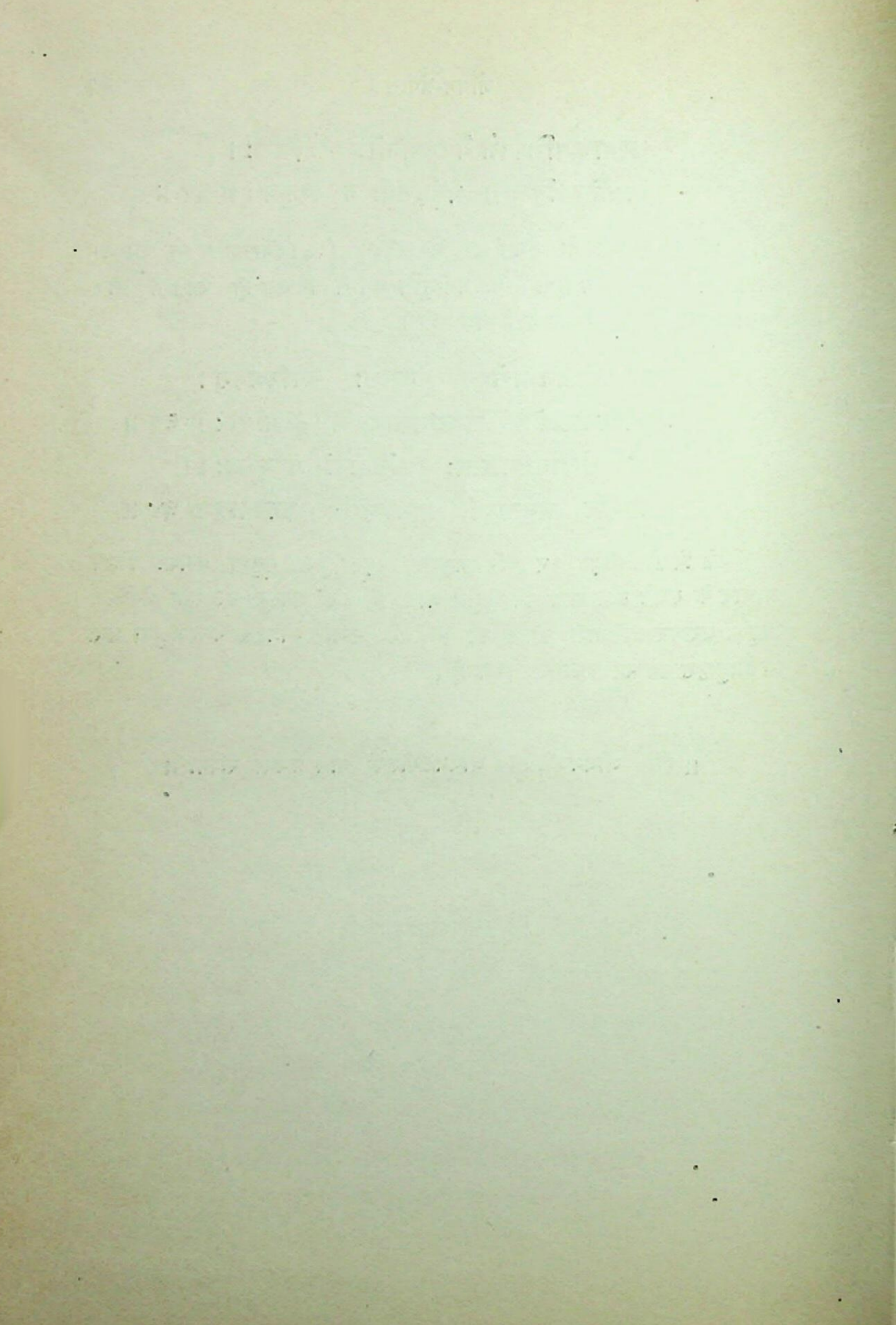
तस्मादापत्तिकाले ये महान्तोऽन्तरवेक्षिणः।
तिष्ठन्ति निश्चला धैर्यमूर्त्तयो न विकुर्वते ॥ ६२ ॥

इसलिए आपत्ति के समय जो अन्तरवेक्षी (=विचारशील या आत्म-परीक्षक) महान् पुरुष होते हैं वे धैर्य-मूर्त्ति रूप से निश्चल ही रहते हैं और किसी प्रकार के विकार को नहीं प्राप्त होते।

यथा सोपानमारोहन् क्रमशः सपरिश्रमम्।
प्रासादस्योत्तमं खण्डमासादयति मानवः ॥ ६३ ॥
तथा सोपानरूपास्ताः संकटानां परम्पराः।
समाक्रम्य समुत्कृष्टं पदमाप्नोति सत्त्ववान् ॥ ६४ ॥

जैसे किसी सीढ़ी पर परिश्रमपूर्वक चढ़ता हुआ मनुष्य क्रमशः किसी प्रासाद के सबसे ऊँचे खण्ड पर पहुँच जाता है, इसी प्रकार उत्साही धैर्यशील मनुष्य बराबर आनेवाले संकटों को सीढ़ी के समान आक्रान्त करता हुआ अन्त में अत्युत्कृष्ट पद को प्राप्त कर लेता है।

॥ इति जीवनज्योतिषि जीवनसंगीतकं नाम प्रथमो रश्मिः ॥



द्वितीयो रश्मिः

दुःख-मीमांसा

यत्रानन्दाश्च मोदाश्च मुदः प्रमुद आसते ।
कामस्य यत्राप्ताः कामास्तत्र माममृतं कृधि... ॥
(ऋग्वेद ९।११३।११)

मा भेः, मा संविक्थाः ।
(यजुर्वेद १।२३)

भद्रा इन्द्रस्य रातयः ।
(सामवेद, उ० ५।२।१४)



द्वितीय रश्मि

दुःख - मीमांसा

...हे देव ! मुझे उस स्थिति में अमृतत्व प्रदान कीजिए जहाँ आनन्द, आमोद, प्रीति और प्रसन्नता विद्यमान हैं ! और जहाँ जीवन के अभीष्ट लक्ष्य भी प्राप्त हों ! (ऋग्वेद ९।११३।११)

न तो तुम भय का अनुभव करो, न उद्विग्नता को प्राप्त होओ !
(यजुर्वेद १।२३)

परमैश्वर्यशाली भगवान् के प्रदान कल्याणमय हैं ।
(सामवेद, उ० ५।२।१४)

दुःख-मीमांसा

नर उवाच

श्रुत्वा जीवनविषय उपदेशमलौकिकं नूनम् ।
कामप्यन्तःस्फूर्तिं दिव्यामनुभवाम्यहं भगवन् ! ॥ १ ॥
परं 'जीवनमुत्कृष्टः प्रसादो जगतीपतेः' ।
सत्यमेतत्तदा कस्माद् बन्धस्तदिति कथ्यते ॥ २ ॥
'दुःखमेवास्ति न सुखं' 'दुःखं सर्वं विवेकिनः' ।
'संसारः स्वप्नमात्रोऽयमसारस्तत्त्वदर्शिनः' ॥ ३ ॥
इत्येवं बहुधालापैर्भयमापादितोऽसकृत् ।
जीवनास्थाविहीनोऽयं लोकः प्रायेण दृश्यते ॥ ४ ॥
यस्माद्भयेन सर्वेऽपि समुद्विग्ना दिवानिशम् ।
भगवंस्तस्य दुःखस्य स्वरूपं तत्त्वतो वद ॥ ५ ॥

नर ने कहा

हे भगवन् ! जीवन के विषय में आप के अलौकिक उपदेश को सुन कर मैं किसी दिव्य अन्तःस्फूर्ति का अनुभव कर रहा हूँ ।

पर यहाँ यह शंका उत्पन्न होती है कि 'जीवन जगदीश्वर का उत्कृष्ट प्रसाद है' यदि यह कथन सत्य है, तो उस दशा में 'जीवन बन्ध है' ऐसा क्यों कहा जाता है ?

'जीवन केवल दुःखमय है, उसमें सुख नहीं है', 'विवेकी पुरुष की दृष्टि में सब कुछ दुःख-रूप ही है', 'तत्त्वदर्शी के लिए संसार स्वप्नमात्र और असार है'—

इस प्रकार के अनेकानेक कथनों से लगातार भय को प्राप्त हुआ सब कोई प्रायेण जीवन में आस्था से विहीन दिखाई देता है।

इसलिए हे भगवन्! जिस दुःख के भय से सब कोई दिनरात व्याकुल हैं, उस दुःख के स्वरूप को तात्त्विक दृष्टि से आप बतलाइए।

नारायण उवाच

स्थाने तवैष प्रश्नोऽयं लोककल्याणकारकः।
तस्माद् दुःखस्य मीमांसा तत्त्वतोऽत्र विधीयते ॥ ६ ॥
यस्माद् भयेन विभ्रान्ता लोका उद्विग्नमानसाः।
स्वरूपं तस्य दुःखस्य किंचिदद्य परीक्ष्यते ॥ ७ ॥

श्री नारायण ने कहा

तुम्हारा यह प्रश्न बिलकुल ठीक है और संसार के कल्याण का करने वाला है। इसलिए यहाँ तात्त्विक दृष्टि से दुःख की मीमांसा की जाती है।

जिस दुःख के भय से सब लोग विभ्रान्त और व्याकुल चित्तवाले दिखाई देते हैं आज उस दुःख के स्वरूप की कुछ परीक्षा हम करते हैं।

दुःख के स्वरूप पर विचार

सबसे पहले हम जीवन के सबन्ध में जो वैदिक आदर्श है उनको दिखाना चाहते हैं। जैसे—

जीवेम शरदः शतम्। बुध्येम शरदः शतम्।
रोहेम शरदः शतम्। पूषेम शरदः शतम्।
भवेम शरदः शतम्। भूषेम शरदः शतम्।
भूयसीः शरदः शतात्। (अथर्ववेद १६।६७।२-८)

अर्थात्, हम सौ वर्ष तक जीवें। हम सौ वर्ष तक ज्ञान प्राप्त करें। हम सौ वर्ष तक समुन्नति करें। हम सौ वर्ष तक अपने को पुष्ट करें। हम सौ वर्ष तक जीवन के आनन्द का अनुभव करें। हम सौ वर्ष तक अपने जीवन में सौन्दर्य लाने का यत्न करें। सौ ही वर्ष तक क्यों? उससे अधिक काल के लिए भी!

"यथा नः सर्वमिज्जगदयक्ष्मं सुमना असत् ।" (यजुर्वेद ६।४)

अर्थात्,...जिस प्रकार यह सारा जगत् हमारे लिए व्याधियों से रहित और आनन्दमय हो !

"यत्रानन्दाश्च मोदाश्च मुदः प्रमुद आसते ।
..........................तत्र माममृतं कृधि ॥"
(ऋग्वेद ९।११३।११)

अर्थात्, (हे देव !) मुझे उस स्थिति में अमृतत्व प्रदान कीजिए जहाँ आनन्द, आमोद, प्रीति और प्रसन्नता विद्यमान हैं।

"भद्रा इन्द्रस्य रातयः" (सामवेद, उ० ५।२।१४)

अर्थात्, परमेश्वर्यशाली भगवान् के प्रदान कल्याणमय हैं।

"मा भेः, मा संविक्थाः" (यजुर्वेद १।२३)

अर्थात्, न तो तुम भय-भीत होओ, न उद्विग्नता को प्राप्त होओ !

इसी प्रकार शतशः वैदिक मन्त्रों में जीवन के आदर्श और स्वरूप का वर्णन हमें मिलता है।

तो भी यह आश्चर्य की बात है कि हमारे शास्त्र विभीषिका-रूप ऐसे विचारों से आपूर्ण हैं—'यह संसार दुःखमय है और इसीलिए हेय और असार है', 'जीवन दुःखमय है और इसीलिए कारागार (जेल) के सदृश बन्ध रूप है', 'उस दुःख की निवृत्ति, उससे छुटकारा (या मोक्ष) पाना ही हमारा परम लक्ष्य है', 'विवेकी मनुष्य को सब कुछ दुःख रूप में ही देखना चाहिए'।[1]

उक्त प्रकार के विषाक्त अनार्य विचारों ने जहाँ एक ओर जीवन को नीरस, मंद, उत्साहहीन, नैराश्यपूर्ण और अकर्मण्य बनाने में बड़ा भाग लिया है, वहाँ दूसरी ओर लाखों मनुष्यों में, जीवन-संघर्ष से मुँह छिपाकर, प्रायः अपरिपक्व दशा में ही, संन्यास की मिथ्या-प्रवृत्ति को बराबर प्रोत्साहित किया है।

परन्तु प्रस्तुत प्रकरण में दुःख के स्वरूप के विषय में एक नितरां नवीन दार्शनिक दृष्टिकोण उपस्थित किया जा रहा है। दुःखों से उद्विग्न मानव को उससे एक नया ही प्रकाश मिलेगा, ऐसी हमारी धारणा है।

---

१. तु० "अथ त्रिविधदुःखात्यन्तनिवृत्तिरत्यन्तपुरुषार्थः" (सांख्यसूत्र १।१)। "बाधनालक्षणं दुःखम्", "तदत्यन्तविमोक्षोऽपवर्गः" (न्यायसूत्र १।१।२१-२२)। "दुःखमेव सर्वं विवेकिनः" (योगसूत्र २।१५)।

नीचे के पद्यों में दुःख के विषय में युक्ति और उपपत्ति के साथ जो सिद्धांत उपस्थित किये गये हैं, वे संक्षेप में मुख्यतः इस प्रकार हैं—

(१) दुःख की प्राप्ति आकस्मिक या अहेतुक नहीं होती।

(२) सृष्टि की योजना में दुःख की प्राप्ति निष्प्रयोजन नहीं हो सकती।

(३) दुःख से लगनेवाले भय के मूल में हमारा अज्ञान ही कारण होता है।

(४) दुःखों को कार्यसिद्धि की आवश्यक भूमिका समझना चाहिए।

(५) स्वेच्छा से स्वीकृत दुःख तप के रूप में परिवर्तित किया जा सकता है। तप से ही समस्त सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं।

(६) मनुष्य की समुन्नति में दुःख केवल सीढ़ियों के समान होते हैं।

(७) महान् पुरुष दुःख और कष्टों का स्वागत ही करते हैं।

नीचे के पद्यों में इन्हीं विचारों का प्रतिपादन किया गया है—

उद्वेगजनकं दुःखं सर्वेषामेव प्राणिनाम्।
सेयमापाततो बुद्धिस् तत्त्वदृष्ट्या विविच्यते ॥ ८ ॥

इस संसार में दुःख से सब कोई घबड़ाते हैं; दुःख को उद्वेग-जनक समझते हैं। दुःख के विषय में यह जो आपाततः विचार है उसका यहाँ हम तात्त्विक दृष्टि से विवेचन करेंगे।

न चैवाकस्मिकं दुःखं न चाप्यस्त्यप्रयोजनम्।
न चैवावश्यकं, दुःखं दुःखमित्येव मन्यताम् ॥ ९ ॥

दुःख के विषय में विचार करने पर, न तो हम उसको आकस्मिक अथवा अहेतुक कह सकते हैं, न निष्प्रयोजन। दुःख को दुःख के रूप में ही अनुभव किया जाय, यह भी आवश्यक नहीं है।

दुःख आकस्मिक नहीं हो सकता, इसका समर्थन नीचे करते हैं—

कार्यकारणसूत्रेण सूत्रधारेण केनचित्।
चाल्यमाने जगत्यस्मिन् कथं दुःखमहेतुकम् ? ॥ १० ॥

इस जगत् या विश्व के सूत्रधार या नियामक परमात्मा कार्य और कारण के सूत्र अर्थात् नियम द्वारा सारे जगत् का संचालन कर रहे हैं। ऐसी स्थिति में किसी के ऊपर आनेवाला दुःख अहेतुक हैं, अर्थात् उसका कोई हेतु नहीं है, ऐसा कैसे हो सकता है ?

दुःख निष्प्रयोजन भी नहीं हो सकता, इसका समर्थन नीचे करते हैं—

गर्भावस्थां समारभ्य या यावस्थानुभूयते।
प्राणिना, तद्धितायैव स्पष्टं तस्याः प्रयोजनम् ॥ ११ ॥

जब से प्राणी गर्भावस्था में आता है, उसे बराबर नई-नई दशाओं का अनुभव करना पड़ता है। शास्त्रों में उनका प्रायः भयानक दुःखमय अवस्थाओं के रूप में वर्णन मिलता है। उन दशाओं को हम दुःखमय मानें या न मानें, इतना तो स्पष्ट हैं कि उनका प्रभाव प्राणी के लिये हितकर ही होता है।

अभिप्राय यह है कि गर्भावस्था के समान प्रत्येक दुःखावस्था मनुष्य के हित के लिए ही होती है। गर्भावस्था के अनुभव के पश्चात् ही राम, कृष्ण, बुद्ध और गांधी जैसे अवतारी पुरुष बनते हैं।

एवं स्थावरलोकेऽपि वृक्षादीनां समुद्भवे।
नानावस्थास्तु बीजस्य जायन्ते सप्रयोजनाः ॥ १२ ॥

इसी प्रकार स्थावर जगत् में भी वृक्ष आदि की उत्पत्ति में बोने के पश्चात् बीज की जो सड़ने-गलने आदि की अनेक अवस्थाएँ होती हैं वे सब सप्रयोजन होती हैं। बीज बोए जाने के पीछे पहले गलता है, फिर सड़ता है। तब कहीं वह अंकुर के रूप में उगता है और अन्त में आम, अनार, अंगूर जैसे उपयोगी और सुन्दर वृक्षों के रूप में आता है। इसी प्रकार आपाततः दुःख की अवस्थाओं को भी जानना चाहिए। दुःखावस्था से हमारा अंत में हित ही होगा, यही समझना चाहिए।

तत्रैवं सति लोकेऽस्मिन् दुःखावस्थेति या मता।
सप्रयोजनता तस्या नूनं नैवात्र संशयः ॥ १३ ॥

इसलिये संसार में जिसको दुःख की अवस्था माना जाता है उसका ईश्वर की दृष्टि में कोई न कोई प्रयोजन अवश्य होता है, यही मानना चाहिए।

सहेतुकत्वमित्येवं सप्रयोजनतां तथा।
दुःखस्यावेक्ष्य तत्त्वज्ञो न ततो विजुगुप्सते ॥ १४ ॥

इस प्रकार दुःख की सहेतुकता और सप्रयोजनता को समझकर, अर्थात् यह मन में बैठाकर कि ईश्वर की सृष्टि में जो कोई दुःख आता है उसका कोई कारण और प्रयोजन भी अवश्य होता है, तत्त्वज्ञानी मनुष्य दुःखों से कभी नहीं घबड़ाता।

अन्धकारगतः कश्चिद् यथाकस्माद् भयातुरः ।
भवेत्तथैव दुःखेभ्यो मन्दानां जायते भयम् ॥ १५ ॥

जैसे अँधेरे में खड़ा हुआ मनुष्य वास्तविक स्थिति को नहीं समझता और 'न जाने कहाँ से क्या आपत्ति आ जाय' यह सोचकर भय से व्याकुल हो जाता है, उसी प्रकार अज्ञानी लोग दुःख के कारण और प्रयोजन को न समझते हुए उससे डरते हैं ।

उत्तरोत्तरमुत्कृष्टप्रगतावुत्सुकस्तु यः ।
दुःखानां स्वागतं कुर्वंस् तत्त्वज्ञो नावसीदति ॥ १६ ॥

पर तत्त्वज्ञानी मनुष्य, जो अपने जीवन में उत्तरोत्तर उत्कृष्ट उन्नति के लिए उत्सुक रहता है, दुःखों का स्वागत करता हुआ उनसे विषाद को नहीं प्राप्त होता ।

यथा छात्रस्य कस्यापि तापसस्य धनार्थिनः ।
कष्टानां महतामङ्गीकारो दृष्टः फलार्थिनः ॥ १७ ॥

जैसे अपने-अपने अभीष्ट लक्ष्य (क्रम से विद्या, आध्यात्मिक सिद्धि और संपत्ति) की प्राप्ति के लिए प्रयत्न करनेवाला एक विद्यार्थी, तपस्वी या धनार्थी प्रसन्नता से बड़े-बड़े कष्टों को सहता है, उसी प्रकार तत्त्वज्ञानी मनुष्य अपने जीवन के लक्ष्य की ओर बढ़ता हुआ दुःखों और कष्टों को सहर्ष स्वीकार करता है ।

विधातुः सर्वलोकस्याभिप्रायोऽप्येष दृश्यते ।
'कार्यसिद्धयै ततः पूर्वं कष्टस्वीकरणं हितम्' ॥ १८ ॥

समस्त संसार की सृष्टि करनेवाले विधाता का अभिप्राय भी यही दीखता है कि कार्य की सिद्धि के लिए उससे पहले कष्ट या दुःख को उठाना हितकर होता है । दूसरे शब्दों में, भगवान् की रची हुई इस सृष्टि में सबके लिए यह स्वाभाविक है कि अपनी अभीष्ट सिद्धि के लिए कष्ट या दुःख को उठाया जाय ।

अत एव सिसृक्षुः सन् लोकानेतान् प्रजापतिः ।
"तपोऽतप्यत", नैकत्र श्रूयते ब्राह्मणादिषु ॥ १९ ॥

इसलिए शतपथ-ब्राह्मण आदि ग्रंथों में जहाँ-कहीं 'प्रजापति ने इन लोकों की सृष्टि करने की इच्छा की' इस बात का प्रसंग आया है वहाँ 'प्रजापति ने तप किया' ऐसा कहा गया है।[1]

अभिप्राय यह है कि औरों की तो बात ही क्या, प्रजापति या ब्रह्मा को भी सृष्टि की रचना से पहले तप करना पड़ता है।

स्वेच्छा से स्वीकार किये गये दुःख या कष्ट को ही तप कहते हैं, यह नीचे कहा गया है—

शिवस्य नीलकण्ठस्य विषपानं यदुच्यते।
व्याख्यानमस्य तेनापि सिद्धान्तस्य विधीयते॥ २०॥

पुराणों में भगवान् नीलकण्ठ शिव की विष-पान की कथा प्रसिद्ध है। वास्तव में उस कथा से उक्त सिद्धान्त की ही व्याख्या की गई है। संसार में कौन स्वेच्छया विष-पान करने को तैयार होगा? फिर भी लोक-कल्याण की इच्छा से शिव जी ने प्रसन्नतापूर्वक भयंकर विष का पान किया। इसलिए अभीष्ट अर्थ की सिद्धि के लिए प्रसन्नतापूर्वक कष्ट स्वीकार करना चाहिए।

रामस्य तस्य भीष्मस्य बुद्धस्यापि महात्मनः।
क्राइस्टस्य जिनस्यापि गान्धिनश्च महात्मनः॥ २१॥
जीवनेषु तथान्येषां लोकोत्तरयशस्विनाम्।
स्वेच्छयैव सुखं त्यक्त्वा कष्टस्वीकरणं श्रुतम्॥ २२॥

उक्त कारण से ही भगवान् राम, सुप्रसिद्ध भीष्म पितामह, महात्मा बुद्ध, महात्मा क्राइस्ट, भगवान् महावीर, महात्मा गांधी तथा अन्य लोकोत्तर यशवाले महापुरुषों के जीवन के सम्बन्ध में सुना जाता है कि उन्होंने महान् आदर्शों के पालन के लिए स्वेच्छा से सुखों को छोड़कर कष्टों को स्वीकार किया था।

आपेक्षिकी मता तस्माद् भावना सुखदुःखयोः।
नैकान्तिकं तयो रूपमित्येवमवधार्यताम्॥ २३॥

---

१. तु० "सोऽयं पुरुषः प्रजापतिरकामयत। भूयान् स्यां प्रजायेयेति। सोऽश्राम्यत्। स तपोऽतप्यत।...... (शतपथब्राह्मण ६।१।१।८)।

इसलिए सुख और दुःख की भावना को आपेक्षिक ही मानना चाहिए। उनमें से किसी का अपना कोई निश्चित या ऐकांतिक रूप नहीं है।

दुःखं वै दुःखरूपेण तावदेव प्रतीयते।
यावत्परिग्रहस्तस्यानिच्छयैव विधीयते ॥ २४ ॥

दुःख दुःखरूप से तभी तक प्रतीत होता है जबतक कि उसका ग्रहण अनिच्छा से ही किया जाता है।

दुःखं चेत्स्वेच्छया प्राज्ञः प्रसन्नेनान्तरात्मना।
आदत्ते, तत्तपोरूपमाधत्ते, नात्र संशयः ॥ २५ ॥

यदि बुद्धिमान् मनुष्य आये हुए दुःख को स्वेच्छा-पूर्वक प्रसन्न मन से स्वीकार कर लेता है तब वही दुःख उसके लिए निःसंदेह तप का रूप धारण कर लेता है।

आशय यह है कि मनुष्य को चाहिए कि वह सहसा आये हुए दुःख को अपनी उन्नति की प्राप्ति में सहायक तप मानकर प्रसन्नता से सहे। इस प्रकार वह दुःख उसके लिए कल्याण का ही साधक हो सकता है।

नूनं तपांसि कृच्छ्राणि शास्त्रोक्तानि विधानतः।
आचरन्त्यात्मनः शुद्धयै श्रद्धया ये मनीषिणः ॥ २६ ॥

यह कौन नहीं जानता कि शास्त्रों में अनेकानेक कृच्छ्रातिकृच्छ्र व्रत आदि तपों का विधान किया गया है। जो बुद्धिमान् हैं वे आत्म-शुद्धि के लिए उन तपों का श्रद्धा से विधि-पूर्वक पालन करते हैं।

तपसा पारमाप्नोति तपसा हन्ति किल्बिषम्।
लोकेऽत्र तपसा धीर उन्नतेर्मूर्ध्नि तिष्ठति ॥ २७ ॥

तप की महिमा महान् है। तप द्वारा ही मनुष्य अपने अभीष्ट पद को प्राप्त करता है और पाप या अपूर्णता को दूर कर अपने चरित्र को उज्ज्वल और पवित्र बनाता है। धीर पुरुष संसार में तप द्वारा ही उन्नति के शिखर पर विराजमान होता है।

ततोऽनिवार्यदुःखं यत् प्राप्तं भवति जीवने।
तप इत्येव तद्विद्याद् य इच्छेच्छ्रेय आत्मनः ॥ २८ ॥

इसलिए जो अपना कल्याण चाहता है उसे चाहिए कि जीवन में जो कोई अनिवार्य दुःख प्राप्त हो उसे वह अपनी अभीष्ट-सिद्धि का साधक तप ही समझे और माने।

हिरण्यस्य यथा शुद्धिरग्नितापेन जायते।
तथैव दुःखतप्तानां जायते कल्मषक्षयः॥ २९॥

जैसे अग्नि में तपाने से सुवर्ण की शुद्धि हो जाती है, उसी प्रकार दुःख-रूपी तप से तपे हुओं के कल्मष या पाप का नाश हो जाता है।

रम्यं प्रासादमारोहन्नत्युच्चशिखरस्थितम्।
कष्टानि सहते धीरः प्रसन्नो लक्ष्यसिद्धये॥ ३०॥

किसी पर्वत के अति ऊँचे शिखर पर बने हुए रमणीय प्रासाद तक पहुँचने के निमित्त ऊपर चढ़नेवाला धीर मनुष्य अपने लक्ष्य की सिद्धि के लिए प्रसन्नता-पूर्वक कष्टों को सहता है।

उत्तरोत्तरमुत्कृष्टप्रगतावुत्सुकस्तु यः।
एवं वेदोक्तमार्गेण दुःखादुद्विजते न सः॥ ३१॥

इसी प्रकार 'तुम उत्तरोत्तर समुन्नति को प्राप्त करो'[1] इस वैदिक उपदेश के अनुसार जो मनुष्य अपनी उत्तरोत्तर उत्कृष्ट समुन्नति के लिए उत्सुक है वह दुःख से कभी नहीं घबड़ाता।

देवाधिदेवतत्त्वेन करुणाप्लुतचेतसा।
नूनं सृष्टं जगत्कृत्स्नं भूतानामुद्दिधीर्षया॥ ३२॥

इसमें संदेह नहीं कि उस परमतत्त्व परमात्मा ने, जो देवताओं का भी अधिष्ठातृ-देवता है, करुणा-वश होकर प्राणियों के उद्धार की इच्छा से ही समस्त जगत् की सृष्टि की है।[2]

---

१. तु० "भद्रादधि श्रेयः प्रेहि" (अथर्ववेद ७।८।१)
(अर्थात्, तुम भद्र से भद्रतर जीवन को प्राप्त करो)।

२. तु० "भद्रा इन्द्रस्य रातयः" (सामवेद, उ० ५।२।१४)
(अर्थात्, भगवान् के प्रदान कल्याणमय हैं)।

तत्रैवं सति लोकेऽस्मिन् दुःखावस्थेति योच्यते।
नूनं सास्मद्धितायैव नोद्वेगाय मनीषिणः॥ ३३॥

सृष्टि के विषय में उपर्युक्त वस्तुस्थिति के होने से, लोक में जिसको दुःखावस्था कहा जाता है वह निश्चय ही हमारे कल्याण के लिए होती है, ऐसा मानना चाहिए। समझदार लोग उससे उद्विग्न नहीं होते।

कदाचिदेतदेवात्र कारणं येन, विस्मयः!
कुत्रापि वेदमन्त्रेषु दुःखशब्दो न दृश्यते॥ ३४॥

दुःख के विषय में जो कुछ ऊपर कहा गया है, कदाचित् उसी कारण से, यह आश्चर्य की बात है कि, वैदिक संहिताओं के मंत्रों में कहीं भी 'दुःख' शब्द नहीं पाया जाता।

किञ्च—

"यत्र ज्योतिरजस्रं यस्मिँल्लोके स्वर्हितम्"[१]।
"यत्रानन्दाश्च मोदाश्च मुदः प्रमुद आसते"[२]॥ ३५॥
"मा भेस्"[३] त्वं "मा (च) संविक्थाः"[४] "भद्रा इन्द्रस्य रातयः"[५]।
इत्यादि वेदमन्त्रेषु स्पष्टं दुःखस्य भावनाम्॥ ३६॥
त्यक्त्वानन्दमयं लक्ष्यं जीवनस्यावबोध्यते।
तस्माज्जीवनमुत्कृष्टः प्रसादो जगतीपतेः॥ ३७॥

(परमात्मन्! मुझे उस स्थिति में स्थापित कीजिए) 'जहाँ सातत्य से रहनेवाली ज्योति और दिव्य सुख विद्यमान हैं।', 'जहाँ आनन्द, आमोद, प्रीति और प्रसन्नता विद्यमान हैं।'

'तुम न तो भयभीत होओ (और) न उद्विग्नता को प्राप्त होओ'! 'परमैश्वर्यशाली भगवान् के प्रदान कल्याणमय हैं।'

इत्यादि वेदमन्त्रों में स्पष्टतया दुःख की भावना को छोड़कर, जीवन के आनन्दमय लक्ष्य को बतलाया गया है।

इसलिए जीवन जगदीश्वर का सर्वोत्कृष्ट प्रसाद है।

॥ इति जीवनज्योतिषि दुःखमीमांसा नाम द्वितीयो रश्मिः॥

---

१. ऋग्वेद ९।११३।७। २. ऋग्वेद ९।११३।११। ३. यजुर्वेद १।२३।
४. यजुर्वेद १।२३। ५. सामवेद, उ० ५।२।१४।

तृतीयो रश्मिः

व्रत-पालनम्

व्रतेन दीक्षामाप्नोति दीक्षयाप्नोति दक्षिणाम् ।
दक्षिणा श्रद्धामाप्नोति श्रद्धया सत्यमाप्यते ।।

(यजुर्वेद १९।३०)



तृतीय रश्मि

व्रत-पालन

व्रताचरण से ही मनुष्य को दीक्षा अथवा उन्नत जीवन की योग्यता प्राप्त होती है। दीक्षा से दक्षिणा अथवा प्रयत्न की सफलता प्राप्त होती है। दक्षिणा से अपने जीवन के लक्ष्य अथवा आदर्शों में श्रद्धा और श्रद्धा से सत्य अथवा वास्तविक लक्ष्य की प्राप्ति होती है।

(यजुर्वेद १९।३०)

व्रतपालन

नर उवाच

श्रुत्वेदं दुःखविषये तथ्यमद्य महत् प्रभो !
मनोज्ञं सुप्रभातं मे जीवनस्येति भावये ॥ १ ॥
उत्तरोत्तरमुत्कर्षि जीवनं मन्यते भवान् ।
कथं तदिति विज्ञातुमौत्सुक्यं जायते मम ॥ २ ॥
उत्तरोत्तरमुत्कर्षसाधनं जीवनं हि नः ।
प्रसादः सुमहाँस्तस्मात्तज्ज्ञातव्यं जगत्प्रभोः ॥ ३ ॥
उत्कर्षः कीदृशः सोऽयं कश्च तन्मार्ग उच्यते ।
भवान् हि लोककल्याणदर्शी तद्वक्तुमर्हति ॥ ४ ॥

नर ने कहा

हे प्रभो ! दुःख के विषय में इस महान् तथ्य को सुनकर, आज मेरे जीवन का मानो मनोरम सुप्रभात है, ऐसा मुझे लग रहा है।

आप जीवन को उत्तरोत्तर उत्कर्षशाली समझते हैं। सो कैसे ? यह जानने को मैं उत्सुक हूँ।

हमारा जीवन उत्तरोत्तर उत्कर्ष की प्राप्ति में साधन है। इसलिए जीवन को जगत् के प्रभु भगवान् का महान् प्रसाद ही समझना चाहिए।

सो इस उत्कर्ष का स्वरूप क्या है ? उसकी प्राप्ति का मार्ग क्या है ? सबके कल्याण को समझने वाले आप ही इन प्रश्नों का समाधान कर सकते हैं।

नारायण उवाच

प्रश्नेनातीव संतोषस्तवानेनानुभूयते ।
मया वत्स ! समाधानं तस्य त्वां वच्मि तच्छृणु ॥ ५ ॥
व्रतानां पालनं मन्ये तस्योत्कर्षस्य साधनम् ।
प्रथमं, ब्रह्मचर्यं तु व्रतानां श्रेष्ठमुच्यते ॥ ६ ॥
सत्यस्याचरणं तद्वन्मनसा वचसा तथा ।
उत्कर्षस्य महान् पन्था जीवनस्येति भावय ॥ ७ ॥
चारित्र्यं परमो धर्मश्चारित्र्यं परमं तपः ।
चारित्र्यस्य प्रभावेण तमस्तरति दुस्तरम् ॥ ८ ॥
मार्गेणैतेन गच्छन्तः सन्तो धैर्यधुरन्धराः ।
प्राप्नुवन्त्युत्तमाँल्लोकाँस्तदधः प्रतिपाद्यते ॥ ९ ॥
तदत्र प्रथमं किञ्चिद् व्रतग्रहणवाञ्छया ।
प्रवृत्तस्य मुखेनैव तन्महत्त्वमुदीर्यते ॥ १० ॥

श्री नारायण ने कहा

अयि वत्स ! तुम्हारे इस प्रश्न से मुझे बड़ा सन्तोष है । उसका समाधान मैं करता हूँ, उसे तुम सुनो ।

मेरे मत में व्रतों का पालन उस उत्कर्ष का मुख्य साधन है । और व्रतों में ब्रह्मचर्य सबसे श्रेष्ठ है । उसी प्रकार यह समझ लो कि मन तथा वचन से सत्य का आचरण जीवन के उत्कर्ष का बड़ा मार्ग है ।

चारित्र्य परम तप है । चारित्र्य के प्रभाव से मनुष्य दुस्तर अन्धकार को पार कर सकता है ।

इसी मार्ग पर चलते हुए धैर्यधुरन्धर सत्पुरुष उत्तम लोकों को प्राप्त करते हैं । इसी विषय का प्रतिपादन नीचे किया गया है ।

इस प्रसङ्ग में, सबसे पहले, जो स्वयं व्रत-ग्रहण करना चाहता है उसके मुख से ही व्रत-ग्रहण के महत्त्व का कुछ वर्णन किया जाता है ।

[१]

व्रत से आत्मशुद्धि

"अग्ने ! व्रतपते व्रतं चरिष्यामि...
इदमहमनृतात् सत्यमुपैमि ॥" (यजुर्वेद १।५)

अर्थात्, हे व्रतपते प्रकाश-स्वरूप देव ! मेरी प्रार्थना है कि मैं व्रत का पालन करता हुआ अनृत से सत्य की ओर प्रगति कर सकूँ ।

जीवन के उत्थान और विकास के लिए आत्म-विश्वास और आत्मिक शक्ति की आवश्यकता है । आत्मिक शक्ति और आत्म-विश्वास अनुशासन, व्रताचरण और नियम-पालन से ही प्राप्त हो सकते हैं । जीवन में व्रतों के ग्रहण और पालन का यही रहस्य है । इसी सिद्धान्त का विशदीकरण किसी व्रती के मुख से नीचे के पद्यों में कराया गया है :—

उत्तरोत्तरमुत्कर्षं जीवने लब्धुमुत्सुकः ।
प्रतिजाने चरिष्यामि व्रतमात्मविशुद्धये ॥ ११ ॥

अपने जीवन में उत्तरोत्तर उत्कर्ष प्राप्त करने के लिए मैं उत्सुक हूँ । आत्मविशुद्धि या पवित्राचरण से ही यह हो सकता है । उस आत्म-विशुद्धि के लिए व्रताचरण की मैं प्रतिज्ञा करता हूँ ।

व्रतानां पालनेनैव तद् गूढमात्मदर्शनम् ।
जायते यमिनां नूनमात्मविश्वासकारणम् ॥ १२ ॥

व्रतों के पालन से ही संयमी मनुष्यों को निश्चय ही अपने उस गूढ स्वरूप का दर्शन होता है जो कि आत्म-विश्वास का कारण होता है ।

अभिप्राय यह है कि व्रतों के आचरण से ही मनुष्य अपने वास्तविक स्वरूप और शक्ति को पहचानता है, और इसी प्रकार उसमें आत्म-विश्वास की भावना का उदय होता है।

ऋषिभिर्मुनिभिश्चैव लोकानां मार्गदर्शकैः।
सेवितो विततः पन्था एष नैवात्र संशयः ॥ १३ ॥

संसार को सन्मार्ग दिखाने वाले ऋषियों और मुनियों ने वास्तव में इसी विशद मार्ग का सेवन किया था। अभिप्राय यह है कि व्रताचरण द्वारा मनुष्य ऋषि और मुनि की पदवी को भी प्राप्त कर सकता है।

विश्वस्य विविधं कार्यं कुर्वन्तोऽत्र निरन्तरम्।
व्रतानां पालनेनैव देवा अमृतभोजिनः ॥ १४ ॥

विश्व के विभिन्न कार्यों को निरन्तर नियमपूर्वक करने वाले अग्नि, वायु, सूर्य आदि देवताओं को व्रतों के पालने के कारण से ही अमृतभोजी (=अमृत अथवा अमृतत्व का सेवन करने वाले) कहा गया है। दूसरे शब्दों में, अग्नि, वायु, सूर्य आदि देवता विश्व के संचालनार्थ अपने-अपने महान् व्रत अथवा कर्तव्य का अविचल-भाव से पालन करते हैं। इसी आधार पर उनको 'अमृत-भोजी' कहा गया है।

अभिप्राय यह है कि व्रताचरण द्वारा ही मनुष्य को अपने अमृतत्व या शाश्वत जीवन का बोध हो सकता है।

व्रतेन प्राप्यते दीक्षा दक्षिणा दीक्षयाप्यते।
तया च प्राप्यते श्रद्धा श्रद्धया सत्यमाप्यते ॥१५॥

व्रताचरण से ही मनुष्य को दीक्षा अथवा उन्नत जीवन की योग्यता प्राप्त होती है। दीक्षा से दक्षिणा अथवा प्रयत्न की सफलता प्राप्त होती है। दक्षिणा से अपने जीवन के लक्ष्य अथवा आदर्शों में श्रद्धा, और श्रद्धा से सत्य अथवा वास्तविक लक्ष्य की प्राप्ति होती है।

अभिप्राय यह है कि व्रतों के पालने से ही मनुष्य अपने जीवन के परम लक्ष्य तक पहुँच सकता है।

ऊपर मनुष्य के लिए व्रताचरण की महिमा का वर्णन किया है। सब व्रतों के मूल में ब्रह्मचर्य-व्रत है। उसी का वर्णन नीचे किया जाता है—

[२]

अमृतं जीवने यत्तद् देवा नित्यमुपासते।
ब्रह्मचर्यव्रतं तस्य परमं साधनं मतम् ॥१६॥
ब्रह्मचर्यव्रतं तस्माद् व्रतानामुत्तमं व्रतम्।
व्याख्या विधीयते तेन तस्यैवात्र विशेषतः ॥१७॥

जीवन में महत्त्व का संपादक जो अमृत है—जिस अमृत का सेवन देवता नित्य करते हैं—उस अमृत का परम साधन ब्रह्मचर्य-व्रत माना गया है।

इसी लिए ब्रह्मचर्य-व्रत सब व्रतों में सर्वोत्कृष्ट है। इसी कारण से इस प्रसङ्ग में विशेषतः उसी की व्याख्या की जाती है।

ब्रह्मचर्य

"ब्रह्मचारी ब्रह्म भ्राजद् बिभर्त्ति" (अथर्ववेद ११।५।२४)

अर्थात्; ब्रह्मचर्य-व्रत को धारण करने वाला तेजोमय ब्रह्म को धारण करता है।

जीवनं वै महान् यज्ञस् तस्य सिद्ध्यै मनीषिभिः।
ब्रह्मचर्यव्रतस्यादौ ग्रहणमुपदिश्यते ॥१८॥

जीवन एक महान् यज्ञ है। उसकी सफलता के लिए मनुष्य को जीवन के प्रारम्भ में ही ब्रह्मचर्य-व्रत ग्रहण करना चाहिए, ऐसा मनीषियों का उपदेश है।

प्रासादस्य विनिर्माणे मूलभित्तिरपेक्ष्यते।
तथैव जीवनस्यादौ ब्रह्मचर्यमपेक्ष्यते ॥१९॥

जैसे किसी महल के बनाने में नींव की अपेक्षा होती है। उसी प्रकार जीवन के प्रारम्भ में ब्रह्मचर्य की अपेक्षा होती है।

ब्रह्मचर्यव्रतं चीर्णं यैस्तैरेव तपस्विभिः।
उत्तरोत्तरमुत्कर्षो जीवने लभ्यते ध्रुवम् ॥२०॥

तप के रूप में ब्रह्मचर्य के व्रत को पूर्ण करने वाले मनुष्य ही निस्सन्देह जीवन में उत्तरोत्तर उत्कर्ष को प्राप्त करते हैं।

ब्रह्मचर्येण सर्वोऽर्थः सिद्धो भवति भूतले।
तस्यैवेहातिसंक्षिप्ता काचिद् व्याख्या विधीयते ॥२१॥

संसार में प्रत्येक लक्ष्य की प्राप्ति ब्रह्मचर्य से होती है। उसीकी कुछ अतिसंक्षिप्त व्याख्या यहाँ की जाती है।

सर्वेषामपि भूतानां यत्तत्कारणमव्ययम्।
कूटस्थं शाश्वतं दिव्यं, वेदो वा, ज्ञानमेव यत् ॥२२॥
तदेतदुभयं नूनं ब्रह्मशब्देन कथ्यते।
तदुद्दिश्य व्रतं यस्य ब्रह्मचारी स उच्यते ॥२३॥

सृष्टि के समस्त पदार्थों का जो अक्षय्य, कूटस्थ, शाश्वत, दिव्य मूल-कारण है उसको, तथा ज्ञानरूप वेद को भी, ब्रह्म शब्द से कहा जाता है। इस प्रकार विश्व के मूल-कारण अथवा ज्ञान की प्राप्ति के उद्देश्य से जो व्रत ग्रहण करता है उसी को ब्रह्मचारी कहते हैं।

एतस्यां भूमिकायां तु तिष्ठतो ब्रह्मचारिणः।
उत्तरोत्तरमुत्कृष्टं जीवनं लक्ष्यमुच्यते ॥२४॥

उक्त मानसिक परिस्थिति में वर्तमान ब्रह्मचारी के लिए उत्तरोत्तर उत्कृष्ट जीवन ही लक्ष्य होता है।

तदर्थं स्वीयशक्तीनां विकासः संचयस्तथा।
श्रमेण तपसा वृत्तिः संयमेन पुरस्कृता ॥२५॥
चारित्र्यस्य विनिर्माणं विद्याया अर्जनं तथा।
आश्रमे प्रथमे नूनं कर्तव्यं ब्रह्मचारिणा ॥२६॥

उक्त लक्ष्य की सिद्धि के लिए प्रथम आश्रम (=ब्रह्मचर्याश्रम) में ब्रह्मचारी को अपनी शक्तियों का विकास और संचय, मन वाणी और शरीर के संयम के साथ श्रम और तप का आचरण, चरित्र का निर्माण और विद्या का उपार्जन करना चाहिए।

तपसा पारमाप्नोति तपसा हन्ति किल्बिषम्।
तपसा वर्तमानः स उन्नतेर्मूर्ध्नि तिष्ठति ॥२७॥

तप द्वारा वह (ब्रह्मचारी) अपने अभीष्ट पद को प्राप्त करता है और पाप या अपूर्णता को दूर कर अपने चरित्र को उज्ज्वल और पवित्र बनाता है। तप का आचरण करता हुआ वह उन्नति के शिखर पर आसीन होता है।

तपसा निर्मलो भूत्वा परिपाकेण शुद्धधीः ।
द्वितीयमाश्रमं गत्वा सर्वस्येष्टे न संशयः ॥२८॥

तप से चरित्र की दुर्बलताओं को दूर कर और मनोविकास द्वारा तत्त्वावगाहिनी विशुद्ध बुद्धि को प्राप्त कर वह द्वितीय गृहस्थ-आश्रम में प्रविष्ट होने पर समस्त परिस्थितियों को निःसन्देह अपने अनुकूल बनाने में समर्थ होता है ।

"ब्रह्मचर्येण तपसा राजा राष्ट्रं वि रक्षति ।
आचार्यो ब्रह्मचर्येण ब्रह्मचारिणमिच्छते"[1] ॥२९॥
"ब्रह्मचर्येण तपसा देवा मृत्युमपाघ्नत ।
इन्द्रो ह ब्रह्मचर्येण देवेभ्यः स्वराभरत्"[2] ॥३०॥
इत्यादिवेदमन्त्रैश्च वैदिकोदात्तभाषया ।
ब्रह्मचर्यस्य माहात्म्यं रहस्यं चोपवर्ण्यते ॥३१॥

"ब्रह्मचर्य के तप से ही राजा अपने राष्ट्र की रक्षा में समर्थ होता है । ब्रह्मचर्य द्वारा ही आचार्य ब्रह्मचारी को शिक्षणार्थ चाहता है ।"

"ब्रह्मचर्य के तप से ही देवताओं ने मृत्यु को दूर भगा दिया है । ब्रह्मचर्य द्वारा ही इन्द्र ने देवताओं को दिव्य प्रकाश लाकर दिया है ।"

इत्यादि वैदिक मन्त्र अपनी उदात्त भाषा में ब्रह्मचर्य की महिमा और रहस्य का वर्णन करते हैं ।

[३]

ब्रह्मचर्य की महिमा

उह्यमानस्य विवशं भावानां तीव्रधारया ।
आत्मविश्वासमाधत्ते ब्रह्मचर्यं तदिष्यताम् ॥३२॥

भावों की तीव्र धारा में बेबस हो कर बहते हुए मनुष्य में जो आत्म-विश्वास को उत्पन्न करता है उस ब्रह्मचर्य का पालन करना चाहिए ।

---

१. अथर्ववेद ११।५।१७ । २. अथर्ववेद ११।५।१९ ।

शरीरं मानसं वापि स्वास्थ्यमाध्यात्मिकं तथा।
अभीष्टं चेत्तदा सर्वैर्ब्रह्मचर्यं तदिष्यताम् ॥३३॥

यदि शारीरिक मानसिक तथा आध्यात्मिक स्वास्थ्य की इच्छा है तो सबको ब्रह्मचर्य का पालन करना चाहिए।

चारित्र्यं मानवस्येह जन्मन: सारमुत्तमम्।
तस्य रक्षाकृते भ्रातर् ब्रह्मचर्यं तदिष्यताम् ॥३४॥

मनुष्य के जीवन का चारित्र्य ही उत्तम सार है। उसकी रक्षा के लिए भाई! ब्रह्मचर्य का पालन करना चाहिए।

नानाधिव्याधिखिन्नानां मर्त्यानामौषधं परम्।
निराशाया: समाधानं ब्रह्मचर्यं तदिष्यताम् ॥३५॥

ब्रह्मचर्य नाना प्रकार की आधियों और व्याधियों से खिन्न मनुष्यों की परम औषध है। वह निराशा का समाधान है। उसका पालन करना चाहिए।

जीवने य: समुत्कर्षो लोकोत्तरमहात्मनाम्।
तस्य मूलं रहस्यं च ब्रह्मचर्यं तदिष्यताम् ॥३६॥

लोकोत्तर महापुरुषों के जीवन में जो समुत्कर्ष होता है उसका मूल और रहस्य ब्रह्मचर्य है। इसलिए उसका पालन करना चाहिए।

जीवने रिक्तता येयं या चोद्देश्यस्य हीनता।
क्लेशहेतुस्तदुच्छित्त्यै ब्रह्मचर्यं तदिष्यताम् ॥३७॥

जीवन में क्लेश को देने वाली जो रिक्तता अथवा उद्देश्यहीनता देखी जाती है उसको दूर करने के लिए ब्रह्मचर्य का पालन करना चाहिए।

वासनानां तमोराशौ मग्नानामन्धचेतसाम्।
प्रकाशरूपं यत्तत्त्वं ब्रह्मचर्यं तदिष्यताम् ॥३८॥

वासनाओं के घोर अन्धकार में डूबे हुए तथा सदसद् की विवेकबुद्धि से रहित लोगों को प्रकाश देनेवाला तत्त्व ब्रह्मचर्य ही है। उसका पालन करना चाहिए।

मृत्युग्राहेण विभ्रान्तास्त्रस्ताश्चैवानिशं ततः ।
त्राणं यत्केवलं तेषां ब्रह्मचर्यं तदिष्यताम् ॥३९॥

मृत्युरूपी ग्राह से घबड़ाये हुए और सदा उससे त्रस्त लोगों की रक्षा का एकमात्र साधन ब्रह्मचर्य है । उसका पालन करना चाहिए ।

जीवनस्य महान् पन्थाः पाथेयं तस्य यन्महत् ।
तत्त्ववेदिभिरादिष्टं ब्रह्मचर्यं तदिष्यताम् ॥४०॥

जीवन का पथ अति लम्बा है । तत्त्ववेत्ताओं ने ब्रह्मचर्य को उसका महान् पाथेय बतलाया है । उसका पालन करना चाहिए ।

[४]

ब्रह्मचारी की शिक्षा का स्वरूप

शिक्षा का प्रश्न बड़ा गहन है । वर्तमान भारत की यह एक महती समस्या है । नीचे के पद्यों से इस समस्या के सम्बन्ध में कुछ प्रकाश अवश्य मिलेगा, ऐसी हमें आशा है—

चारित्र्येण समं शिक्षा श्रमेण तपसा तथा ।
अनुशासनसंजुष्टा सा लक्ष्यं ब्रह्मचारिणः ॥४१॥

चारित्र्य, श्रम और तप के साथ तथा अनुशासन से युक्त शिक्षा ही ब्रह्मचर्य-आश्रम में रहने वाले का लक्ष्य होती है ।

सर्वेषामपि भूतानां मूर्धन्यं पदमास्थितम् ।
साधनं सर्वसिद्धीनां यत्तन्मानुष्यकं मतम् ॥४२॥
आसुरीं वृत्तिमुत्सृज्य दैवं भावमुपाश्रितम् ।
यया संपद्यते शिक्षा सा लक्ष्यं ब्रह्मचारिणः ॥४३॥

समस्त प्राणियों में सर्वोत्कृष्ट पद में स्थित और सब सिद्धियों की एकमात्र साधन मनुष्यता, आसुरी प्रवृत्तियों को छोड़ कर, जिस शिक्षा द्वारा दैवी प्रवृत्तियों को धारण करती है, वही ब्रह्मचर्य-आश्रम में रहने वाले का लक्ष्य होती है ।

शिक्षा या केवलं स्वार्थ-बुद्धिं पुष्णाति सर्वथा।
विषयेष्विन्द्रियारामप्रवृत्तिर्वर्धते यया ॥४४॥
तां समूलं समुत्सार्य लोककल्याणकाम्यया।
आत्मवत्तागुणोपेता सा शिक्षा ब्रह्मचारिणः ॥४५॥

जो शिक्षा सब तरह से केवल स्वार्थ-बुद्धि को पुष्ट करती है और जिससे विषयों में इन्द्रियों की आसक्ति बढ़ती है, लोक-कल्याण की कामना द्वारा उसका समूल उन्मूलन कर के आत्मसंयम की भावना से युक्त शिक्षा ही ब्रह्मचारी का लक्ष्य होती है।

उत्तरोत्तरमुत्कर्षो जीवनस्य यया भवेत्।
सदाचारसमृद्धेश्च सौरभं सुमनोहरम् ॥४६॥
सर्वलोकसमाकर्षि देशव्यापि यया भवेत्।
आशाप्रकाशसंयुक्ता सा शिक्षा ब्रह्मचारिणः ॥४७॥

जिस से जीवन का उत्तमोत्तम उत्कर्ष हो और जिससे सारे जगत् को आकृष्ट करने वाला सदाचार की समृद्धि का सुमनोहर सौरभ देशभर में फैल जाए, जीवन में आशावाद के प्रकाश को देनेवाली ऐसी शिक्षा ही ब्रह्मचारी का लक्ष्य होती है।

[५]

ब्रह्मचारी की ईश्वर-प्रार्थना

व्रतस्य तस्य संसिद्धौ रतस्य ब्रह्मचारिणः।
विश्वभर्तुः परेशस्य प्रार्थनात्र प्रदर्श्यते ॥४८॥

उक्त ब्रह्मचर्य-व्रत की सिद्धि में तत्पर ब्रह्मचारी की ओर से विश्वपालक परमेश्वर की प्रार्थना नीचे की रचना में दी जाती है—

शम्भो ! परेश ! मम वाचमिमां जुषस्व
संयोज्य पाणियुगलं विनयान्नतस्य।
पापं विधूय शुभमार्गरतो भवेयं
चारित्र्यरक्षणपरो व्रतमाचरेयम् ॥४९॥

हे शम्भो ! हे परेश !
दोनों हाथ जोड़कर मैं विनय-पूर्वक नमस्कार करता हूँ ।
मेरी इस प्रार्थना पर कृपा-पूर्वक ध्यान दीजिए ।
मैं चाहता हूँ कि पाप को दूर करके मैं सदा शुभ मार्ग में रत रहूँ, और
चारित्र्य की रक्षा करते हुए अपने व्रत का पालन करता रहूँ !

चेदापदां नु निवहः पतितोऽमितः स्यात्
चेत्कष्टजातमभितोऽभिगतं ततं स्यात् ।
प्राणप्रयाणभयमप्युदितं भवेच्चेद्
याचे तथापि मम चित्तमनाकुलं स्यात् ॥५०॥

अनन्त आपत्तियों के समूह के उपस्थित होने पर भी,
चारों ओर बराबर कष्टों से घिरे होने पर भी,
प्राणों के चले जाने के भय के आ जाने पर भी,
मैं प्रार्थना करता हूँ कि मेरा चित्त व्याकुल न हो !

ग्रावोच्चयोपचितपर्वतमस्तके वा
नानातरङ्गकुलसंकुलसागरे वा ।
व्याघ्रादिहिंस्रनिवहाकुलकानने वा-
न्यत्रापि देव ! सततं भवतः स्मरेयम् ॥५१॥

पर्वत-श्रेणियों से युक्त महान् पर्वतों के शिखर पर,
अथवा असंख्य तरङ्गों से व्याकुल समुद्र में,
अथवा व्याघ्रादि हिंसक पशुओं के समूह से भयङ्कर कानन में,
तथा अन्यत्र भी हे देव ! मैं सदा आपका स्मरण रखूँ !

तिष्ठन् व्रजंश्च भगवन्नथवा शयानो
रात्रौ दिनेऽप्युषसि सायमथान्यदा वा ।
पातालवर्त्तिकुहरे दिवि वा पृथिव्यां
सर्वत्र ते स्थितिमहं कलयानि भूमन् ! ॥५२॥

हे भगवन् ! हे भूमन् ! (भूमन् = ब्रह्मन्, परमात्मन्)
ठहरे हुए, चलते हुए, अथवा शयनार्थ लेटे हुए,
रात में, दिन में, उषःकाल में, सायंकाल अथवा किसी दूसरे समय,

पाताल की गुफा में, द्युलोक अथवा पृथ्वी में—
सर्वत्र मैं आप की स्थिति का अनुभव करूँ !

पापान्निवारय, विधेहि शमे मतिं मे,
सत्ये रतां समधिकां मयि धेहि मेधाम् ।
विश्वासमात्मनि जगद्धितसाधनोत्कां
निःस्वार्थबुद्धिमथ मे भगवन् ! प्रयच्छ ॥५३॥

हे भगवन् !
पाप से हटाकर मेरी मति को शान्ति-प्रदान कीजिए;
सत्य में रत तीक्ष्ण मेधा को मुझ में स्थापित कीजिए;
आत्म-विश्वास के साथ-साथ जगत् के हित-
साधन में उत्सुक निःस्वार्थ-बुद्धि को भी मुझे दीजिए ।

॥ इति जीवनज्योतिषि व्रतपालनं नाम तृतीयो रश्मिः ॥

चतुर्थो रश्मिः

चारित्र्य-संपत्तिः

परि माग्ने ! दुश्चरिताद् बाधस्वा
मा सुचरिते भज ।

(यजुर्वेद ४।२८)



चतुर्थ रश्मि

चारित्र्य-संपत्ति

प्रकाश-स्वरूप परमात्मन् ! मुझे दुश्चरित से बचाकर सुचरित में प्रतिष्ठित कीजिए ।

(यजुर्वेद ४।२८)

चारित्र्य-सम्पत्ति

नर उवाच

जीवनस्य विकासार्थं व्रतग्रहणमिष्यते।
तत्रापि ब्रह्मचर्यस्य माहात्म्यं विद्यते परम् ॥१॥
तदेतदमृतस्रावि भवतः प्रतिपादनम्।
सर्वेषामपि लोकानां सर्वथा हितवर्धनम् ॥२॥
उत्तरोत्तरमुत्कर्षो जीवनस्य य उच्यते।
अथ तस्य स्वरूपं यद् भगवंस्तद्वक्तुमर्हसि ॥३॥

नर ने कहा

जीवन के विकास के लिए व्रत-ग्रहण की आवश्यकता है। व्रत-ग्रहण के संबन्ध में भी, ब्रह्मचर्य का बड़ा महत्त्व है।

आप का यह प्रतिपादन अमृत-स्रावी है, अर्थात् उससे मानो अमृत का स्रवण होता है। और वह सभी लोगों के हित को बढ़ाने वाला है।

भगवन्! अब आप कृपया जीवन का जो उत्तरोत्तर उत्कर्ष कहा जाता है उसके स्वरूप को बतलाइए।

नारायण उवाच

चारित्र्य एव मन्येऽहं जीवनस्य कृतार्थताम्।
चारित्र्यममृतं पुण्यं जीवनस्यापि जीवनम् ॥४॥
वेदास्त्यागश्च यज्ञाश्च नियमाश्च तपांसि च।
नैव चारित्र्यहीनस्य साफल्यं यान्ति कर्हिचित् ॥५॥

उत्तरोत्तरमुत्कर्षश्चारित्र्येणैव लभ्यते ।
कारणं सर्वसिद्धीनां लक्ष्यं चापि मतं हि तत् ॥६॥
तस्माच्चारित्र्यसंपत्त्यै प्रयतेत विचक्षणः ।
तस्या एवात्र संक्षेपात् काचिद् व्याख्या विधीयते ॥७॥

श्री नारायण ने कहा

मैं चारित्र्य में ही जीवन की कृतकृत्यता मानता हूँ। चारित्र्य अमृत है, पवित्र है और जीवन का भी जीवन है।

वेदों का स्वाध्याय, दान, अनेक प्रकार के यज्ञ, विविध नियम (=व्रत आदि) और तप—ये सब जो चारित्र्य से हीन है उसके कभी सफल नहीं होते।

जीवन का उत्तरोत्तर उत्कर्ष चारित्र्य से ही प्राप्त होता है; क्योंकि वह (चारित्र्य) ही सब सिद्धियों का कारण तथा लक्ष्य भी माना गया है।

इसलिए बुद्धिमान् मनुष्य को चाहिए कि वह चारित्र्य-संपत्ति के लिए प्रयत्न करे। उसी की यहाँ संक्षेप से कुछ व्याख्या की जाती है।

---

[१]

चारित्र्य आत्मा का स्वास्थ्य है

जीवन में चारित्र्य ही मनुष्य का सर्वस्व है। प्रत्येक मनुष्य की मुख्य पूँजी उसका चरित्र होता है। उसी के स्वरूप का कई दृष्टियों से प्रतिपादन नीचे के पद्यों में किया गया है :—

सुरम्यं कुसुमं दृष्ट्वा यथा सर्वः प्रसीदति।
प्रसन्नानपरान् दृष्ट्वा तथा त्वं सुखमाप्नुयाः ॥८॥

सुन्दर फूल को देखकर जैसे सब-कोई प्रसन्न होते हैं, ऐसे ही दूसरों को प्रसन्न देख कर तुमको प्रसन्नता होनी चाहिए।

प्रसन्नानपरान् दृष्ट्वा यस्यान्तर्न प्रसीदति।
अप्रसन्नांस्तथा दृष्ट्वा यस्यान्तर्न विषीदति ॥९॥
नूनं तस्यात्मनोऽस्वास्थ्यं कारणं तत्र विद्यते।
अस्वस्थस्य जनस्येह द्राक्षापि विरसायते ॥१०॥

दूसरों को प्रसन्न देखकर जिसका मन प्रसन्न नहीं होता और अप्रसन्न देख कर जिसके मन में पीडा नहीं होती, निश्चय ही उसकी आत्मा की अस्वस्थता इसका कारण है। अस्वस्थ मनुष्य को दाख भी स्वाद में बुरी लगती है।

ततः सदात्मनः स्वास्थ्यकृते यत्नपरो भव।
तदर्थमात्मनो हीनभावनाया विवर्जनम् ॥११॥
तथा चैवाभिमानस्य दुरन्तस्यापसारणम्।
कर्तव्यं प्रथमं तावन्मन्यते तत्त्वदर्शिभिः ॥१२॥

इस लिए आत्मा की स्वस्थता के लिए सदा प्रयत्नशील रहो। इसके लिए तत्त्वदर्शियों के मतानुसार पहला कर्तव्य यह है कि मनुष्य अपनी हीनभावना छोड़ दे और साथ ही दुःख-दायी अभिमान को भी भगादे।

अभिमानेन मूढत्वमात्मनो हीनभावना।
आत्मनः स्वास्थ्यनाशस्य द्वयमेवात्र कारणम्॥१३॥

आत्मा की स्वस्थता का नाश दो ही कारणों से होता है। वे हैं— (१) अभिमान से होनेवाला मोह[1] और (२) अपने को हीन या तुच्छ समझना।[2]

देहस्वास्थ्यकृते लोकाः सप्रयत्ना निरन्तरम्।
तन्मूलमात्मनः स्वास्थ्यमिति ते नैव जानते॥१४॥

संसार में मनुष्य शारीरिक स्वास्थ्य के लिए बराबर प्रयत्नशील रहते हैं। पर वे इस बात को नहीं जानते कि शारीरिक स्वास्थ्य का मूल कारण आत्मा की स्वस्थता होती है।

विकारा मानसाः सर्वेऽस्वस्थ आत्मन्यसंशयम्।
आप्नुवन्ति पदं तस्मादात्मस्वास्थ्यपरो भवेत्॥१५॥

यह निश्चय है कि आत्मा के अस्वस्थ होने पर ही मन के समस्त दुर्विकार उत्पन्न हुआ करते हैं। इसीलिए मनुष्य को सबसे पहले आत्मा की स्वस्थता के लिए प्रयत्नशील होना चाहिए।

चारित्र्यमात्मनः स्वास्थ्यं, जीवनस्य कृतार्थता।
तत्रैव विद्यते, तस्मात्तदर्थं यत्नमाचरेत्॥१६॥

आत्मा की स्वस्थता किसको कहते हैं? इसका उत्तर यही है कि मनुष्य के उदात्त चरित्र को ही आत्मा की स्वस्थता समझना चाहिए। मनुष्यजीवन की सफलता उसी में रहती है। इसलिए मनुष्य को चरित्र की उदात्तता के लिए प्रयत्न करना चाहिए।

---

१. तु० "पराभवस्य हैतन्मुखं यदतिमानः" (शतपथब्राह्मण ५।१।१।१)।
२. तु० "नात्मानमवमन्येत" (मनुस्मृति ४।१३७)। "मावमंस्थाः स्वमात्मानम्" (मनुस्मृति ८।८४)।

[२]

चारित्र्य की महिमा

चारित्र्य के ही महत्त्व को दिखलाने का नीचे के पद्यों में यत्न किया गया है :—

चारित्र्यं परमो धर्मश्चारित्र्यं परमं तपः।
चारित्र्यस्य प्रभावेण तमस्तरति दुस्तरम् ॥१७॥

चारित्र्य परम धर्म है। चारित्र्य परम तप है। चारित्र्य के प्रभाव से ही मनुष्य मोह और जडता (अकर्मण्यता) के दुस्तर अन्धकार को पार कर सकता है।

चारित्र्यं जीवनतरोः सुगन्धि कुसुमं शुभम्।
आकर्षणं तथैवात्र लोकानां रञ्जनं महत् ॥१८॥

चारित्र्य जीवन रूपी वृक्ष का सुन्दर सुगन्धित पुष्प है! अर्थात्, जैसे किसी फूलने वाले पौधे का उत्कृष्ट सौन्दर्यमय सारांश पुष्प-रूप में विकसित होता है, इसी तरह मनुष्य-जीवन का उत्कृष्ट सुन्दर रूप या परम ध्येय उदात्त चरित्र ही है।

सुन्दर सुगन्धित पुष्प के समान ही उदात्त चरित्र सबको अपनी ओर आकृष्ट करता है और सबको प्रसन्नता प्रदान करता है।

यथा हि लौकिकाः स्वीयं धनं रक्षन्त्यतन्द्रिताः।
चारित्र्यस्य तथा रक्षा विधेयोत्कर्षमिच्छता ॥१९॥

इसलिए, जैसे सांसारिक लोग बड़ी सावधानता से अपने धनकी रक्षा करते हैं, इसी तरह जो अपना उत्कर्ष चाहता है उसे चारित्र्य की रक्षा करनी चाहिए।

[३]

चारित्र्य की उपेक्षा

जीवन में चारित्र्य का अत्यन्त महत्त्व होने पर भी मनुष्य उसकी उपेक्षा करते हैं। वास्तव में यह आत्मघात के समान है। इसी बात को नीचे के पद्यों में दिखलाया गया है :—

शरीरमिदमस्थायि जानन्तोऽपि जना ध्रुवम् ।
तत्स्वास्थ्यस्य कृते यत्नान् विविधानाचरन्ति वै ॥२०॥
अन्तःशरीरं यत्त्वेतज्जन्मजन्मान्तरेष्वपि ।
स्थास्नु तत्स्वास्थ्यसम्बन्धे विमुखा हन्त ! मानवाः ॥२१॥

मनुष्य यह जानते हैं कि यह शरीर सदा रहने वाला नहीं है। तो भी, शारीरिक स्वास्थ्य के लिए वे तरह-तरह के यत्न किया करते हैं। पर यह खेद की बात है कि यद्यपि मनुष्य का चारित्र्यरूपी अन्तःशरीर जन्म-जन्मान्तर में स्थायी रहने वाला है, तो भी उसके स्वास्थ्य की मनुष्य परवा नहीं करते !

उत्पद्यन्ते शरीरेऽस्मिन्विकारा ये निरन्तरम् ।
प्रायेणोपशमं यान्ति किञ्चित्कालादनन्तरम् ॥२२॥
परमन्तःशरीरेऽस्मिन् चारित्र्याख्येऽतिरोहितम् ।
विकाराः सकृदुत्पन्नाः प्रायस्तिष्ठन्ति सर्वदा ॥२३॥

इस शरीर में जो रोगादि विकार बराबर होते रहते हैं, वे कुछ काल के अनन्तर प्रायेण शान्त हो जाते हैं। पर यह कौन नहीं जानता कि इस चारित्र्य-रूपी आभ्यन्तर शरीर में जो विकार एक बार उत्पन्न हो जाते हैं वे प्रायः सदा रहते हैं; अर्थात्, उनको हटाना बड़ा कठिन होता है। इसलिए मनुष्य को चरित्र-शुद्धता का पूरा-पूरा ध्यान रखना चाहिए।

[४]

प्रत्येक कर्म का परीक्षण

यथा गृहस्य निर्माणमिष्टकानां शनैः शनैः ।
चयेन जायतेऽधस्तात् पतनं सहसा पुनः ॥२४॥
तथा चारित्र्यसंपत्तेरर्जनं क्रियते शनैः ।
स्वल्पेनापि प्रमादेनापायस्तस्याः प्रसज्यते ॥२५॥
जीवनप्रगतौ तस्मात्सावधाना विपश्चितः ।
प्रत्येकं कर्मणश्चिन्तां तत्त्वदृष्ट्या प्रकुर्वते ॥२६॥

नूनं जीवनयात्रा कामक्रोधादिशत्रुभिर्व्याप्ता ।
मोहं तत्र न गत्वातन्द्रस्तिष्ठेन्निरन्तरं धीरः ॥२७॥

जैसे एक घर का निर्माण ईंटों की धीरे-धीरे चुनाई से होता है और उसका नीचे गिर जाना सहसा हो जाता है;

इसी प्रकार चारित्र्य-संपत्ति का अर्जन शनैः-शनैः किया जाता है; परन्तु थोड़े भी प्रमाद से उसका अपाय, नाश, हो सकता है ।

इसलिए बुद्धिमान् लोग जीवन की प्रगति, समुन्नति, में सावधान रहते हुए अपने प्रत्येक कर्म का चिन्तन तात्त्विक दृष्टि से करते हैं ।

निश्चय ही जीवन-यात्रा काम, क्रोध आदि शत्रुओं से व्याप्त है । इसलिए धीर पुरुष को चाहिए कि वह उस यात्रा के संबन्ध में किसी प्रकार के व्यामोह में न पड़कर सर्वदा जागरूक होकर रहे ।

[५]

भाव-संशुद्धि की आवश्यकता

भाव-संशुद्धि चारित्र्य का मुख्य अंग है । भावसंशुद्धि की क्यों आवश्यकता है ? इसी का उत्तर नीचे के पद्यों में दिया गया है :—

गृहरूपं मनोऽस्माकं स्वच्छं शान्तं भवेद्यथा ।
तत्परेण मनुष्येण प्रयत्नः क्रियतां तथा ॥२८॥

हमारा मन एक प्रकार से हमारा घर है । वह हमारा गृह-रूपी मन जैसे भी स्वच्छ और शान्त रह सके, उसके लिए हमें तत्पर होकर प्रयत्न करना चाहिए ।

सोपद्रवं तथास्वच्छं दुर्गन्धेन समाचितम् ।
अभद्रदर्शनं वेश्माध्युषितः कः सुखं व्रजेत् ॥२९॥
भावसंशुद्धिमेतस्मात्सौमनस्यं तथैव च ।
सद्विचारसमृद्धिं च समीहन्ते मनीषिणः ॥३०॥

उपद्रव या कोलाहल से युक्त, अस्वच्छ, दुर्गन्ध से भरे हुए और देखने में अभद्र या भद्दे घर में रहकर कौन सुखी हो सकता है ? इसी से मनीषी लोग भाव-संशुद्धि, सौमनस्य और सद्विचारों की समृद्धि को चाहते हैं ।

अभिप्राय यह है कि स्वास्थ्य और प्रसन्नता के लिए जैसे शान्त, स्वच्छ और सुन्दर घर की आवश्यकता होती है, उसी तरह आध्यात्मिक शान्ति और प्रसन्नता के लिए भाव-संशुद्धि आदि मानसिक गुणों की आवश्यकता है।

स एष परमः स्वार्थो दोषसंस्पर्शवर्जितः।
परार्थजीवनस्यापि पात्रता तत्र जायते ॥३१॥

भावसंशुद्धि आदि उपर्युक्त मानसिक गुणों की प्राप्ति ऐसा उत्कृष्ट 'स्वार्थ' है जिसके साथ दोष का संस्पर्श भी नहीं है। इस 'स्वार्थ'-सिद्धि के हो जाने पर ही मनुष्य में परार्थ-जीवन को पात्रता आती है।[1] अर्थात्, उक्त उदात्त गुणों से युक्त मनुष्य में ही वास्तव में दूसरों के हित के लिए कार्य करने की योग्यता होती है।

वस्तुतस्तत्पदं पुण्यं यत्र स्वार्थपरार्थयोः।
एकत्वं जायतेऽद्वैतं तदेवाहुर्विचक्षणाः ॥३२॥

वास्तव में मनुष्य के चरित्र की वही स्थिति पवित्र और उत्कृष्ट होती है जिसमें स्वार्थ और परार्थ की एकता या अभिन्नता हो जाती है। विद्वान् लोग उसी अवस्था को 'अद्वैत' की स्थिति कहते हैं।

[६]

सद्विचारों का विकास

सद्विचारों को चारित्र्य का शरीर कहना चाहिए। उनका विकास कैसे हो सकता है, इसी बात को नीचे के पद्यों में समझाने का प्रयत्न किया गया है :—

क्षेत्रे विना प्रयत्नेन वन्यतृणसमुद्भवः।
भूयो भूयः कृषेः पक्षे महानर्थाय जायते ॥३३॥

सब कोई जानते हैं कि प्रत्येक खेत में जंगली घास-पात बिना प्रयत्न के ही बार-बार उगती रहती है और इससे खेती को बड़ी हानि होती है।

---

१. तु० "स्वार्थो यस्य परार्थ एव स पुमानेकः सतामग्रणीः।" (भर्तृहरिः)

कृषकस्य प्रयत्नेन सावधानस्य नित्यशः।
वारणं क्रियते तेषां कृषे रक्षा च जायते ॥३४॥

सावधान किसान बराबर प्रयत्न-पूर्वक उस जंगली घास-पात को निकालता रहता है और इसी प्रकार खेती की रक्षा की जाती है।

एवं चित्ते स्वभावेन नानादुर्वासनोदयः।
जायमानो मनुष्यस्य क्लेशसन्ततिकारणम् ॥३५॥

इसी प्रकार मनुष्य के चित्त में स्वभाव से ही अनेकानेक दुर्वासनाएँ पैदा होती रहती हैं और उनके कारण उसको बराबर क्लेशों का अनुभव करना पड़ता है।

केवलं तत्र यत्नेन भूयोभूयः कृतेन वै।
निरोधः शक्यते कर्तुं तासामुन्मूलनं तथा ॥३६॥

इस स्थिति में केवल बार-बार किये गये यत्न से ही उन दुर्वासनाओं का निरोध और उन्मूलन किया जा सकता है।[1]

धीरैरुत्साहसंपन्नैः श्रद्धाविश्वासधारिभिः।
कर्तुं तत्पार्यते, नैव संशयाविष्टमानसैः ॥३७॥

यह कार्य (दुर्वासनाओं का निरोध और उन्मूलन) श्रद्धा और विश्वास को धारण करने वाले उत्साही धीर-वीरों द्वारा ही किया जा सकता है। जिनके मन में संशय बैठा हुआ है वे इस कार्य को नहीं कर सकते।

वासना याः शुभोदर्का विचारा ये च साधवः।
कुशलं तत्र रोहन्ति स्वच्छे चित्ते न संशयः ॥३८॥

शुभ परिणाम को उत्पन्न करने वाली वासनाएँ और अच्छे विचार स्वच्छ चित्त में ही अच्छी तरह पनपते हैं, इसमें कोई संशय नहीं हो सकता।

तस्य देवस्य सवितुः प्रसवानां य ईशिता।
प्रकाशप्रेरणां लब्ध्वा वस्तुतो जीवनप्रदाम् ॥३९॥

---

१. तु० "अविद्यास्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः पञ्च क्लेशाः। ते प्रतिप्रसवहेयाः सूक्ष्माः। ध्यानहेयास्तद्वृत्तयः।" (योगसूत्र २।३, १०, ११)।

नष्टा ये दुष्टसंस्कारास्तेषां खाद्येन नित्यशः।
सद्विचाराः प्ररोहन्ति शुभसंकल्पवारिणा ॥४०॥

समस्त सृष्टि के प्रेरक उन सवितृ-देव (सूर्य-देव) से वस्तुतः जीवन को देनेवाली प्रकाश की प्रेरणा को पाकर, जो दुष्ट संस्कार बराबर नष्ट होते जाते हैं उनके खाद्य (= खाद) से, और शुभ संकल्पों के जल से मनुष्य के चित्त में सद्विचार उगते और बढ़ते हैं।

अभिप्राय यह है कि अच्छी खेती के लिए जैसे सूर्य-प्रकाश, खाद और पानी की आवश्यकता होती है, ऐसे ही मनुष्य के चित्त में सद्विचारों की उत्पत्ति और पुष्टि के लिए भगवान् की प्रेरणा (या कृपा), दुष्ट संस्कारों का नाश और शुभ-संकल्प (क्रमशः सूर्य-प्रकाश, खाद और पानी के स्थानीय), इनकी आवश्यकता होती है।

उच्छेद्या याश्च संरक्ष्या वासनास्तत्र संस्थिताः।
तासां विवेकः प्रथमं बुद्धिमद्भिरपेक्ष्यते ॥४१॥

इस कार्य में सबसे पहले चित्त में रहनेवाली उच्छेदनीय (जिनका उन्मूलन करना है) और संरक्षणीय (जिनकी रक्षा करना अपेक्षित है) वासनाओं में परस्पर विवेक करने की आवश्यकता बुद्धिमानों को होती है।

चित्तभूमौ प्रयत्नेन पोषितैवं निरन्तरम्।
सद्विचारकृषिः कृष्टिः संस्कृतिर्वा मता बुधैः ॥४२॥

इस प्रकार चित्तरूपी भूमि में बराबर प्रयत्न-पूर्वक पोषित की गयी सद्विचारों की कृषि को विद्वान् लोग 'कृष्टि' अथवा 'संस्कृति' समझते हैं। अभिप्राय यह है कि मनुष्यों के सद्विचारों की समष्टि को ही 'संस्कृति' अथवा 'कृष्टि' इन शब्दों द्वारा कहा जाता है।

अक्षय्यममृतं पुण्यं दिव्यानन्देन संयुतम्।
तत्फलं, तेन धनिनस्ते धन्यास्ते मनीषिणः ॥४३॥

उपर्युक्त सद्विचारों की कृषि का फल अक्षय्य, अमृत, पवित्र और दिव्य आनन्द से युक्त होता है। उस फल से जो धनी हैं वे धन्य हैं, वे मनीषी हैं।

अभिप्राय यह है कि लोकप्रसिद्ध कृषि से मनुष्यों को साधारण अन्नादि का लाभ होता है; परन्तु उपर्युक्त सद्विचारों की कृषि से जो फल प्राप्त होता है वह अक्षय्य आदि गुणों से युक्त होने के कारण अन्नादि से कहीं बढ़-चढ़ कर होता है।

[७]

सत्य की सर्वत्र जय होती है

सत्य ही चारित्र्य का आत्मा है। सत्य के बिना चारित्र्य रह ही नहीं सकता। उसी सत्य के स्वरूप का वर्णन निम्नस्थ पद्यों में किया गया है :—

सत्यं जयति सर्वत्र नैवासत्यं कदाचन।
तस्मात्सत्यपरो भूत्वा निर्द्वन्द्वो विचरेन्नरः ॥४४॥

सत्य की सर्वत्र जय होती है, असत्य की कभी नहीं। इसलिए मनुष्य को सत्य-परायण होकर निर्द्वन्द्व (निर्भय अथवा निर्विरोध) भावना से जीवन-यात्रा करनी चाहिए।

सत्ये स्वरूपसंरक्षानपलापौ हि तिष्ठतः।
तत्र स्वात्मविरोधोत्थदौर्मनस्यं न जायते ॥४५॥

सत्य में अपने वास्तविक स्वरूप की रक्षा और अनपलाप (न छिपाना), दोनों रहते हैं। सत्य के रहने पर अपनी अन्तरात्मा के विरोध से उत्पन्न होने-वाली खिन्नता भी नहीं होती।

अतस्तत्रात्मसंतोषो मनःस्वास्थ्यमकृत्रिमम्।
सर्वैरप्यनुभूयेते निर्भयावस्थितिस्तथा ॥४६॥

इसीलिए सत्य की स्थिति में आत्मसंतोष, मन की स्वाभाविक स्वस्थता और निर्भयता की अवस्था को सब अनुभव करते हैं।

सत्याधारेण तिष्ठन्ति मनःस्वास्थ्योद्भवा गुणाः।
मनःप्रसादः सौम्यत्वमार्जवं शान्तिरेव च ॥४७॥

मन की स्वस्थता से उत्पन्न होने वाले गुण, जैसे मनःप्रसाद, सौम्यता, आर्जव और शान्ति, ये सत्य के आधार पर ही ठहरते हैं।

यथा प्रकाशो लोकानां हितमातनुते सदा।
सत्यशीलास्तथा सन्तः परसन्तापहारिणः ॥४८॥

जैसे प्रकाश से सदा लोगों का हित होता है; इसी तरह सत्य-शील सत्पुरुष दूसरों के सन्तापों को हरनेवाले होते हैं।

[८]

सत्य और चारित्र्य

चारित्र्य की दृष्टि से ही सत्य का वर्णन नीचे के पद्यों में भी किया गया है।

स्वरूपे संस्थितिः सत्यमसत्ये तद्विरुद्धता।
मृत्युरूपं ततोऽसत्यं सत्येऽमृतनिधिः स्थितः[१] ॥४९॥

अपने स्वरूप में रहना ही सत्य है। असत्य में यह बात नहीं होती। इसीलिए असत्य मृत्यु के समान है और सत्य में अमृत की निधि रहती है।[२]

सत्येन हि सहायेन ततो देवा निरन्तरम्।
ऋतज्ञा अमृता विश्वभारं बिभ्रत्यतन्द्रिताः ॥५०॥

इसलिए सत्य की सहायता से अग्नि, वायु, सूर्य आदि देवतागण ऋतज्ञ[३] (=प्रकृति के अटल नियमों के अनुवर्ती) और अमृत[३] (=अमरणशील) कहे जाते हैं और अतन्द्रित होकर (=तत्परता से) निरन्तर विश्व के भार को वहन करते हैं।

सत्यरक्षाकृते तस्मात् सन्तः प्राणपणैरपि।
तत्परा नियतं लोके दृश्यन्ते देवसन्निभाः ॥५१॥

इसीलिए संसार में देवताओं के साथ समानता रखनेवाले सत्पुरुष भी प्राणपण से सत्य की रक्षा में सदा तत्पर दिखायी देते हैं।

सत्यस्य हि प्रतिष्ठायां चारित्र्यं स्थितिमश्नुते।
सर्वे धर्माः क्षयं यान्ति यदि सत्यं न विद्यते ॥५२॥

सत्य के रहने पर ही चारित्र्य की स्थिति हो सकती है। सत्य के न रहने पर सब धर्म नष्ट हो जाते हैं।

---

१. तु० "सत्ये ह्यमृतमाहितम्" (महाभारत, उद्योगपर्व ४३।३७)।
२. इसीलिये "असतो मा सद् गमय" और "मृत्योर्मामृतं गमय" (बृहदारण्यकोपनिषद् १।३।२८) ये दोनों श्रुतियाँ वास्तव में समानार्थक हैं।
३. तु० "देवा:...अमृता ऋतज्ञाः" (ऋग्वेद १०।६५।१४)।

सत्याश्रयेण लोकस्य व्यवहारः प्रसिध्यति।
सत्ये सत्येव विश्वासो व्यवहारस्तदुद्भवः ॥५३॥

सत्य के सहारे पर ही लोक का व्यवहार चलता है। क्योंकि लोकव्यवहार के लिए परस्पर विश्वास की आवश्यकता होती है और विश्वास सत्य रहने पर ही हो सकता है।

यथाऽभावस्य भावेन विरोधः शाश्वतो मतः।
प्रकाशसन्निधाने हि तमः सद्यो निलीयते ॥५४॥
यथा मनःप्रसादेन शोकोद्वेगो विनश्यतः।
तथाऽसत्यस्य सत्येन सहभावो न सिद्धयति ॥५५॥

जैसे अभाव का भाव के साथ शाश्वत विरोध है,
जैसे प्रकाश के होते ही अन्धकार तत्काल हट जाता है,
जैसे मनःप्रसाद से शोक और उद्वेग नष्ट हो जाते हैं,
ऐसे ही सत्य और असत्य एक साथ नहीं रह सकते हैं।

[९]

दुःखागम से कल्याण

पङ्कादुत्पद्यते पद्ममहो रात्र्याः प्रजायते।
ग्रीष्मादनन्तरं वर्षा विद्युन्मेघात्प्रजायते ॥५६॥
शुक्लपक्षसमारम्भः कृष्णपक्षादनन्तरम्।
कण्टकाचितवृक्षेभ्यो मनोज्ञकुसुमोद्गमः ॥५७॥
दास्यात्स्वतन्त्रतावाप्तिः स्वास्थ्यं रोगादनन्तरम्।
दारिद्रयं संपदो भूमिस्तपसः सिद्धिरेव च ॥५८॥
कन्यागर्भात्समुत्पत्तिर्व्यासादीनां महात्मनाम्।
शूद्रेभ्योऽपि सतां जन्म ज्ञानमज्ञानिनां तथा ॥५९॥
वृत्तेऽस्मिन् दृश्यमाने तु सृष्टावस्यां समन्ततः।
कस्याञ्चिद् दुःस्थितौ नैव नैराश्यमुपयुज्यते ॥६०॥

लोकेशस्य जगद्भर्त्तुर्विश्वकल्याणकारिणी ।
प्रवृत्तिर्धीमतां शाश्वच्छ्रद्धाविश्वासदायिनी ॥६१॥
सर्वापि दुःस्थितिस्तस्मात् सुस्थितेरेव कारणम् ।
एवं दुःखागमो नूनं कल्याणायैव जायते ॥६२॥
सिद्धान्तमिममाश्रित्य धीरा धैर्यधुरंधराः ।
निरातङ्काः समुन्नत्यै प्रयतन्ते निरन्तरम् ॥६३॥

पङ्क से पद्म उत्पन्न होता है, रात्रि से दिन का जन्म होता है, ग्रीष्म के पश्चात् वर्षा ग्राती है, विद्युत् मेघ से जन्म लेती है ।

शुक्लपक्ष का प्रारम्भ कृष्णपक्ष के अनन्तर होता है, काँटों से व्याप्त पौधों से सुन्दर पुष्पों का उद्गम होता है ।

दास्य से स्वतन्त्रता की प्राप्ति होती है, रोग के पश्चात् स्वास्थ्य-लाभ होता है, जहाँ दारिद्रय है वहीं सम्पत्ति ग्राती है, कष्टमय तप से ही सिद्धि प्राप्त होती है ।

कन्या के गर्भ से व्यासादि महात्माग्रों का जन्म हुग्रा माना जाता है, शूद्रों से भी सन्तों का जन्म होता है, ग्रज्ञानियों को ज्ञान की प्राप्ति होती है ।

इस सृष्टि में जब सब ग्रोर यह बात दिखाई दे रही है, तब किसी भी दुरवस्था में निराश होना उपयुक्त नहीं है ।

जगत् का पोषण करनेवाले, लोकों के स्वामी भगवान् की विश्व का कल्याण करनेवाली प्रवृत्ति बुद्धिमानों में सदा श्रद्धा ग्रौर विश्वास को उत्पन्न करती है ।

इसलिए 'सारी दुःख की ग्रवस्था ग्रच्छी स्थिति का पूर्वरूप हुग्रा करती है; एवं दुःख का ग्राना भी कल्याण के लिए ही हुग्रा करता है' ।

इसी सिद्धान्त का ग्राश्रय लेकर धैर्य-धुरन्धर धीर लोग निरंतर निर्भयता के साथ उन्नति के लिए प्रयत्नशील रहते हैं ।

॥ इति जीवनज्योतिषि चारित्र्यसंपत्तिर्नाम चतुर्थो रश्मिः ॥

———

पञ्चमो रश्मिः

स्वास्थ्य-संपत्ति

तनूपा अग्नेऽसि तन्वं मे पाहि ।
आयुर्दा अग्नेऽस्यायुर्मे देहि ।......
यन्मे तन्वा ऊनं तन्म आ पृण ।

(यजुर्वेद ३।१७)

भद्रं जीवन्तो जरणामशीमहि ।

(ऋग्वेद १०।३७।६)



पञ्चम रश्मि

स्वास्थ्य--संपत्ति

अग्नि-स्वरूप परमात्मन् ! आप शरीर की रक्षा करने वाले हैं, मेरे शरीर की रक्षा कीजिए ! आप आयु को देने वाले हैं, मुझे पूर्ण आयु दीजिए ! ···मेरे शारीरिक स्वास्थ्य में जो भी कमी हो उसे पूरा कर दीजिए !

(यजुर्वेद ३।१७)

हम कल्याणमय तथा स्वस्थ जीवन व्यतीत करते हुए वृद्धावस्था को प्राप्त करें !

(ऋग्वेद १०।३७।६)

स्वास्थ्य-संपत्ति

नर उवाच

श्रुत्वा चारित्र्यसंपत्तेः स्वरूपं पुण्यवर्धनम् ।
सौभाग्यमात्मनोऽत्यन्तं नूनं मन्ये मुदान्वितः ॥ ॥

जीवनस्यास्य यात्रायाः साफल्यं वाञ्छतां नृणाम् ।
चारित्र्यं मुख्यपाथेयमिति मन्ये यथार्थतः ॥ २ ॥

चारित्र्यमात्मनः स्वास्थ्यं भवता प्रतिपादितम् ।
तत्राप्यारोग्यसंपत्तेः स्वरूपं यत्तदुच्यताम् ॥ ३ ॥

किं नु शारीरमारोग्यमुपायास्तस्य के मताः ।
विशिष्ट उपयोगः कस्तत्सर्वं तत्त्वतो वद ॥ ४ ॥

नर ने कहा

चारित्र्य-संपत्ति के पुण्य को बढ़ानेवाले स्वरूप को सुनकर मुझे बड़ी प्रसन्नता है। मैं इसे अपना अत्यन्त सौभाग्य मानता हूँ।

मैं मानता हूँ कि इस जीवन-यात्रा की सफलता चाहने वाले मनुष्यों के लिए यथार्थ में चारित्र्य ही मुख्य पाथेय है।

आपने प्रतिपादन किया है कि चारित्र्य ही आत्मा का स्वास्थ्य है। इस प्रसङ्ग में आरोग्य-संपत्ति के स्वरूप को भी कृपया बतलाइए।

शारीरिक आरोग्य का स्वरूप क्या है ? उसकी प्राप्ति के उपाय कौन-से हैं ? और उसका विशेष रूप से क्या उपयोग है ? इन सब बातों को तात्त्विक दृष्टि से बतलाइए।

नारायण उवाच

स्थाने तवात्र जिज्ञासा लोकानां हितकाम्यया।
साधु वत्स! समाधानं तस्याः किञ्चिन्मयोच्यते ॥ ५ ॥

श्रीनारायण ने कहा

प्रिय वत्स! इस विषय में तुम्हारी जिज्ञासा बिलकुल ठीक है और संसार के हित की कामना से वह प्रेरित है। उसका उचित समाधान मैं संक्षेप में कहता हूँ।

शारीरिक स्वास्थ्य की आवश्यकता

शारीरं मानसं चापि स्वास्थ्यमाश्रित्य मानवः।
नूनं जीवनयात्रायाः पारं गन्तुमलं भवेत् ॥ ६ ॥

शारीरं मानसं स्वास्थ्यं सममावश्यक द्वयम्।
वत्स ! जीवनयात्रायै तथ्यमेतन्न संशयः ॥ ७ ॥

यथा चक्रद्वयेनैव शकटं साधु गच्छति।
तथा तद्-द्वयमाश्रित्य जीवनप्रगतिर्मता ॥ ८ ॥

तथापि हन्त ! शारीरं स्वास्थ्यं मोहेन मानवाः।
अवज्ञाय निरानन्दा यापयन्तीह जीवनम् ॥ ९ ॥

"धर्मार्थकाममोक्षाणामारोग्यं मूलमुत्तमम्।"
एतदाप्तवचस्तेषां पदं न लभते हृदि ॥१०॥

शारीरिक स्वास्थ्य तथा मानसिक स्वास्थ्य (अर्थात् चारित्र्यसंपत्ति) इन दोनों के सहारे से ही मनुष्य जीवन की यात्रा को ठीक तरह पूर्ण कर सकता है।

हे वत्स ! जीवन की यात्रा के लिए शारीरिक स्वास्थ्य तथा चारित्र्य-संपत्ति इन दोनों की समान आवश्यकता है। यह सत्य है। इसमें कोई संदेह नहीं है।

जैसे दो पहियों से ही गाड़ी ठीक तरह आगे बढ़ती है। ऐसे ही शारीरिक स्वास्थ्य और चारित्र्य-संपत्ति इन दोनों के सहारे से ही जीवन की प्रगति हो सकती है।

तो भी यह खेद की बात है कि मनुष्य मोह (=अज्ञान) के कारण शारीरिक स्वास्थ्य की अवज्ञा करके दुःखमय जीवन व्यतीत करते हैं।

'शारीरिक स्वास्थ्य या आरोग्य धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष का उत्तम मूल है,' प्रामाणिक लोगों का यह वचन उनके मन में स्थान नहीं पाता है।

[२]

स्वास्थ्य के संबन्ध में वेदों के मन्त्र

अग्ने ! तनूपास्त्वमसि तनूं मे पाहि सर्वतः ।
शिरोरत्नमिवैषाशीर्वेदमन्त्रेषु दृश्यते ॥११॥

इममेवार्थमाश्रित्य प्रपञ्चो बहुलः श्रुतौ ।
विद्यते तत उद्धृत्य किञ्चिदत्र निदर्श्यते ॥१२॥

'हे अग्निदेव ! तुम शरीर की रक्षा करने वाले हो, मेरे शरीर की सब ओर से रक्षा कीजिए'—वेद-मन्त्रों में ऐसी प्रार्थना देखी जाती है । यह प्रार्थना वेद की मुकुटमणि के समान है ।

शारीरिक स्वास्थ्य के विषय को लेकर वेद में बहुत कुछ कहा गया है । कुछ वेद-मन्त्रों को उद्धृत करके हम नीचे दिखलाते हैं ।

तनूपा अग्नेऽसि तन्वं मे पाहि ।
आयुर्दा अग्नेऽस्यायुर्मे देहि ।
···यन्मे तन्वा ऊनं तन्म आ पृण ॥ (यजुर्वेद ३।१७)

अर्थात्, अग्निदेव ! तुम शरीर की रक्षा करने वाले हो, मेरे शरीर को पुष्ट कीजिए । तुम आयु का देने वाले हो, मुझे पूर्ण आयु दीजिए । मेरे शारीरिक स्वास्थ्य में जो भी कमी हो उसे पूरा कर दीजिए ।

वाङ् म आसन्नसोः प्राणश्चक्षुरक्ष्णोः श्रोत्रं कर्णयोः ।
अपलिताः केशा अशोणा दन्ता बहु बाह्वोर्बलम् ।
ऊर्वोरोजो जङ्घयोर्जवः पादयोः प्रतिष्ठा ।
(अथर्ववेद १९।६०।१-२)

अर्थात्, मेरे समस्त अंग पूर्ण स्वस्थता से अपना-अपना कार्य करें, यही मैं चाहता हूँ । मेरी वाणी, प्राण, आँख, और कान अपना-अपना काम ठीक तरह से कर सकें । मेरे बाल काले रहें । दाँतों में कोई रोग न हो । बाहुओं में बहुत बल हो । मेरी ऊरुओं में ओज, जाँघों में वेग और पैरों में दृढता हो ।

अश्मा भवतु नस्तनूः। (यजुर्वेद २९।४९)

अर्थात्, हमारी प्रार्थना है कि हमारे शरीर पत्थर के समान सुदृढ हों !

भद्रं जीवन्तो जरणामशीमहि। (ऋग्वेद १०।३७।६)

अर्थात्, हम कल्याण-मार्ग पर चलते हुए वृद्धावस्था को प्राप्त हों !

अहं सर्वमायुर्जीव्यासम्। (अथर्ववेद १९।७०।१)

अर्थात्, मैं अपने जीवन में पूर्ण आयु को प्राप्त करूँ !

तच्चक्षुर्देवहितं पुरस्ताच्छुक्रमुच्चरत्।
पश्येम शरदः शतम्। जीवेम शरदः शतम्।
शृणुयाम शरदः शतम्। प्र ब्रवाम शरदः शतम्।
अदीनाः स्याम शरदः शतम्। भूयश्च शरदः शतात्।

(यजुर्वेद ३६।२४)

अर्थात्, वह देखो ! इन्द्रियों के स्वास्थ्य के निर्वाहक, सब के चक्षुःस्थानीय प्रकाशमय सूर्य भगवान् सामने उदित हो रहे है। उनसे स्वास्थ्य को प्राप्त करते हुए, हम सौ वर्ष तक देखें, सौ वर्ष तक जीवें, सौ वर्ष तक सुन सकें, सौ वर्ष तक बोल सकें, सौ वर्ष तक किसी के आश्रित न हों और सौ वर्ष के अनन्तर भी !

ऊपर दिये हुए इन वेदमन्त्रों से स्पष्ट है कि वैदिक वाङ्मय में शारीरिक स्वास्थ्य और दीर्घायुष्य के प्रति कितनी गम्भीर आस्था है।

[३]

वेद मन्त्रों में आरोग्य का गान

वेद-मन्त्रों द्वारा प्रतिपादित अर्थ को पद्यों में हम इस प्रकार कह सकते हैं—

वाङ् म आस्ये नसोः प्राणश्चक्षुरक्ष्णोर्ध्रुवं भवेत्।
श्रुतं मे कर्णयोः स्थायि केशाश्चापलिताः सदा ॥१३॥

दन्तास्तिष्ठन्त्वशोणा मे बाह्वोर्मेऽस्तु बलं बहु ।
ऊर्वोरोजो जवस्तिष्ठेज्जङ्घयोः पादयोः स्थितिः ॥१४॥

अश्मेव मे शरीरं स्यात्स्वस्थं दाढ्येंन संयुतम् ।
कर्मक्षमं सदा तिष्ठेत्पूर्णमायुष्यमाप्नुयात् ॥१५॥

जीवेम शरदः शतं बुध्येम शरदः शतम् ।
रोहेम शरदः शतं पूषेम शरदः शतम् ॥१६॥

भवेम शरदः शतं भूषेम शरदः शतम् ।
भूयसीः शरदः शतादित्येषाथर्वणी श्रुतिः ॥१७॥

एवं नु वेदमन्त्रेषु वैदिकोदात्तभाषया ।
विभिन्नरूपैरारोग्यमहिमैवोपवर्ण्यते ॥१८॥

मेरे मुख में वाणी, नासिका में सूँघने और आँखों में देखने की शक्ति सुरक्षित रहे। मेरे कानों में सुनने की शक्ति स्थायी हो। मेरे केश सदा काले रहें।

मेरे दाँत रोग-रहित हों। मेरी बाहुओं में बहुत बल हो। मेरी ऊरुओं में ओज, जाँघों में वेग और पैरों में दृढता हो।

मेरा शरीर पत्थर के समान सुदृढ हो। वह सदा स्वस्थ और कर्म करने में समर्थ रहे और पूर्ण आयुष्य को प्राप्त करे।

अथर्ववेद की श्रुति (१९।६७।२-८[1]) में यह प्रार्थना की गयी है कि हम सौ और सौ वर्षों से भी अधिक वर्षों तक जीवित रहें; अपने ज्ञान को बराबर बढ़ाते रहें; उत्तरोत्तर उत्कृष्ट उन्नति को प्राप्त करते रहें; पुष्टि और दृढता को प्राप्त करते रहें; आनन्दमय स्वस्थ जीवन व्यतीत करते रहें; और समृद्धि, ऐश्वर्य तथा सद्‌गुणों से अपने को भूषित करते रहें।

इस प्रकार वेद-मन्त्रों में वैदिक उदात्त भाषा द्वारा आरोग्य की महिमा का वर्णन विभिन्न प्रकार से किया गया है।

---

१. "जीवेम शरदः शतम् । बुध्येम शरदः शतम् ।
रोहेम शरदः शतम् । पूषेम शरदः शतम् ।
भवेम शरदः शतम् । भूषेम शरदः शतम् ।
भूयसीः शरदः शतात् । (अथर्ववेद १९।६७।२-८)

स्वास्थ्यस्य तस्य संसिद्धयै रक्षार्थं च निरन्तरम्।
प्रयतेत नरो धीमांस्तत्रोपायान् वदाम्यहम् ॥१९॥

उपर्युक्त शारीरिक स्वास्थ्य की प्राप्ति के लिए और उसकी रक्षा के लिए बुद्धिमान् मनुष्य को सर्वदैव यत्न करना चाहिए। उसके उपायों को मैं नीचे बतलाता हूँ—

[४]

स्वास्थ्य की भावना

तदत्र प्रथमं किञ्चिदनुभूतं महात्मभिः।
सद्यः फलप्रदं पुण्यं स्वास्थ्यप्राप्ते रसायनम् ॥२०॥

वच्मि मन्त्रद्वयं प्रीतो दयाभावेन भावितः।
श्रद्धया परया सर्वैर्हृदये तन्निधीयताम् ॥२१॥

इस प्रसङ्ग में मैं दयाभाव से प्रेरित होकर सबसे पहले स्वास्थ्यसंपत्ति की प्राप्ति के लिए उपाय-रूप से दो मन्त्रों को बतलाता हूँ। महात्माओं ने इन मन्त्रों के प्रभाव को अपने अनुभव में देखा है। ये तत्काल फल देनेवाले हैं। इनको स्वास्थ्य-प्राप्ति के लिए रसायन ही समझना चाहिए। सब लोगों को इन दोनों मन्त्रों को बड़ी श्रद्धा से हृदय में धारण करना चाहिए।

स्वास्थ्य के लिए दो मन्त्र

(ओम्) 'स्वस्थोऽहं सर्वथा स्वस्थः स्वस्थो नैवात्र संशयः।
स्वस्थः सदा भविष्यामि सत्यमेतद् व्रतं मम' ॥२२॥

(ओम्) 'सूर्येण वायुना चैव देवैरन्यैश्च सर्वदा।
रक्षितः सखिभावेन स्वस्थोऽहं नात्र संशयः' ॥२३॥

दोनों मन्त्रों का अनुवाद

'ओम्' = अर्थात् परमात्मा को स्मरण करता हुआ मैं कहता हूँ :— 'मैं स्वस्थ हूँ; सर्वथा स्वस्थ हूँ। मैं स्वस्थ हूँ—इसमें कोई संदेह नहीं है। मैं सदा स्वस्थ रहूँगा—यह मेरा सच्चा व्रत है'।

'ओम् = अर्थात् परमात्मा को स्मरण करता हुआ मैं कहता हूँ :—'सूर्य, वायु तथा अन्य देवगण भी सदा सखा-रूप में मेरी रक्षा करते हैं। इसलिए मैं स्वस्थ हूँ, इसमें कोई सन्देह नहीं है'।

उक्त मन्त्रों की फलश्रुति

रोगेण महताक्रान्तो भूयोऽस्वास्थ्येन पीडित:।
वैद्यवृन्दैस्तथान्यैश्च भयमापादितोऽसकृत् ॥२४॥
एतन्मन्त्रद्वयं धैर्याद् हृदये धारयन्सदा।
नूनमुत्कृष्टमारोग्यं लभते नात्र संशय: ॥२५॥

बड़े रोग से आक्रान्त अथवा बार-बार अस्वास्थ्य से पीड़ित मनुष्य, जिसको बराबर वैद्यों ने तथा अन्य डाक्टरों आदि ने भय से आतुर कर रखा है, उक्त दोनों मन्त्रों को धैर्य-पूर्वक हृदय में धारण करता हुआ निश्चित रूप से उत्कृष्ट आरोग्य को पा लेता हैं, इसमें सन्देह नहीं है।

"अप्स्वन्तरमृतमप्सु भेषजम्" (ऋग्वेद १।२३।१९), अर्थात्, जलों में अमृत का वास है, वे औषध-स्वरूप हैं। "सविता··········अपामीवां बाधते" (ऋग्वेद १।३५।९), अर्थात्, सूर्य बीमारी को भगाता है। इत्यादि वेद-मन्त्रों से स्पष्ट है कि सूर्य आदि दैवी शक्तियाँ हमें स्वास्थ्य का प्रसाद देने के लिए सदैव सन्नद्ध रहती हैं।

उपाया: केचिदन्येऽपि हृदयंगमया गिरा।
कथ्यन्तेऽध: समासेन लोककल्याणकाम्यया ॥२६॥

संसार के कल्याण की इच्छा से प्रेरित होकर कुछ अन्य उपाय भी, हृदय को स्पर्श करने वाली भाषा में, नीचे संक्षेप में कहे जाते हैं—

[५]

हम शरीर के लिए नहीं है

स्वास्थ्य के मौलिक सिद्धान्तों का प्रतिपादन नीचे के पद्यों में किया गया है :—

ब्रह्मचर्यं महान् धर्मो ब्रह्मचर्यं परं तपः।
ब्रह्मचर्यप्रसादेन तमस्तरति दुस्तरम् ॥२७॥

शरीरमिदमस्मभ्यं न शरीरकृते वयम्।
तदेतत्तत्त्वतो ज्ञात्वा नरः कल्याणमश्नुते ॥२८॥

ब्रह्मचर्य महान् धर्म है। ब्रह्मचर्य परम तप है। ब्रह्मचर्य के प्रसाद से मनुष्य दुस्तर मोहान्धकार को तर जाता है।

'यह शरीर हमारे लिए है, हम शरीर के लिए नहीं हैं' इसको ठीक-ठीक समझ लेने से मनुष्य कल्याण को पाता है।

[६]

स्वास्थ्य की उपेक्षा

यात्रायां जीवनस्यास्य शरीरं रथ उच्यते।
इन्द्रियाणि हयानाहू रथस्यास्य मनीषिणः ॥२९॥

स्वस्थेनातः शरीरेण संयतैरिन्द्रियैर्व्रजन्।
लक्ष्यं यज्जीवनस्यात्र सुखं प्राप्नोति मानवः ॥३०॥

इस जीवन की यात्रा में मनीषी लोग शरीर को रथ और इन्द्रियों को घोड़े कहते हैं। इसलिए स्वस्थ शरीर तथा संयत इन्द्रियों से जीवनयात्रा करता हुआ मनुष्य सुख-पूर्वक अपने जीवन के लक्ष्य को पा सकता है।

तत्राहारविहारेषु तथा स्वप्नावबोधयोः।
व्यापारेषु तथान्येषु युक्तबुद्धिरपेक्ष्यते ॥३१॥

उसके लिए आहार-विहार में, सोने-जागने में तथा अन्य कामों में भी युक्त-बुद्धि की अपेक्षा होती है।

याथातथ्येन संपन्नं सर्वं कार्यं प्रशस्यते।
चर्यायां जीवनेऽप्यस्माद् याथातथ्यमपेक्ष्यते ॥३२॥

गीतायामेष एवार्थो युक्तशब्देन कथ्यते।
युक्ततैवोच्यते योगो योगः कर्मसु कौशलम् ॥३३॥

यातातथ्य या औचित्य से जो कार्य किया जाता है वह प्रशंसनीय होता है। इसलिए जीवन-चर्या में भी याथातथ्य की अपेक्षा है। भगवद्गीता में[१] इसी भावको 'युक्त' शब्द से कहा गया है। युक्तता अथवा औचित्य को ही योग कहा जाता है। क्योंकि काम करने में कुशलता का ही नाम 'योग' है।[२]

जानन्नप्यतिमूढोऽयं स्वास्थ्यस्य नियमानिमान्।
अतिक्रामन्नहो मोहादायुर्मर्माणि कृन्तति ॥३४॥

स्वास्थ्य के इन नियमों को जानता हुआ भी अतिमूढ मनुष्य इनका उल्लङ्घन करता है, और इस प्रकार यह आश्चर्य की बात है कि स्वयं अज्ञानवश अपनी आयु के मर्म-स्थलों को काटता है।

[७]

स्वास्थ्य-रक्षा[३]

शारीरं स्वास्थ्यमाश्रित्य सर्वमन्यत्प्रवर्तते।
ततः स्वास्थ्यस्य यत्नेन परिरक्षा विधीयताम् ॥३५॥

चारित्र्यं ब्रह्मचर्यं च संयमः श्रम एव च।
साधनं प्रथमं तस्य पौष्टिकाहार एव च ॥३६॥

जीवन में सब कुछ स्वास्थ्य पर निर्भर है। इसलिए यत्न से स्वास्थ्य की रक्षा करनी चाहिए। स्वास्थ्य-रक्षा के मुख्य साधन हैं : चारित्र्य ब्रह्मचर्य, संयत जीवन, श्रम और पौष्टिक भोजन।

---

१. तु० "युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु। युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा ॥" (भगवद्गीता ६।१७।)

२. तु० "योगः कर्मसु कौशलम्" (भगवद्गीता २।५०)।

३. आरोग्य के सम्बन्ध में महाविद्वान् वाग्भट का यह पद्य सदा स्मरणीय है—

नित्यं हिताहारविहारसेवी समीक्ष्यकारी विषयेष्वसक्तः।
दाता समः सत्यपरः क्षमावान् आप्तोपसेवी च भवत्यरोगः ॥

[८]

सफल जीवन-यात्रा

यथोच्चैर्गगने गच्छन् पक्षी दृश्यैरनेकशः।
अनाकृष्टः प्रयात्येव स्वाभीष्टं स्थानमग्रतः ॥३७॥

तथैव जीवने दृश्यैर् नैकैरादर्शमात्मनः।
अविस्मरन् निरातङ्को विचरेद्विजितेन्द्रियः ॥३८॥

जैसे गगन में ऊँचाई पर उड़ता हुआ पक्षी, विभिन्न प्रकार के दृश्यों से आकृष्ट न होकर, अपने अभीष्ट स्थान की ओर आगे बढ़ता ही जाता है; इसी प्रकार मनुष्य को, विभिन्न दृश्यों के कारण अपने आदर्श को न भुलाते हुए और इन्द्रियों को वश में रखते हुए, निरसंदिग्ध भाव से जीवन-यात्रा करनी चाहिए।

[९]

इन्द्रियसंयम

इन्द्रियाणां प्रसङ्गेन प्रजा नित्यं विमोहिताः।
यममन्दिरसान्निध्यं स्वयं यान्तीति विस्मयः! ॥३९॥

मूलं प्रायेण रोगाणामिन्द्रियाणामसंयमः।
संयमस्तु पुनस्तेषामारोग्याय बलाय च ॥४०॥

इन्द्रियाश्वान् वशीकृत्य नियतं नियतात्मना।
जीवनाध्वानुसर्तव्यः कल्याणमभिलष्यता ॥४१॥

वश्येन्द्रियस्तदर्थान् वै भुञ्जानो न विषीदति।
जीवनस्य च साफल्यं लभते नात्र संशयः ॥४२॥

यह आश्चर्य की बात है कि इन्द्रियों में प्रसक्ति के कारण मोह और भुलावे में पड़कर मनुष्य स्वयं मृत्यु के घर के समीप पहुँचते रहते हैं!

इन्द्रियों के असंयम से ही प्रायः रोग हुआ करते हैं। परन्तु उनके संयम से मनुष्य आरोग्य और बलको प्राप्त करता है।

जीवन की यात्रा में इन्द्रियाँ घोड़ों के समान हैं। इसलिए आत्मकल्याण चाहनेवाले मनुष्य को चाहिए कि वह संयम-नियम से रहता हुआ ही इन्द्रिय-रूपी घोड़ों को वश में रखकर जीवन के मार्ग पर चले।

इन्द्रियों को वश में रखकर उनके विषयों का उपभोग करने वाला विषाद को प्राप्त नहीं होता। वह निस्संदेह अपने जीवन को सफल बना सकता है।

[१०]

जीवन की सफलता

निम्नस्थ पद्यों में शारीरिक स्वास्थ्य के आधार पर ही जीवन की सफलता हो सकती है, यह बतलाते हैं—

आदाय मानसं स्वास्थ्यं शारीरं तत्प्रवर्तते।
शारीरं स्वास्थ्यमादाय मानसं संप्रसीदति ॥४३॥

रहस्यं परमं हेयतज्जीवनस्य कृतार्थता।
उत्तरोत्तरमुत्कर्षस्तत्रैवास्ते न संशयः ॥४४॥

भद्रं जीवन्नुपेयान्ना जरणामिति या श्रुतिः।
स्वारस्यं वर्तते तस्या अत्रैवेति विपश्चितः ॥४५॥

दिव्यं तज्जीवनं नूनं शाश्वते पथि गच्छताम्।
पुण्यं यशस्यमायुष्यं लक्ष्यं सत्साधनं च तत् ॥४६॥

मानसिक स्वास्थ्य अर्थात सच्चरित्रता के आधार पर ही शारीरिक स्वास्थ्य की प्राप्ति हो सकती है। इसी तरह शारीरिक स्वास्थ्य के आधार पर ही सच्चरित्रता का विकास होता है।

यह परम रहस्य है। जीवन की सफलता और उत्तरोत्तर उत्कर्ष की यही कुंजी है।

श्रुति[1] (वेद) में जो यह कहा गया है कि मनुष्य कल्याणमय और स्वस्थ जीवन व्यतीत करता हुआ ही वृद्धावस्था को प्राप्त करे', उसका अन्तरभिप्राय भी यही है।

उत्तरोत्तर उत्कर्ष की अनन्त यात्रा पर चलने वालों के लिए वास्तव में यही दिव्य जीवन है। यह पवित्र है तथा यश और आयुको बढ़ानेवाला है। उक्त जीवन को हम अपना लक्ष्य भी कह सकते हैं और लक्ष्य की प्राप्ति का साधन भी।

'स्वास्थ्य-संपत्ति' प्रकरण के अन्त में वाज (= बल या शक्ति) की महिमा का वर्णन, वैदिक पद्धति में लिखित, निम्नस्थ रचना में, किया गया है। सच्चे शारीरिक बल अथवा शक्ति की साधना स्वास्थ्य-संपत्ति पर ही निर्भर है।

[११]

'वाजसूक्तम्' अर्थात् वैदिक शक्ति-साधना

वैदिक विचार-धारा की दृष्टि से वाज (= बल या शक्ति) की प्रार्थनाओं का बड़ा महत्त्व है।

उन्हीं प्रार्थनाओं के आधार पर, एक ही स्थान में शतशः मन्त्रों की उत्कृष्ट भावनाओं के एकत्रीकरण के उद्देश्य से, वैदिक छन्द, शब्दावली, शैली और विचार-धारा के अनुसार, प्रकृत वाज-सूक्त की रचना की गयी है।

वाजस्य नु प्रसवे तं महान्त-
मिन्द्रं देवं वृत्रहन्तारमीडे।
विश्वकर्माणं मघवानमुग्रं
सायं प्रातर्मन्मना वज्रहस्तम् ॥४७॥

वाज या शक्ति की प्रेरणा के उद्देश्य से मैं, सायं और प्रातः, स्तोत्र द्वारा वृत्र अथवा बाधक शक्तियों के निवारक उन महान् देव इन्द्ररूप परमात्मा की स्तुति करता हूँ, जो विश्वकर्मा, मघवा (ऐश्वर्यशाली), उग्र और वज्रहस्त हैं।

---

१. दे० "भद्रं जीवन्तो जरणामशीमहि" (ऋग्वेद १०।३७।६)।

यस्ते वाजो निहितो वाजपते !
अग्नौ सूर्ये वायावथ स्रोत्यासु ।
तेन नो वाजिन् ! वाजवतो विधेहि ॥४८॥ (याजुषी रचना)

हे शक्ति के एकमात्र स्रोत परमात्मन् ! जो आपकी अनन्त शक्ति अग्नि में, सूर्य में, वायु में और प्रवहणशील नदियों में कार्य कर रही है, भगवन् ! उससे आप हम सबको शक्तिशाली बनाइए ।

आज विज्ञान ने सिद्ध कर दिया है कि वायु आदि भौतिक पदार्थों में अनन्तानन्त शक्ति निहित है और उसका उपयोग भी विश्व के व्यावहारिक हित के लिए किया जा सकता है ।

इसी सिद्धान्त का विवरण नीचे की ऋचा में किया गया है—

वाजेन सूर्यस्तम आ भिनत्ति
वाजेन वायुस्तरसा प्रवाति ।
वाजेन विद्युद् द्योतते सशब्दं
वाजेन नद्यः प्रवहन्ति वेगात् ॥४९॥

वाज से ही सूर्य अन्धकार को दूर करता है,
वाज से ही वायु बल-पूर्वक चलता है ।
वाज से ही विद्युत् कड़कड़ाहट के साथ चमकती है,
और वाज से ही नदियाँ वेग के साथ बहती हैं ।

वाजेन वीरा विजयं लभन्ते
वाजेनेन्द्रो जायते वृत्रहन्ता ।
वाजेन विश्वं रुच्यमादधाति
वाजं विना परितो वर्धते तमः ॥५०॥

बल द्वारा ही वीरजन विजय को प्राप्त करते हैं । बल या शक्ति द्वारा ही समुन्नति-शील व्यक्ति (इन्द्र) अपने लक्ष्य की समस्त बाधाओं (वृत्र) को दूर कर करता है । बल और शक्ति के होने पर समस्त संसार दीप्ति से युक्त अर्थात् रोचक प्रतीत होता है । और शक्ति के अभाव में निर्बल व्यक्तियों को अपने चारों ओर अन्धकार ही अन्धकार फैलता हुआ दीखता है ।

वाजः पृथिव्यां दिवि चान्तरिक्षे
वाजो विश्वं भुवनमाविवेश।
आधींश्च व्याधींश्च निवारयन्तो
वाजेन शत्रून् सहसा जयेम ॥५१॥

वाज पृथ्वी, द्युलोक और अन्तरिक्ष लोक में विद्यमान है। वाज समस्त सृष्टि में प्रारम्भ से ही व्याप्त हो रहा है। हम अपने मानसिक कष्टों और शारीरिक व्याधियों को निवारण करते हुए, वाज से समस्त आन्तरिक तथा बाह्य शत्रुओं पर सहसा विजय-लाभ करें।

वाजो हि मा सर्ववीरं करोतु
सर्वा आशा वाजपतिर्जयेयम्।
वाजः पुरस्तादुत पृष्ठतो मे
सर्वा आशा वाजपतिर्भवेयम् ॥५२॥

मेरे सब पुत्र-पौत्रादि बल से युक्त हों और मैं बलशाली होता हुआ समस्त दिशाओं में विजय प्राप्त करूँ। मेरे सामने बल हो और मेरे पीछे भी बल हो। इस प्रकार बल से युक्त होकर मैं समस्त दिशाओं में सफलता और समृद्धि को पाऊँ।

अगली रचना में, जो यजुरात्मक है, यह बतलाया है कि बल को पाकर मैं किन-किन महान् लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए उसका उपयोग करना चाहता हूँ—

धीतिश्च मे क्रतुश्च मे, वाक् च मे मनश्च मे,
ओजश्च मे सहश्च मे, शर्म च मे वर्म च मे,
आत्मा च मे तनूश्च मे, महिमा च मे वरिमा च मे,
सत्यं च मे श्रद्धा च मे, क्रीडा च मे मोदश्च मे,
सूक्तं च मे सुकृतं च मे, व्रतं च मे तपश्च मे
वाजेन कल्पन्ताम् ॥ ५३ ॥

भगवन्! शक्ति से संपन्न होकर मैं यही चाहता हूँ कि मैं अपने जीवन में उदात्त लक्ष्यों और गुणों को प्राप्त कर सकूँ; जैसे—

मुझ में उदात्त विचार (धीति) और उनको कार्यरूप में परिणत करने का संकल्प या शक्ति (क्रतु) दोनों हों!

मुझ में वाक्शक्ति के साथ-साथ विचार-शक्ति भी हो !

मुझ में बल (ओज:) और उसके द्वारा दूसरों को प्रभावित करने की शक्ति (सह:) दोनों हों !

मुझमें कल्याण-भावना (शर्म) और आत्मरक्षा की शक्ति (वर्म) दोनों हों !

मेरी आध्यात्मिक उन्नति के साथ-साथ शारीरिक उन्नति भी हो !

महत्त्व के साथ-साथ मेरे प्रभाव-क्षेत्र की भी वृद्धि हो !

सत्यानुसन्धान के साथ-साथ मुझ में श्रद्धा की भावना भी हो !

मैं निर्दोष क्रीडाओं में भाग लेता हुआ मोद-प्रमोद को प्राप्त करूँ !

मुझे सूक्तों-सुभाषितों का ज्ञान हो और साथ ही मेरा आचरण भी तदनुसार हो !

मैं व्रतों के पालन द्वारा तप अर्थात् कष्ट-सहिष्णुता का अभ्यासी बनूँ !

इस प्रकार वैदिक शक्ति-साधना का लक्ष्य अपने में उत्कृष्ट गुणों का संपादन करना है न कि दूसरों को सताना या पीडा देना ।

हमारा कर्तव्य है कि इस प्रकार वैदिक आदर्शों का अनुसरण करते हुए हम "जीवा ज्योतिरशीमहि" (ऋग्वेद ७।३२।२६) = सत्य के प्रकाश को इसी जीवन में सतत अनुभव करें ।

।। इति जीवनज्योतिषि स्वास्थ्यसंपत्तिर्नाम पञ्चमो रश्मि: ।।

षष्ठो रश्मिः

कर्म-दर्शनम्

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतꣳसमाः ।
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे ॥

(यजुर्वेद ४०।२)

इन्द्र इच्चरतः सखा (ऐतरेयब्राह्मण ७।१५)



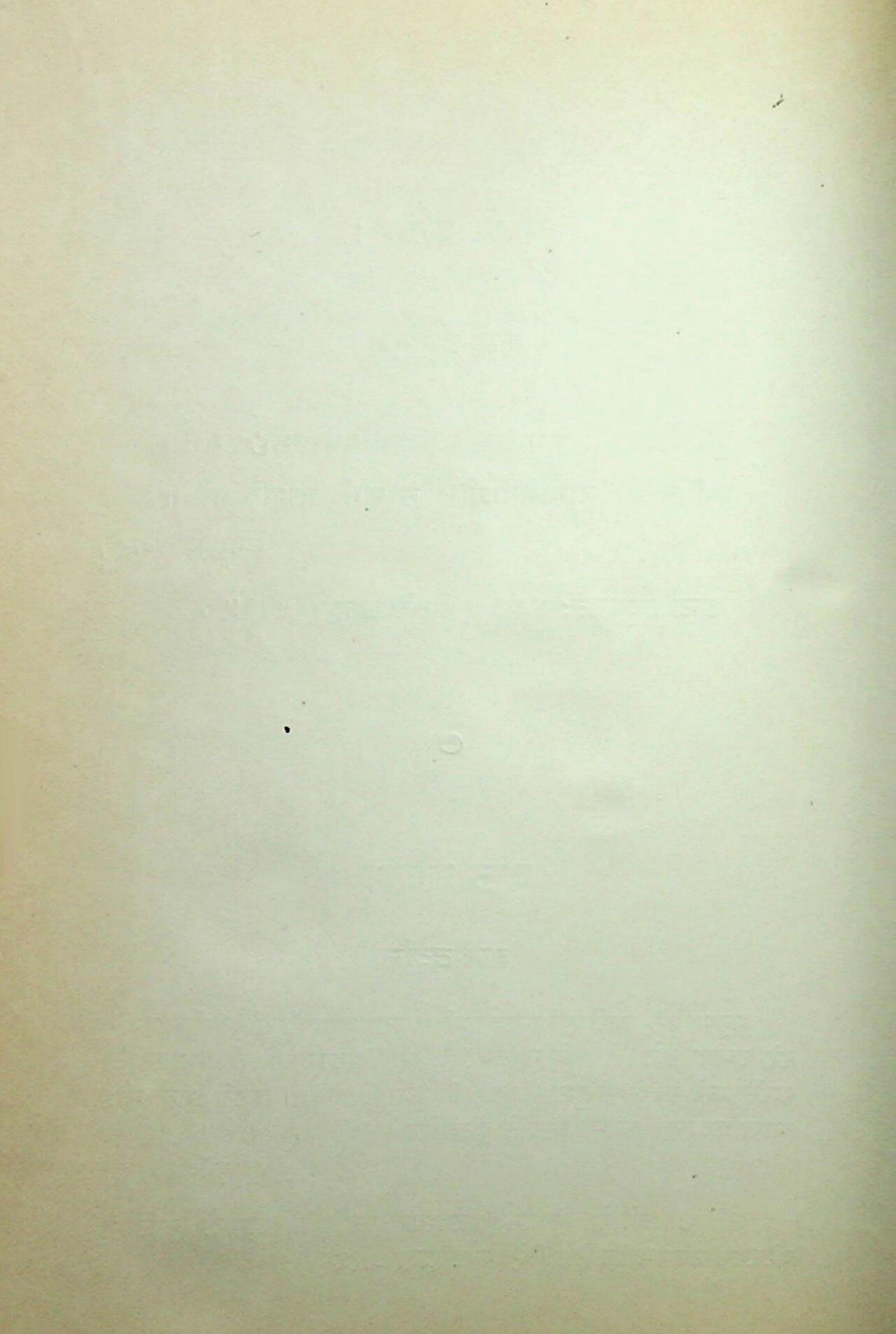
षष्ठ रश्मि

कर्म-दर्शन

मनुष्य को चाहिए कि वह कर्म करता हुआ ही सौ वर्ष तक जीने की इच्छा करे। (अयि मानव !) इसी प्रकार (कर्तव्य-भावना से कर्म करने से ही) तुझ में कर्म लिप्त नहीं होगा। इससे भिन्न कोई दूसरा प्रकार (कर्म-वासना से छूटने का) नहीं है।

(यजुर्वेद ४०।२)

सब शक्तियों के निधान परमेश्वर उसी की सहायता करते हैं जो स्वयं उद्यम-शील है। (ऐतरेयब्राह्मण ७।१५)



कर्म-दर्शन

नर उवाच

स्वास्थ्यचारित्र्यसंपत्त्योर्महिमानमिमं मुखात्।
श्रुत्वा भगवतो धन्यमात्मानमवधारये ॥ १ ॥

आशावादमुपाश्रित्य व्रतपालनतत्परः।
दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः ॥ २ ॥

कृती विद्वान् सत्यनिष्ठश्चारित्र्येण च संयुतः।
उत्तरोत्तरमुत्कर्षस्यादर्शमनुपालयन् ॥ ३ ॥

जनो जीवनयात्रायाः साफल्यमधिगच्छति।
इत्येतदुपरिष्टाद्वै भवता प्रतिपादितम् ॥ ४ ॥

तथापि जीवनव्रज्याविषये संशयाकुले।
नानावादैः प्रसंकीर्णे मायामोहतमोमये ॥ ५ ॥

किंकर्तव्यविमूढात्मा पतितो मानवः कथम्।
प्रवर्ततेति कृपया भवान् व्याख्यातुमर्हति ॥ ६ ॥

कर्म कुर्वन्ननासक्तः शतं वर्षाणि मानवः।
जिजीविषेच्छ्रुतेरेवमुपदेशोऽपि विद्यते ॥ ७ ॥

तस्यापि विषये व्याख्यां कृत्वा देव कृपान्वितः।
अज्ञानतमसा मूढाञ्जनांस्त्वं त्रातुमर्हसि ॥ ८ ॥

भगवान् के मुख से स्वास्थ्य-संपत्ति तथा चारित्र्य-संपत्ति की उपर्युक्त महिमा को सुनकर मैं अपने को धन्य मानता हूँ।

आशावाद का आश्रय लेकर व्रतों के पालन में तत्पर, दुःखों में जिसका मन उद्विग्न नहीं है और सुखों में जिसकी स्पृहा नहीं है, ऐसा कृती (कर्मशील), विद्वान्, सत्यनिष्ठ, चारित्र्य से युक्त, उत्तरोत्तर उत्कर्ष के आदर्श का अनुसरण करनेवाला व्यक्ति जीवन की यात्रा में सफलता प्राप्त करता है यह आपने ऊपर प्रतिपादित किया है।

तो भी, संशयों से व्याप्त, विभिन्न वादों से संकीर्ण और माया तथा मोह के अन्धकार से व्याप्त जीवन-यात्रा में संलग्न किं-कर्तव्य-विमूढ मानव क्या करे ? कैसे प्रवृत्त हो ? कृपया इसकी व्याख्या कीजिये ।

श्रुति का यह उपदेश भी है कि मनुष्य अनासक्त भाव से कर्म करता हुआ सौ वर्ष तक जीने की इच्छा करे ।

भगवन् ! कृपापूर्वक इस विषय की भी व्याख्या करके आप अज्ञान के अन्धकार में डूबे हुए लोगों की रक्षा कर सकते हैं ।

नारायण उवाच

धन्योऽसि वत्स येनाद्य प्रश्न एष त्वया कृतः ।
तत्समाधानमुद्दिश्य वच्मि त्वां कर्मदर्शनम् ॥९॥

श्री नारायण ने कहा

वत्स ! तुम धन्य हो, जो तुमने आज यह प्रश्न किया है । उसके समाधान की दृष्टि से मैं कर्म-दर्शन का उपदेश तुम्हें करता हूँ ।

[१]

कर्म-मार्ग की श्रेष्ठता

"कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छत ᳪ समाः ।"

(यजुर्वेद ४०।२)

अर्थात्, मनुष्य को चाहिए कि वह इस संसार में कर्म करता हुआ ही सौ वर्ष तक जीने की इच्छा करे ।

केवल शुष्क ज्ञान या निरीह शुभ-संकल्पों से ही मनुष्य अपने जीवन को सफल नहीं बना सकता । उनकी वास्तविकता की परीक्षा कर्म की कसौटी पर ही हो सकती है । इसी सिद्धान्त का प्रतिपादन नीचे के पद्य में किया गया है—

नैव चिन्तनमात्रेण कार्यं सिध्यति किंचन ।
श्रेष्ठत्वं कर्ममार्गस्य श्रुतौ तस्माद्विधीयते ॥१०॥

केवल सोचने मात्र से कोई भी कार्य सिद्ध नहीं हो जाता । इसीलिए ऊपर दी हुई श्रुति में मनुष्य के लिए कर्म-मार्ग की श्रेष्ठता का प्रतिपादन किया गया है ।

[२]

हम अदीन रहें

"अदीनाः स्याम शरदः शतम् ।
भूयश्च शरदः शतात् ।"

(यजुर्वेद ३६।२४)

अर्थात्, हम सौ वर्ष तक और सौ वर्ष से भी अधिक काल तक बराबर अदीन रहें ।

हम जीवन के महत्त्व को समझें और दीनता के भाव से अपने को दूर रखते हुए सदा उन्नति-पथ पर आगे बढ़ते रहें—इसी विषय का प्रतिपादन नीचे के पद्य में किया गया है—

दृष्ट्वाप्यनन्तप्रसरां मानवो गतिमात्मनः ।
आश्चर्यं मूढतादोषाद् दीनं हीनं च मन्यते ॥११।

मनुष्य आत्मा की (अथवा अपनी) प्रगति या उन्नति के अनन्त प्रसार (= विस्तार) को देखकर भी, आश्चर्य है, अज्ञान के दोष के कारण, अपने को दीन और हीन समझता है !

[३]

ज्ञान-पुरस्सर कर्म का महत्त्व

"विद्यां चाविद्यां च यस्तद्वेदोभयँ सह ।
अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययामृतमश्नुते" ॥
(यजुर्वेद ४०।१४)

अर्थात्, विद्या (= ज्ञान) और अविद्या (= कर्म) इन दोनों के सहभाव को जो जानता है, वह कर्म द्वारा मृत्यु (= जीवन की अपूर्णता) को दूर करके ज्ञान द्वारा अमृतत्व को प्राप्त कर लेता है ।

कर्मणा रहितं ज्ञानं पङ्गुना सदृशं भवेत् ।
न तेन प्राप्यते किंचिन् न च किंचित्प्रसाध्यते ॥१२॥

कर्म से रहित ज्ञान एक पंगु के समान होता है । उससे न तो कोई वस्तु प्राप्त की जा सकती है, न कोई कार्य सिद्ध किया जा सकता ।

एवं ज्ञानेन हीनं यत् कर्मान्धेन समं स्मृतम् ।
मार्गो वा मार्गलक्ष्यं वा नैव तस्य प्रतीयते ॥१३॥

इसी तरह ज्ञान से रहित कर्म को एक अन्धे के सदृश समझना चाहिए । उसको मार्ग अथवा मार्ग का लक्ष्य कुछ भी प्रतीत नहीं होता ।

कर्मणा मनसा वाचा कर्तव्यं कर्म कुर्वतः ।
तस्मादेवेष्टसंसिद्धिश्चतुरस्रा प्रजायते ॥१४॥

इसीलिये ठीक-ठीक इष्ट की प्राप्ति उसी मनुष्य को होती है जो मन वाणी और कर्म से अपने कर्तव्य कर्म को करता है। अर्थात्, ज्ञानपुरस्सर कर्म से ही इष्ट की सिद्धि होती है।

उभाभ्यामेव पक्षाभ्यां पक्षिणां खे यथा गतिः ।
तथैव ज्ञानकर्मभ्यां स्वेष्टसिद्धिः प्रजायते ॥१५॥

जैसे आकाश में पक्षियों की गति (उड़ान) दोनों ही पक्षों से होती है, इसी प्रकार ज्ञान और कर्म दोनों के सहारे से ही मनप्य के अभीष्ट की सिद्धि होती है।

[४]

वर्तमान की उपेक्षा

वस्तुतो वर्तमानं यज् जगत्तत्परिहाय हा !
प्रायेण कल्पनालोके विचरन्तीह मानवाः ॥१६॥

यह खेद का विषय है कि मनुष्य वस्तुतः वर्तमान या उपस्थित कर्तव्य के जगत् को छोड़कर प्रायेण कल्पना के लोक में ही घूमा करते हैं।

उपस्थितं परित्यज्यानुसरन्तोऽनुपस्थितम् ।
मन्दप्रज्ञा हि वर्तन्ते बुधस्तान्नाभिनन्दयेत् ॥१७॥

मन्दबुद्धि लोग ही उपस्थित को छोड़कर अनुपस्थित के पीछे दौड़ा करते हैं। समझदार मनुष्य को चाहिए कि उन लोगों को बढ़ावा न दे।

वर्तमानं समालम्ब्य वर्तते यदनागतम् ।
उपेक्षा वर्तमानस्य तस्मान्नैवोपयुज्यते ॥१८॥

भविष्य का आधार वर्तमान ही होता है। इसलिए वर्तमान की उपेक्षा करना किसी प्रकार भी युक्त नहीं है।

[५]

मनुष्य को जो प्राप्तकाल है वही करना चाहिए

"कस्तद्वेद यदद्भुतम्" (ऋग्वेद १।१७०।१)

अर्थात्, जो अभी तक नहीं हुआ है उसे कौन जानता है ?

यदतीतमतीतं तत् सन्दिग्धं यदनागतम् ।
तस्माद् यत्प्राप्तकालं तन्मानवेन विधीयताम् ॥१६॥

जो अतीत है वह हो चुका है, जो अनागत है वह संदिग्ध है। इसलिए मनुष्य को वही करना चाहिए जो प्राप्तकाल है।

[६]

कर्म के फल को ईश्वर पर छोड़ना

"ईशावास्यमिद ॐ सर्वं……तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा:"
(यजुर्वेद ४०।१)

अर्थात्, सारे विश्व में अन्तर्यामी भगवान् व्याप्त हैं।…कर्म करने पर ईश्वर द्वारा जो फल प्राप्त हो उसीका तुम उपभोग करो।

मनुष्य कर्म करके उसके फल के लिए व्यग्र न हो, इसका उपाय यही है कि वह कर्म करके उसके फल को ईश्वर पर छोड़ दे। इसी सिद्धान्त का प्रतिपादन युक्ति-पुरःसर नीचे के पद्यों में किया गया है।

लक्ष्यमुद्दिश्य यत्किञ्चित् कर्म प्रारभते जनः ।
प्रायेण तत्फलावाप्ताववशः कालमीक्षते ॥२०॥

मनुष्य किसी लक्ष्य के उद्देश्य से ही कर्म करता है। परन्तु उसके फल की प्राप्ति प्रायः उसके हाथ में नहीं होती और उसके लिए उसे प्रतीक्षा करनी पड़ती है।

तत्कालं तत्फलस्याप्तिः प्रायेण नहि दृश्यते ।
किंचित्कालं प्रतीक्षा हि फलावाप्त्या अपेक्ष्यते ॥२१॥

उसके फलकी प्राप्ति प्रायेण तत्काल नहीं देखी जाती। फल-प्राप्ति के लिए कुछ काल तक प्रतीक्षा करनी ही पड़ती है।

प्रतीक्षासमये तस्मिन् व्यग्रता निष्प्रयोजना।
यतस्तस्याः फलप्राप्तौ कारणत्वं न विद्यते ॥२२॥

उस प्रतीक्षा के समय में चित्त की व्यग्रता नितरां व्यर्थ है, क्योंकि फलकी प्राप्ति में वह व्यग्रता कुछ भी सहायक नहीं होती।

कर्म कृत्वा ततस्तस्य फलप्राप्तावनुत्सुकः।
प्रसन्नश्च निरुद्वेगः स्वस्थ आसीत पण्डितः ॥२३॥

इसलिए बुद्धिमान् मनुष्य को कर्म करके उसके फल की प्राप्ति में उत्सुकता और उद्वेग को छोड़कर प्रसन्नचित्त और शान्त रहना चाहिए।

प्रभौ कर्मफलन्यासस्तस्मै फलसमर्पणम्।
शरणागतिरप्येषा भक्तानां परिभाषया ॥२४॥

भक्तों की परिभाषा में उक्त मानसिक स्थिति को ही 'कर्मफल को भगवान् पर छोड़ना' या 'कर्मफल को भगवान् के लिए अर्पित कर देना', अथवा 'भगवान् की शरण में जाना' इस प्रकार कहा जाता है।

अभिप्राय यह है कि युक्ति और भक्ति दोनों की दृष्टि से मनुष्य को कर्म करके उसके फल के लिए उद्विग्नता को छोड़कर शान्त और प्रसन्नचित्त ही रहना चाहिए।

[७]

भगवान् में विश्वास

"सः·········याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधात्।"

(यजुर्वेद ४०।८)

अर्थात्, हमारे जीवन के ईश्वर-प्रदत्त पदार्थों में योग्यता और औचित्य का आधार होता है।

मनुष्य को कर्तव्य-बुद्धि से कर्म करते हुए उसके फलको समस्त विश्व को नियन्त्रण में रखने वाले कारुणिक भगवान् के निर्णय पर ही छोड़ देना चाहिए। किस कर्म में किसी फल के देने की कितनी और कैसी योग्यता है, इसका निर्णय कर्म करने वाला स्वयं नहीं कर सकता।

इसी विषय का प्रतिपादन नीचे के पद्यों में किया गया है—

कर्तव्यं कर्म कुर्वन्तो यावद्धि पुरुषायुषम्।
वर्तेरन् मानवाः सर्व इत्येषा वैदिकी श्रुतिः ॥२५॥

मनुष्यों को अपने जीवन-पर्यन्त कर्तव्य कर्मों को करते रहना चाहिए—ऐसा वेद[1] में कहा गया है !

समुद्योगपरैर्भाव्यं जीवने मानवैः सदा।
परमुद्योगसीमाया धीमान् ध्यानं न विस्मरेत् ॥२६॥

मनुष्यों को जीवन में उद्योग अवश्य करना चाहिए। परन्तु बुद्धिमान् मनुष्य को यह भी ध्यान में रखना चाहिए कि फल के विषय में उद्योग की अपनी सीमा भी होती है। अर्थात्, किसी उद्योग का अभीष्ट फल अवश्य ही होगा या सदा एक-सा ही फल होगा, यह नहीं कहा जा सकता।

गर्भागतस्य सर्वस्य स्वीययत्नानपेक्षया।
ते ते भावा नियम्यन्त एतत् कस्य तिरोहितम् ॥२७॥

गर्भावस्था में आये हुए प्राणी की अनेक बातों का नियन्त्रण, अपने यत्न के बिना ही, किसी दूसरी शक्ति द्वारा होता है, यह किससे छिपा है ?

स्वास्थ्यं बुद्धिस्तथावस्था संपत्तेरथवेतरा।
शरीरस्याकृती रूपं पितरौ च कुलं तथा ॥२८॥

सर्वस्यापि जनस्यैतज्जीवनेऽतिप्रभावकृत्।
तथापि सर्व एवात्र विषये विवशा ध्रुवम् ॥२९॥

स्वास्थ्य, बुद्धि, संपत्ति, दारिद्र्य, शरीर की आकृति, रूप, माता-पिता और कुल—इन सबका मनुष्य के जीवन पर बहुत बड़ा प्रभाव पड़ता है। तो भी, जन्म के समय इनके विषय में सब कोई विवश होते हैं।

---

१. तु० 'कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः' (यजुर्वेद ४०।२)

अभिप्राय यह है कि जन्म के समय मनुष्य के स्वास्थ्य, बुद्धि आदि कैसे हैं, इसमें उसका यत्न कुछ नहीं होता। स्पष्टत: इनका नियन्त्रण किसी दूसरी शक्ति द्वारा होता है और उस नियन्त्रण को बरबस सबको मानना ही पड़ता है।

एवमुद्योगकालेऽपि तत्फलं प्रत्यनुत्सुकः।
नियन्तुर्जगतां पत्युस्तिष्ठेद् विश्वासमाश्रितः ॥३०॥

इसी प्रकार उद्योग करते समय भी मनुष्य को चाहिए कि वह, उसके फल के सम्बन्ध में उत्सुकता और उद्विग्नता को छोड़कर, सबको नियन्त्रण में रखने वाले विश्वपति भगवान् के विश्वास के सहारे पर ही रहे।

वर्तमानेन संतुष्टस् तथाप्युन्नत्यभीप्सया।
समुद्योगपरस्तिष्ठेत् फलं न्यस्य परात्मनि ॥३१॥

मनुष्य को वर्तमान से सन्तुष्ट रहते हुए भी, उन्नति की इच्छा से उद्योग में तत्पर होना चाहिए। साथ ही उसे उद्योग के फल को परमात्मा पर छोड़कर रहना चाहिए।

तदेतज्जीवनस्याहू रहस्यं परमं बुधाः।
तज्ज्ञात्वा येऽनुवर्तन्ते भवबाधास्तरन्ति ते ॥३२॥

विद्वानों के अनुसार जीवन का परम रहस्य यही है। इसको समझ कर जो इसका अनुसरण करते हैं वे सांसारिक यातनाओं को पार कर जाते हैं।

[८]

स्वर्गीय धर्म-राज्य

"अग्ने नय सुपथा········युयोध्यस्मज्जुहुराणमेनः।"

(यजुर्वेद ४०।१६)

अर्थात्, हे प्रकाशमय भगवन्, हमें छल-कपट के पाप से बचाकर सीधे-सरल सत्य-मार्ग से ले चलिए।

हमारे धार्मिक कृत्यों और प्रतिदिन के लौकिक जीवन में परस्पर कोई घनिष्ठ सम्बन्ध नहीं है, ऐसी धारणा प्राय: सर्वत्र फैली हुई है। मनुष्य के नैतिक विकास के लिए यह कितनी घातक है, यह कौन नहीं जानता? उक्त धारणा के दुष्प्रभाव को ही दृष्टि में रखकर नीचे के पद्यों में 'धार्मिक कृत्यों की वास्तविक उपयोगिता मनुष्य के लौकिक जीवन में पवित्रता के लाने में ही है' इस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया गया है।

देवपूजाविधिं लोका: कर्तव्यत्वेन कुर्वते।
तथैव लौकिकं कर्म कर्तव्यमिति मन्यताम् ॥३३॥

लोग देवपूजा को कर्तव्य-बुद्धि से करते हैं। देवपूजा से अतिरिक्त, जीविकादि-सम्बन्धी लौकिक कामों को भी उसी प्रकार कर्तव्य समझ कर ही करना चाहिए।

यावन्त्यपि हि कर्माणि बुद्ध्या कुर्वन्ति मानवा:।
चारित्र्यस्य विनिर्माणे सामर्थ्यं तेषु विद्यते ॥३४॥

मनुष्य जिन-जिन कामों को भी बुद्धि-पूर्वक करते हैं उन सब में चारित्र्य के निर्माण का सामर्थ्य होता है।

इस दृष्टि से जीविकादि-सम्बन्धी लौकिक कामों और धार्मिक कृत्यों में परस्पर कोई भेद नहीं हो सकता। क्योंकि, दोनों में एक-सा ही चरित्र के निर्माण का सामर्थ्य है।

ततश्च लौकिकं कर्म विभिन्नं धर्मकृत्यत:।
एतादृशी मतिर्येषां भ्रान्तास्ते, नात्र संशय: ॥३५॥

इस लिए लौकिक कर्म धार्मिक कृत्य से विभिन्न होता है, ऐसा जिनका विचार है उनको निस्सन्देह भ्रान्त समझना चाहिए।

लौकिकान्यपि कर्माणि कुर्वन् धर्मं न विस्मरेत्।
एतावदेव माहात्म्यं धर्मकृत्येषु नो मतम् ॥३६॥

हमारे मत में धार्मिक कृत्यों का महत्त्व केवल इतने में ही है कि मनुष्य लौकिक कर्मों को करते हुए धर्म को न भूल जावे।

अभिप्राय यह है कि धार्मिक कृत्यों और लौकिक कर्मों का क्षेत्र परस्पर असंबद्ध नहीं है। धार्मिक कृत्यों की वास्तविक महत्ता और उपयोगिता इसी

में है कि हमारा लौकिक जीवन पवित्र और धार्मिक हो। इसके बिना धार्मिक कृत्य केवल दम्भ और पाखण्ड का रूप धारण कर लेते हैं। इसी की पुष्टि नीचे के पद्यों में एक दृष्टान्त से की गयी है—

व्यायामं प्रत्यहं कृत्वा लब्ध्वा स्वास्थ्यं निरामयम्।
यथा लौकिककार्याणि साफल्येन प्रकुर्वते ॥३७॥

एवमेवानुतिष्ठद्भिर्धर्मकृत्यानि मानवैः।
लौकिकं यत्स्वकं कर्म धर्मबुद्ध्या विधीयताम् ॥३८॥

जैसे व्यायाम करने वाले प्रतिदिन व्यायाम इसीलिए करते हैं कि उससे शारीरिक आरोग्य तथा स्वास्थ्य का लाभ करके अपने लौकिक कामों को सफलता-पूर्वक कर सकें, इसी प्रकार धार्मिक कृत्यों को करने वाले लोगों को चाहिए कि वे अपने लौकिक कामों को धर्म-बुद्धि से ही करें।

लौकिकान्यपि कर्माणि यदा कर्तव्यबुद्धितः।
रुच्या चोत्साहसंपत्त्या विधास्यन्ति जनास्तदा ॥३९॥

धर्मराज्यस्थितिः स्वर्ग्या शान्तिर्मूर्त्तिमती ध्रुवा।
मुनिभिर्बहुधा गीता लोकेऽस्मिन् प्रचरिष्यति ॥४०॥

जब मनुष्य अपने लौकिक कामों को भी कर्तव्य-बुद्धि से, रुचि से और उत्साह से करने लगेंगे, तभी इस पृथ्वी पर स्वर्गीय धर्मराज्य स्थापित होगा और मुनियों द्वारा अनेक प्रकार से उपवर्णित स्थायी शान्ति मूर्तिमती होकर विचरेगी।

[९]

बुद्धि और भावना का संघर्ष

"श्रद्धा सत्यं तदित्युत्तमं मिथुनम्। श्रद्धया सत्येन
मिथुनेन स्वर्गाँल्लोकान् जयति।" (ऐतरेयब्राह्मण ७।१०)

अर्थात्, श्रद्धा (भावना-मूलक) और सत्य (बुद्धि-मूलक) की उत्तम जोड़ी है। श्रद्धा और सत्य की जोड़ी से मनुष्य दिव्य लोकों को प्राप्त कर लेता है।

भावना और बुद्धि के विरोध से होने वाली हानि और उनके समन्वय से होने वाले लाभ का वर्णन नीचे के पद्यों में किया गया है—

बुद्धिभावनयोर्द्वन्द्वं जीवने दृश्यतेऽनिशम् ।
खिन्नतानुभवस्तस्मात् प्रायः कस्य न जायते ? ।।४१।।

जीवन में बुद्धि (Intellect) और भावना (Sentiment) का पारस्परिक संघर्ष बराबर देखने में आता है। उस संघर्ष के कारण ऐसा कौन होगा जिसको खेद का अनुभव प्रायः न होता हो ?

नीचे बुद्धि और भावना के स्वरूप को दिखाते हुए उनके समन्वय के प्रकार और आवश्यकता को बतलाते हैं—

भावनाया गतिर्धर्मो बुद्धेर्दर्शनमुच्यते ।
पङ्ग्वन्धयोः समस्तस्मात्तयोः सम्बन्ध इष्यते ।।४२।।

भावना का धर्म गति है, और बुद्धि का दर्शन है। इसलिए पंगु और अन्धे के सम्बन्ध के समान ही उनका सम्बन्ध माना जाता है।

भावनाप्रसरे दुःखं बुद्धौ निष्क्रियता भवेत् ।
समन्वयस्तयोस्तस्मादेष्टव्यो भूतिमिच्छता ।।४३।।

भावना के आवेग में दुःख और बुद्धि में निष्क्रियता होती है। इसलिए अभ्युदयाकांक्षी को उन दोनों के समन्वय के लिए यत्न करना चाहिए।

भावना प्रेरणां दद्याद् बुद्धिर्मार्गं प्रदर्शयेत् ।
समन्वये तयोरेवं जनः कल्याणमश्नुते ।।४४।।

भावना और बुद्धि में समन्वय के हो जाने पर, भावना से प्रेरणा प्राप्त होती है और बुद्धि कर्तव्य-मार्ग को दिखाती है। इस प्रकार उनके समन्वय से मनुष्य कल्याण को प्राप्त होता है।

[१०]

जीवन-यात्रा में तीर्थ-यात्रा की समानता

जीवनमेतदभीष्टं यत्तल्लक्ष्यं तदधिगन्तुम् ।
साधनमुक्तमभिज्ञैः सदसन्निर्धारणे दक्षैः ।।४५।।

तीर्थं पुण्यं जिगमिषुर्यात्री सच्छ्रद्धयोपेतः।
संयतचित्तः सततं याति तथा जीवनव्रज्या ॥४६॥

मार्गे दृश्यं मनोज्ञममनोज्ञं भीषणं वास्तु।
उत्साहवांस्तथापि यात्री लक्ष्यं प्रयात्येव ॥४७॥

एवं कस्याविदितं सुषमा विषमाः परिस्थितयः।
नूनं सर्वजनानां जीवनमार्गे समायान्ति ॥४८॥

लक्ष्यैकदत्तचित्तोऽध्यवसायी सत्त्ववान् प्राज्ञः।
मोहं तत्रागच्छन् साफल्यं जीवने लभते ॥४६॥

तस्मात्सततममूढो लक्ष्यं परमं समधिगन्तुम्।
जीवनमेतदमूल्यमित्येवं चिन्तयेत्प्राज्ञः ॥५०॥

मनुष्य का जो अभीष्ट लक्ष्य है उसकी प्राप्ति के लिए सत् और असत् (= अच्छा और बुरा) के निर्धारण में समर्थ विद्वानों ने इस जीवन को साधन बतलाया है।

पवित्र तीर्थ को जाने के लिए इच्छुक यात्री विशुद्ध श्रद्धा से युक्त तथा बराबर संयत-चित्त होकर यात्रा करता है, वैसी ही बात जीवन-यात्रा के विषय में हैं।

मार्ग में आने वाला दृश्य सुन्दर असुन्दर अथवा भीषण भले ही हो। तथापि (तीर्थ-) यात्री उत्साह के साथ अपने तीर्थ-रूप लक्ष्य की ओर चलता ही जाता है।

इसी तरह, कौन नहीं जानता है, अनुकूल तथा प्रतिकूल परिस्थितियाँ सब मनुष्यों के जीवन-मार्ग में निश्चय रूप से आती हैं।

उन-उन परिस्थितियों में मोह को न प्राप्त हो कर एकमात्र लक्ष्य पर चित्त को लगाने वाला, धीर तथा उत्साही बुद्धिमान् मनुष्य जीवन में सफलता को प्राप्त कर लेता है।

इस लिए बराबर जागरूक बुद्धिमान् मनुष्य को यही सोचना चाहिए कि परम लक्ष्य की प्राप्ति के लिए यह जीवन अमूल्य साधन है।

॥ इति जीवनज्योतिषि कर्मदर्शनं नाम षष्ठो रश्मिः ॥

सप्तमो रश्मिः

सन्नीति-निदर्शनम्

अग्ने नय सुपथा राये अस्मान्......
युयोध्यस्मज्जुहुराणमेनः ॥

(यजुर्वेद ४०।१६)

मा प्र गाम पथो वयम्

(ऋग्वेद १०।५७।१)



सप्तम रश्मि

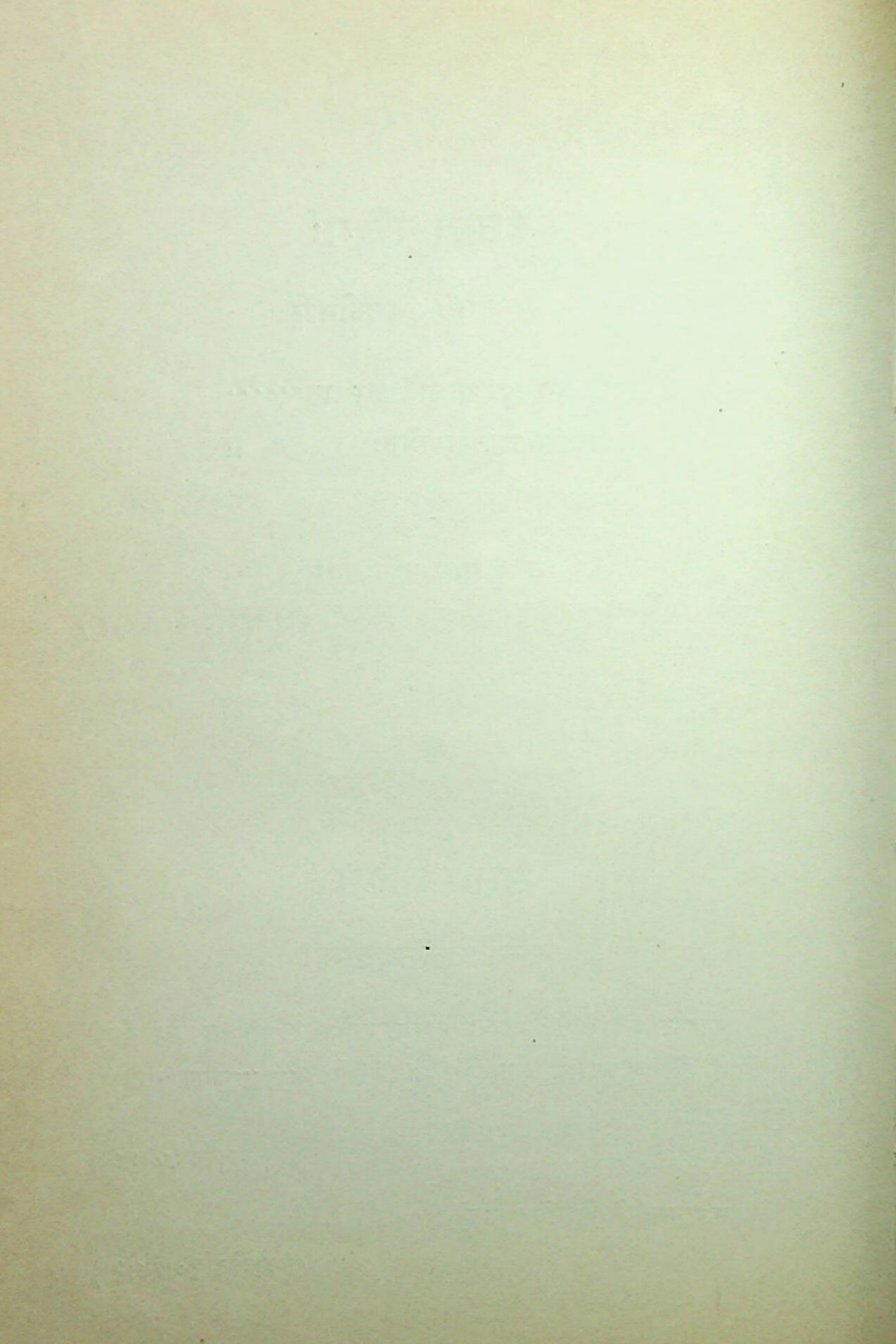
सन्नीति-निदर्शन

प्रकाश-स्वरूप देव ! आध्यात्मिक उत्कर्ष और भौतिक ऐश्वर्य की प्राप्ति के लिए आप हमें सन्मार्ग से ले चलिए। ... ... आप पाप को हमसे हटाइए ॥

(यजुर्वेद ४०।१६)

हम सन्मार्ग से विचलित न हों !

(ऋग्वेद १०।५७।१)



सन्नीति-निदर्शन

नर उवाच

जीवनस्यास्य यात्राया विषये ये मनीषिणः।
तेऽपि संशेरते प्रायो विमूढाः कर्मणः पथि ॥ १ ॥

तत्र यद्भवता प्रोक्तमद्‌भुतं कर्मदर्शनम्।
किंकर्तव्यविमूढानां नूनं तन्मार्गदर्शनम् ॥ २ ॥

परं तथापि लोकेऽत्र व्यवहारेऽनुवर्तने।
दर्शनस्यास्य सुमहत् काठिन्यमनुभूयते ॥ ३ ॥

तत्तद्व्यक्तिस्वभावानां प्रसङ्गानां च भेदतः।
नीतिशास्त्रोपदेशानां वैविध्यमुपलभ्यते ॥ ४ ॥

सतां मार्गमुपाश्रित्य या सन्नीतिर्मता ततः।
ब्रूहि तां कृपया देव! लोककल्याणकाम्यया ॥ ५ ॥

नर ने कहा

जो मनीषी हैं वे भी इस जीवन की यात्रा के संबन्ध में, कर्म के मार्ग में भ्रान्त होने के कारण, प्रायः संशयग्रस्त पाये जाते हैं।

इस संबन्ध में आप ने जो अद्भुत कर्म-दर्शन की व्याख्या की है वह निश्चय ही कर्तव्याकर्तव्य को न समझने वालों के लिए मार्ग को दिखाने वाली है।

पर तो भी इस लोक के व्यावहारिक जीवन में उक्त कर्म-दर्शन के संबन्ध में बड़ी कठिनता का अनुभव होता है।

तत्तद् व्यक्तियों के स्वभावों के तथा प्रसङ्गों के भेद से नीति-शास्त्र के उपदेशों की विविधता देखने में आती है।

इसलिए सत्पुरुषों के मार्ग का आश्रय ले कर जो सन्नीति मानी जाती है, भगवन्! लोक-कल्याण की कामना से कृपया उसे बतलाइए।

नारायण उवाच

श्रुत्वा ते जिज्ञासां हृद्यामेतामतीव सुप्रीतः।
नीतिं सतामभिमतां वक्ष्ये त्वां वत्स! श्रूयताम्॥ ६॥

श्री नारायण ने कहा

तुम्हारी इस मनोरम जिज्ञासा को सुन कर मुझे अत्यन्त प्रसन्नता हो रही है। हे वत्स! सत्पुरुषों द्वारा अभिनन्दित नीति को तुमसे कहता हूँ। उसे सुनो!

[१]

सज्जन-प्रशंसा

परितापेन दुःखानां तप्तानां प्राणिनां भृशम् ।
कल्याणार्थाय संनद्धा ये तान् वयमुपास्महे ॥ ७ ॥

दुःखों के परिताप से अत्यन्त संतप्त प्राणियों के कल्याण के लिए जो संनद्ध हैं, उन सन्त-महात्माओं की हम अर्चना करते हैं ।

कदर्थितोऽपीह खलेन साधुर् हितं परेषां नियतं करोति ।
मुहुर्मुहुश्चन्दनमङ्ग ! घृष्टं मनोरमं सौरभमातनोति ॥ ८ ॥

दुष्ट मनुष्य द्वारा पीडित होने पर भी साधु मनुष्य सदा दूसरों की भलाई करता है । देखिए, बारबार घिसने पर चन्दन मनोज्ञ सुगन्ध को फैलाता है ।

इक्षोः प्रवृत्तेरनुगामिनस्ते सन्तो महान्तो विचरन्ति लोके ।
प्रपीडितोऽपीक्षुरमन्दमोदं रसप्रदानेन सदा तनोति ॥ ९ ।

संसार में महान् सत्पुरुष इक्षु के स्वभाव का अनुसरण करने वाले होते हैं । इक्षु पेरे जाने पर भी रस देकर सदा विशेष आनन्द का प्रसार करता है ।

पदं वरेण्यं समुशन्ति सन्तोऽसन्तः पुनस्तद्विपरीतभावाः ।
गृध्रः श्मशाने रमते स्वभावाद् हंसः पुनर्मानसमेव भुङ्क्ते ॥१०॥

सत्पुरुष वरणीय उत्तम पद को चाहा करते हैं । असज्जनों का स्वभाव उनसे विपरीत होता है । गृध्र स्वभाव से श्मशान में प्रसन्न होता है, पर हंस प्रसन्नता के लिए मानस-सरोवर का ही सेवन करता है ।

क्षोभं प्रयाता अपि नैव सन्तो दुष्टामशिष्टां गिरमुद्गृणन्ति ।
दुष्टाः प्रसन्ना अपि शीलयुक्तां वक्तुं न जातु प्रभवन्ति वाचम् ॥११॥

सज्जन क्षुब्ध होने पर भी अशिष्ट और दुष्ट वाणी का व्यवहार नहीं करते हैं। दुष्ट लोग प्रसन्नता में भी शीलयुक्त वाणी को कभी नहीं बोल सकते।

न दुर्जनानामपकृत्यमन्तः सतां कदाचित्पदमादधाति।
पादाहतोऽप्येष तरुर्विशालश् छायाश्रितानामपहन्ति तापम् ॥१२॥

दुर्जनों का अपकार सत्पुरुषों के हृदय में कभी स्थान नहीं पाता। यह सामने का विशाल वृक्ष, पैरों से ताडित होने पर भी, अपनी छाया में आश्रितों के ताप को दूर कर देता है।

समुज्ज्वलं प्रेम हि सज्जनानां दिने दिने पोषमुपैति नूनम्।
स्थिरस्वभावं सुतरामुदारं ह्रासोन्मुखत्वं भजते न जातु ॥१३॥

सज्जनों का समुज्ज्वल अर्थात् विशुद्ध प्रेम दिन-प्रतिदिन पुष्ट होता जाता है। स्थिर-स्वभाव और स्वार्थ की भावना से रहित होने के कारण वह कभी ह्रासोन्मुख नहीं होता।

आपन्निमग्ना अपि साधुवर्या हरन्ति दुःखानि सदा परेषाम्।
आच्छादितोऽहर्पतिरासमन्तादभ्रैस्तमो वारयतीह नूनम् ॥१४॥

साधु-स्वभाव वाले सज्जन, स्वयं आपत्तियों से ग्रस्त होते हुए भी, सदा दूसरों के दुःखों को दूर करते हैं। सब ओर से बादलों से ढका हुआ भी सूर्य अन्धकार को अवश्य दूर कर देता है।

सङ्गः सतां शर्मशतानि सूते सङ्गोऽसतां तद्विपरीतवृत्तिः।
यस्तेजसां यस्तमसां स्वभावो भेदस्तयोः सर्वजगत्प्रसिद्धः ॥१५॥

सत्पुरुषों का संग अनेक कल्याणों को जन्म देता है। असज्जनों का संग उससे उलटा ही होता है। प्रकाश के स्वभाव और अन्धकार के स्वभाव में जो अन्तर है उसे सब कोई जानते हैं।

सत्सङ्गमे तिष्ठति यन्महत्त्वं तज्ज्ञायते दुर्जनसंगमेन।
सुखं हि दुःखानुभवेन भाति दीपप्रकाशोऽपि घनान्धकारे ॥१६॥

सत्संग का जो महत्त्व है वह दुर्जन के संग से ही जाना जाता है। सुख का स्वरूप दुःख के अनुभव से ही प्रतीत होता है; एवं घोर अन्धकार में ही दीप के प्रकाश का महत्त्व स्पष्ट होता है।

नीचोऽपि सङ्गेन सतां जनानां महत्त्वमासादयति प्रकामम्।
समुद्रशुक्तौ गतमम्बुदानां प्राप्नोति मुक्ताफलतां जलं तत् ॥१७॥

सज्जनों के सङ्ग से नीच मनुष्य भी विशेष महत्त्व को प्राप्त कर लेता है। यह प्रसिद्ध है कि समुद्र की शुक्ति में पड़ा हुआ बादलों का जल मोतियों के रूप में परिवर्त्तित हो जाता है।

[२]

असज्जनों का स्वभाव

असज्जनः पापनिबद्धबुद्धिस्तस्मै न कोपावसरः प्रदेयः।
क्षेपेण पङ्के विदितं शिलाया वस्त्राणि नूनं मलिनीभवन्ति ॥१८॥

असज्जन की बुद्धि पाप में लगी रहती है। उसको कोप का अवसर न देना चाहिए। यह सब जानते हैं कि कीचड़ मे पत्थर के फेंकने से कपड़े मैले हो जाते हैं।

बहूपकारैरुपसेवितोऽपि कृतज्ञतां नैव खलो बिभर्त्ति।
सुवर्णकुम्भेन पयोनिषेकान् माधुर्यमाप्नोति न निम्बवृक्षः ॥१९॥

अनेक उपकारों से उपकृत होने पर भी दुष्ट मनुष्य कृतज्ञ नहीं होता। सुवर्ण के घड़े से पानी सींचने से नीम के वृक्ष में मिठास नहीं आता है।

श्रुत्वैव वाणीरुपदेशभाजो दुष्टा बुधानां सहसा त्यजन्ति।
मालाकृता संग्रथितं सुपुष्पैर्मृद्नन्ति माल्यं कपयो मनोज्ञम् ॥२०॥

दुष्ट लोग विद्वानों के उपदेश-भरे वचनों को सुनते ही तत्काल छोड़ देते हैं। माली द्वारा अच्छे फूलों से बनायी हुई सुन्दर माला को बन्दर मसल डालते हैं।

दुष्टाशयानामसतां हि सङ्गः फलं प्रसूते नितरामवद्यम्।
भुजङ्गमानां पतितं मुखान्तः स्वातेर्जलं याति विषत्वमेव ॥२१॥

दुष्ट अभिप्राय वाले असज्जनों का सङ्ग अत्यन्त निकृष्ट फल को पैदा करता है। सर्पों के मुख के अन्दर गिरा हुआ स्वाति नक्षत्र का जल विष बन जाता है।

सङ्गेन दुष्टस्य सतामपीह मानस्य हानिर्भवतीति दृष्टम्।
वक्रस्य लोहस्य निषेवणेन घनस्य घातं सहते कृशानुः ॥२२॥

दुष्ट के सङ्ग से सज्जनों के भी मान की हानि देखी जाती है। टेढ़े लोहे के सेवन से अग्नि को हथौड़े की चोट सहनी पड़ती है।

मलीमसा मत्सरिणः सहन्ते नैवापरेषां खलु भाग्यवृद्धिम् ।
संवीक्ष्य चन्द्रस्य रुचिं रजन्यां न जातु मोदं लभते हि चौरः ॥२३॥

ईर्ष्यालु स्वभाव के दुष्ट लोग दूसरों की भाग्य-वृद्धि को नहीं सह सकते । रात्रि में चन्द्रमा के प्रकाश को देख कर चोर को कभी प्रसन्नता नहीं होती ।

[३]

विद्या-वन्दना

विद्या समुन्नतिपथं विशदीकरोति
बुद्धिं विचारविषये प्रखरीकरोति ।
कर्तव्यपालनपरां धियमादधाति
विद्या सखा परमबन्धुरपीह लोके ॥२४॥

विद्या उन्नति के मार्ग को स्पष्टतया दिखाती है; विद्या विचारणीय विषयों में बुद्धि को तीक्ष्ण करती है; विद्या बुद्धि को कर्तव्य-पालन में तत्पर बनाती है; विद्या इस लोक में सखा और परम-बन्धु के समान है ।

रूपं प्रसिद्धं न बुधास्तदाहुर्विद्या मता वस्तुत एव रूपम् ।
अपेक्षया रूपवतां हि विज्ञा मानं लभन्तेऽतितरां जगत्याम् ॥२५॥

संसार में जिस को रूप कहा जाता है विद्वान् लोग उस को रूप नहीं मानते । वे तो विद्या को ही वास्तविक रूप समझते हैं । क्योंकि, रूपवानों की अपेक्षा संसार में विद्वान् लोग ही अधिक मान-सत्कार को पाते हैं ।

धनं धनं नैव मतं बुधानां विद्यैव वित्तं मतमस्ति तेषाम् ।
चौरो न यां चोरयितुं समर्थो भूपोऽपहर्तुं न च यां समर्थः ॥२६॥

विद्वान् लोग धन को धन नहीं समझते । उनके मत में तो विद्या ही वास्तव में धन है । क्योंकि विद्या को न तो चोर चुरा सकता है, न राजा ही उसको छीन सकता है ।

विद्या सकाशादपि प्राकृतस्यादेया सदा स्याद्यदि सा वरिष्ठा ।
स्थानेऽप्यपूते पतितं सुवर्णं के नाम लोकेऽत्र परित्यजन्ति ? ॥२७॥

उत्तम विद्या को साधारण व्यक्ति से भी सदा ले लेना चाहिए। अपवित्र स्थल में भी पड़े हुए सुवर्ण को संसार में कोई नहीं छोड़ता।

अवाप्य विद्यां विनयेन शून्या अहंयवो दुर्जनतां व्रजन्ति।
दुग्धस्य पानेन भुजङ्गमानां विषस्य वृद्धिर्भुवनप्रसिद्धा ॥२८॥

विनय-भाव से शून्य अभिमानी लोग विद्या को पाकर दुर्जनता को धारण कर लेते हैं। संसार में यह बात प्रसिद्ध है कि दूध के पीने से सर्पों के विष की वृद्धि होती है।

[४]

याचना से अपमान

निरादरस्यास्पदमस्ति याच्ञा स्थानं हि मानो लभते न तत्र।
विश्वाधिपो वामनरूपधारी जातो बलेर् याचनतत्परः सन् ॥२९॥

याचना में निरादर रहता है। उसमें सम्मान के लिए कोई स्थान नहीं होता। विश्व के स्वामी भगवान् को भी बलि से याचना करते समय वामनरूप धारण करना पड़ा था।

श्रेष्ठः कदाचित्कृपणं कदर्यं न याचते कष्टशताकुलोऽपि।
किं चातको जातु पिपासयापि घटं जलं प्रार्थयते विषण्णः ? ॥३०॥

श्रेष्ठ मनुष्य सैकड़ों कष्टों से व्याकुल होने पर भी कभी कृपण नीच व्यक्ति से याचना नहीं करता। प्यास से व्याकुल होने पर भी क्या कभी चातक घड़े से जल की प्रार्थना करता है ?

[५]

सामर्थ्य की महिमा

सामर्थ्यभाजां बहवः सहाया न निर्बलानां भवतीह कश्चित्।
वह्निं प्रदीप्तं पवनः करोति दीपं पुनः प्रापयति क्षयं सः ॥३१॥

जो सामर्थ्यवान् हैं उनके अनेक सहायक होते हैं; निर्बलों का कोई भी नहीं। वायु अग्नि को प्रदीप्त करता है; परन्तु दीपक को बुझा देता है।

सामर्थ्यभाजां ननु वैरिणोऽपि भवन्ति नम्रा हितकाङ्क्षिणश्च।
वयस्यवर्या अपि दुर्बलानामुपेक्षया दूरत एव यान्ति ॥३२॥

जो सामर्थ्यवान् हैं उनके वैरी भी नम्र और हितैषी हो जाते हैं। अच्छे मित्र भी दुर्बलों की उपेक्षा करके दूर से ही चले जाते हैं।

वोढुं समर्था महतां महान्तो भारं गुरुं नैव तु हीनसत्त्वाः।
सालेषु बन्धो ननु कुञ्जराणामैरण्डवृक्षेषु न जातु दृष्टः ॥३३॥

बड़ों के भारी बोझे को बड़े ही वहन करने में समर्थ होते हैं; दुर्बल नहीं। साल के वृक्षों से हाथियों का बाँधना देखा जाता है; रेंड़ी के वृक्षों से कभी नहीं।

क्षुद्रैः समेत्यापि हि सत्त्वभाजां प्रभूयते नापकृतिं विधातुम्।
कुलं कदाचिन्नहि जम्बुकानां हन्तुं यथा केसरिणं समर्थम् ॥३४॥

क्षुद्र लोग इकट्ठे होकर भी सत्त्वशाली लोगों का अपकार करने में समर्थ नहीं होते; जैसे गीदड़ों का समूह भी सिंह के मारने में कभी समर्थ नहीं होता है।

[६]

सामान्य नीति

उत्कर्षमासादयितुं समर्था गुणैर्विशिष्टा न तु तैर्विहीनाः।
गुणेन युक्तेन घटेन नूनं कूपान्मनुष्या जलमाप्नुवन्ति ॥३५॥

गुणों से विशिष्ट व्यक्ति ही उत्कर्ष के पाने में समर्थ होते हैं; निर्गुण नहीं। 'गुण'-(अर्थात् रस्सी-)-युक्त घड़े से ही मनुष्य कुए से जल प्राप्त करते है।

विना श्रमं जातु जनो न कश्चित् श्रियं समासादयितुं समर्थः।
अतिप्रयासेन सुरासुरैर्हि लब्धानि रत्नानि समुद्रमध्यात् ॥३६॥

विना श्रम के कोई मनुष्य कभी भी लक्ष्मी को नहीं पा सकता। देवों और असुरों ने परिश्रम से ही समुद्र के मध्य से रत्नों को पाया था।

सुखं परं किं ? निजतन्त्रतैव, दुःखं परं किं ? परतन्त्रतैव ।
वनेषु कीराः सुखिनो भ्रमन्ति, दीनाः पुनः काञ्चनपञ्जरेषु ॥३७॥

बड़ा सुख क्या है ? स्वतन्त्रता ही । बड़ा दुःख क्या है ? परतन्त्रता ही । वनों में तोते प्रसन्नता से उड़ते फिरते हैं, पर स्वर्ण के भी पिंजड़ों में वे दीन-दुःखी रहते हैं ।

धनं धनं नैव मतं बुधानां, सन्तोष एवास्ति धनं वरीयः ।
सन्तोषहीना अपि वित्तवन्तः सुखेन निद्रां बत ! नो लभन्ते ॥३८॥

विद्वान् लोग धन को धन नहीं मानते; उनके लिए सन्तोष ही श्रेष्ठ धन है । सन्तोष से हीन धनवान् भी सुख की नींद नहीं सोते हैं ।

स्वल्पोऽपि दोषः समुपेक्षितश्चेदनर्थसन्तानमसौ प्रसूते ।
वह्नेः कणोऽरण्यपरम्परास्ता भस्मत्वमापादयितुं समर्थः ॥३९॥

उपेक्षित किया हुआ थोड़ा-सा भी दोष अनर्थ-परम्परा को पैदा कर देता है । अग्नि का कण बड़ी-बड़ी अरण्यपरम्पराओं को भस्म करने में समर्थ होता है ।

न भुज्यते नापि वितीर्यते चेदन्ते तदन्येऽपहरन्ति नूनम् ।
एवं च वित्तं कृपणस्य लोके तथा समानं मधु मक्षिकाणाम् ॥४०॥

यदि उपयोग नहीं किया जाता है और दान में भी उसे नहीं दिया जाता, तो अन्त में निश्चय ही दूसरे लोग उसका अपहरण करलेते हैं । इस प्रकार संसार में कृपण का धन और मधुमक्खियों का मधु दोनों समान होते हैं ।

कार्ये प्रवर्त्तेत फलं समीक्ष्य व्यथा न जायेत यथानुतापात् ।
तुल्यं तिलैः कः सिकताः प्रपीड्य तैलं समासादयितुं समर्थः ? ॥४१॥

परिणाम का विचार करके ही कार्य में प्रवृत्त होना चाहिए, जिससे पश्चात्ताप की व्यथा न उठानी पड़े । तिलों की तरह बालू को कोल्हू में पेल कर कौन तेल पा सकता है ?

कार्यस्वरूपावगमस्य कालः कार्यप्रवृत्तेः प्रथमं प्रदिष्टः ।
जाते विवाहे कुलशीलपृच्छां जामातृपक्षात्कुरुते नु कश्चित् ? ॥४२॥

जो काम करना है उसके स्वरूप को समझने के लिए उसके प्रारम्भ करने से पहले का ही समय ठीक कहा गया है। विवाह के हो जाने पर क्या कोई जामाता के पक्ष से उसके कुल और शील के विषय में पूछ-ताछ करता है?

कालानुकूल्येन विधीयमानं कार्यं हि साफल्यमुपैति नूनम्।
उप्तेषु बीजेष्वयथर्त्ववश्यं धनश्रमौ निष्फलतां प्रयातः ।।४३।।

काल की अनुकूलता को देख कर जो कार्य किया जाता है वह अवश्य सफलता को पाता है। प्रतिकूल ऋतु में बीजों के बोने से धन और श्रम दोनों व्यर्थ ही जाते हैं।

अनागतार्थं प्रसमीक्ष्यकारी संसिद्धिमासादयितुं समर्थः।
वह्निप्रदीप्ते भवने तु कूपं खनन् हि मूर्खो लभते न किंचित् ।।४४।।

अनागत (आने वाले) विषय का सम्यक् विचार करके जो कार्य करता है वही सफलता को पा सकता है। घर में आग लग जाने पर कुएँ को खोदने वाले मूर्ख जन को कुछ भी फल नहीं मिलता।

उपायगुप्तस्य नरस्य कश्चित् शत्रुर्न शक्तोऽपकृतं विधातुम्।
उपानहौ येन धृते न तस्य तापाय शक्ताः सिकताः प्रतप्ताः ।।४५।।

जो यथासमय उपाय से अपनी रक्षा कर लेता है, कोई भी शत्रु उसका कुछ नहीं बिगाड़ सकता। जिसने जूते पहिन रखे हैं, गरम बालू उसके पैरों को नहीं जला सकता।

कटुकौषधेन तुल्यमादौ कष्टप्रदाप्यन्ते।
आतन्वती जनानां हितमापत्तिर्भवेन्नूनम् ।।४६।।

आपत्ति, कटुक औषध के समान, आदि में कष्ट को देने वाली होते हुए भी, अन्त में निश्चय ही लोगों का हित करने वाली होती है।

शस्त्र-प्रयोगमातन्वन् स्फोटे शल्यचिकित्सकः।
कष्टं ददाति तत्कालं परिणामे हितावहः ।।४७।

शल्य-चिकित्सक (= चीड़-फाड़ करनेवाला चिकित्सक) फोड़े पर शस्त्र (= नश्तर) का प्रयोग करते हुए तत्काल तो कष्ट देता है, पर परिणाम में हित करने वाला ही होता है।

न विद्यया तथा कश्चिच्छोभां समधिगच्छति।
विद्यया प्राप्तबोधस्याचरणेन यथा नरः ।।४८।।

कोई मनुष्य विद्या से वैसी शोभा को नहीं पाता, जैसी शोभा को वह विद्या द्वारा प्राप्त बोध के आचरण से प्राप्र करता है।

मृत्योरात्मपरित्राणं तावन्न कठिनं मतम्।
यावत्पापात् परित्राणं मानवस्य भवेदिह ॥४९॥

मृत्यु से अपना परित्राण उतना कठिन नहीं माना जाता, जितना मनुष्य के लिए पाप से अपने को बचा लेना।

योग्यताया अभावं चेत्पश्येत्कार्यस्य कस्यचित्।
प्राज्ञ आत्मनि तद्भारं दूरतः परिवर्जयेत् ॥५०॥

प्राज्ञ मनुष्य को चाहिए कि यदि वह किसी कार्य के करने की योग्यता अपने में नहीं देखता है तो उसके भार को दूर से ही छोड़ दे।

अङ्गीकुर्वन्ति चेत्किंचित्कार्यं कर्तुं मनस्विनः।
जायन्ते तत्पराः पूर्णशक्त्याथोत्साहसंपदा ॥५१॥

मनस्वी लोग यदि किसी कार्य को करना स्वीकार कर लेते हैं, तो उसके करने में पूरी शक्ति और उत्साह से तत्पर हो जाते हैं।

संमानेन च संपत्त्या प्रभावेण च संयुतम्।
दृष्ट्वा दुष्कर्म मा मोहं! यासीस्त्वं क्षीणचेतनः ॥५२॥

दुष्कर्म (अर्थात् दुष्ट व्यक्ति) को संमान, संपत्ति और प्रभाव से युक्त देखकर, तुम मूर्खता-वश मोह को न प्राप्त होओ।

चाकचक्येन चकितो मा भूस्त्वं तद्विरूपताम्।
दुरन्तां किन्तु संपश्यन्दूरतः परिवर्जयेः ॥५३॥

तुम्हें (उक्त दुष्कर्म के) चाकचक्य (बाहरी टीप-टाप) से चकित न होना चाहिए। प्रत्युत उसकी दुष्परिणाम वाली वास्तविक विरूपता को देखते हुए उसे दूर से ही छोड़ देना चाहिए।

साहसोत्साहहीनस्त्वं मा गा निःसत्त्वतां तथा।
यथोत्थातुमशक्तो हि सकृत्पातेन जायसे ॥५४॥

साहस और उत्साह से हीन होकर तुम इस प्रकार निःसत्त्व न हो जाओ कि एक ही बार गिर कर फिर उठ खड़े होने में समर्थ न हो सको।

सुदृढोऽध्यवसायश्चेद्विजयो नियतस्तव।
निरुत्साहस्य वै पुंसो दुर्दशा संमुखे स्थिता ॥५५॥

यदि तुम्हारा अध्यवसाय दृढ़ है तो तुम्हारी विजय निश्चित है। जो मनुष्य उत्साह से हीन होता है, दुर्दशा उसके सामने खड़ी रहती है।

'सत्कार्यं शक्यते कर्तुं किमत्र विषये मया'?
स्वार्थमूढे जगत्यस्मिन् प्रश्न एष महांस्तव ॥५६॥

'इस विषय में मैं क्या अच्छा काम कर सकता हूँ?' स्वार्थ-साधन से मूढ इस जगत् में तुम्हारे सामने यह महान् प्रश्न है।

सौभाग्यं किं? कुतश्चैतद्? जिज्ञासा वर्तते यदि।
परिश्रमस्य सन्तानं तदवेहीति निश्चितम् ॥५७॥

सौभाग्य क्या है? सौभाग्य की प्राप्ति कैसे होती है? यदि ऐसी जिज्ञासा है, तो निश्चित रूप से यह समझ लो कि सौभाग्य परिश्रम की ही सन्तान है।

दुःखराशिर्मनुष्याणां योऽसावतिभयंकरः।
वस्तुमूल्यावबोधस्याभावस्तत्र हि कारणम् ॥५८॥

मनुष्यों के सामने दुःखों की अति भयंकर राशि का जो प्रश्न है, उसके संबन्ध में यही जान लेना चाहिए कि वस्तुओं के मूल्य का अज्ञान ही उसका कारण है।

चिन्तामणेर्वितन्वन्तः काचमूल्येन विक्रयम्।
हन्त! मूढा वयं सर्व इति कस्य तिरोहितम् ॥५९॥

काँच के मूल्य से चिन्तामणि की बिक्री करनेवाले हम सब मूढ हैं; यह दुःख की बात किससे छिपी है?

वर्तन्ते सख्यमाश्रित्य तपसः संयमस्य ये।
तेऽपेक्षन्ते न साहाय्यं धनिनामन्धचेतसाम् ॥६०॥

जो लोग तप और संयम के साथ मित्रभाव से रहते हैं (अर्थात् उनको अपने जीवन में अपनाते हैं), वे (धन के मद से) अन्ध-चेतस् धनियों से सहायता की अपेक्षा नहीं करते।

कार्यं किञ्चिदनुष्ठातुं योग्यश्चेद्वर्तते भवान्।
अपि सम्यगनुष्ठातुं तद्धि योग्यो भवान् ध्रुवम् ॥६१॥

यदि किसी कार्य को करने की योग्यता आप में है, तो उस कार्य को ठीक तरह से करने की योग्यता भी आप में निश्चय ही है।

पुरस्तादात्मनो नित्यमादर्शान्महतो बुधः।
स्थापयेच्चाधिगन्तुं तान् प्रयतेत निरन्तरम् ॥६२॥

बुद्धिमान् मनुष्य को चाहिए कि वह सदा महान् आदर्शों को अपने सामने रखे और निरन्तर उनको प्राप्त करने का यत्न करे !

जीवनस्य स्वकीयस्य सिद्धान्ता ये विनिश्चिताः।
रक्षां प्राणव्ययेनापि सन्तस्तेषां प्रकुर्वते ॥६३॥

अपने जीवन के जिन सिद्धान्तों को निश्चित कर लिया है, प्राणों को दे कर भी सत्पुरुष उनकी रक्षा किया करते हैं।

सत्येन धार्यते लोकः सत्ये सर्वं प्रतिष्ठितम्।
नहि सत्यात्परो धर्मो देवा सत्यमया मताः ॥६४॥

सत्य लोक को धारण किये हुए है। सत्य में सब प्रतिष्ठित है। सत्य से बढ़ कर कोई धर्म नहीं है। देवता भी सत्यमय माने जाते हैं।

कामं स्वार्थपरा लोका विवदन्तां परस्परम्।
तथाप्यन्यप्रतिष्ठाया अपवादो न युज्यते ॥६५॥

अपने अपने स्वार्थ में तत्पर लोग भले ही परस्पर विवाद करें; तो भी दूसरे की प्रतिष्ठा का अपवाद करना (= दूसरे को बदनाम करना) किसी दशा में उचित नहीं है।

सुस्थिरः सत्त्ववांस्तिष्ठेदापदां समुपस्थितौ।
नैवानमेद् दुर्बलः सन् कामं भज्येत धर्मवित् ॥६६॥

आपत्तियों के उपस्थित होने पर सत्त्वशाली धर्मज्ञ व्यक्ति को सुस्थिर रहना चाहिए। दुर्बल होकर उसे आनमित न होना चाहिए; टूट भले ही जावे।

हानिं विनैव पुष्पाणां भ्रमरो वर्णगन्धयोः।
आदत्ते मधु सामोदं गुञ्जन् मञ्जु मनोरमम् ॥६७॥

एवमेव मनुष्येण लोकरञ्जनपूर्वकम्।
सद्भावनासहायेन कार्यसिद्धिर्विधीयताम् ॥६८॥

हृदयहारी मञ्जु गुञ्जन करते हुए भ्रमर, फूलों के रंग और गन्ध की हानि किये बिना ही, आमोद के साथ मधु का ग्रहण करता है।

मनुष्य को इसी प्रकार लोक को प्रसन्न रखते हुए सद्भावना-पुरस्सर कार्य की सिद्धि करनी चाहिए।

सुरूपमपि निर्गन्धं यथा पुष्पं भवेत्तथा।
परोपदेशकुशलः स्वयमाचारवर्जितः ॥६९॥

रूपवन्ति सुगन्धीनि पुष्पाणीव जना हि ते।
येषां परोपदेशा वै स्वीयाचारोपशोभिताः ॥७०॥

जैसे कोई पुष्प सुन्दर होते हुए भी सुगन्ध-रहित हो, वैसी ही स्थिति उस मनुष्य की होती है जो दूसरों को उपदेश देने में कुशल होते हुए भी स्वयं तदनुसार आचरण नहीं करता।

वे मनुष्य जिनके परोपदेश स्वकीय आचरण से सुशोभित हैं, उन पुष्पों के समान होते हैं, जो सुन्दर होने के साथ-साथ सुगन्धित भी होते हैं।

उत्तिष्ठ जागृहि आर्तनिद्रया तन्द्रया च किम्?
जीवनस्यास्य साफल्यं जाग्रतामेव जायते ॥७१॥

भाई! उठो जागो! निद्रा और तन्द्रा से क्या लाभ है? इस जीवन में सफलता जागने वालों को ही प्राप्त होती है।

आर्तानां दुःखतप्तानां कृते व्यग्रा भवन्ति ये।
यथेषुविद्धगात्राणां स्वापस्तेषां कथं भवेत्? ॥७२॥

बाणों से विद्ध शरीर वालों के समान, पीडा-ग्रस्त तथा दुःख संतप्त प्राणियों के लिए जो व्याकुल हैं उन्हें नींद कहाँ आती है?

प्रमाद आत्मनोऽस्वास्थ्यमवसादस्तथैव च।
दुःखदारिद्र्यहानार्थं समुत्साहं समाश्रयेत् ॥७३॥

प्रमाद और अवसाद को आत्मा का अस्वास्थ्य समझना चाहिए। मनुष्य को चाहिए कि वह दुःख और दारिद्र्य को हटाने के लिए उत्साह का आश्रय ले।

शत्रोः प्रत्यपकारेण तत्साम्यं लभते नरः।
क्षाम्यंस्तस्यापकारं तु तत उत्कर्षमश्नुते ॥७४॥

अपकार के बदले में यदि मनुष्य शत्रु का अपकार करता है, तो वह उसी जैसा हो जाता है। परन्तु उसके अपकार को क्षमा करने से वह उससे उत्कर्ष को प्राप्त कर लेता है।

याद्दशं व्यवहारं त्वमन्यस्मात् स्वयमिच्छसि।
तथा तं प्रति वर्त्तेथा न्याय्ययेतत् सतां मतम् ॥७५॥

जैसा व्यवहार तुम दूसरे से अपने प्रति चाहते हो, तुम उसके साथ भी वैसा ही वर्ताव करो। सत्पुरुष इसी को न्याय-युक्त मानते हैं।

कष्टावस्थामुपेतश्चेत् किञ्चित् चिन्तयते भवान्।
परेशस्यानुकम्पाया वीजं तत्रोपलभ्यते ॥७६॥

कष्ट की अवस्था को प्राप्त होकर यदि तुम कुछ भी विचार करोगे, तो तुमको वहाँ परमेश्वर की अनुकम्पा का बीज दिखाई पड़ेगा।

नातिवादी भवेत्, सम्यक् चिन्तयित्वा वदेन्नरः।
तूष्णींभावः परा शिक्षा, नापृष्टः कस्यचिद् वदेत् ॥७७॥

मनुष्य बहुत न बोले। सम्यक् चिन्तन करके ही बोले। चुप रहना बड़ी शिक्षा है। बिना पूछे किसी के बीच में न बोले।

प्रथमं शृणुयात् पश्चात्तदर्थमवधारयेत्।
अनन्तरं प्रयुञ्जीत वचः सामयिकं बुधः ॥७८॥

बुद्धिमान् को चाहिए कि पहले सुने। पीछे उसके अर्थ पर विचार करे। तदनन्तर जो सामयिक वचन हो उसका प्रयोग करे।

वाक्यमेकं प्रयुञ्जीत श्रुत्वा वाक्यद्वयं बुधः।
विधात्रा रचिता यस्माज् जिह्वैका कर्णयोर्द्वयम् ॥७९॥

दो वाक्यों को सुन कर बुद्धिमान् मनुष्य एक वाक्य का प्रयोग करे। क्योंकि विधाता ने दो कानों के साथ एक ही जिह्वा की रचना की है।

केनापि सह वार्तायां नम्रस्त्वमवधारयेः।
यत्सोऽपि त्वत्समो बुद्ध्या नाधिकश्चेन्नु मन्यते ॥८०॥

किसी के साथ बातें करते हुए तुम नम्रता के साथ सोचो कि वह दूसरा व्यक्ति भी, बुद्धि में, यदि तुमसे अधिक नहीं, तो तुम्हारे बराबर तो है ही।

कस्यचिद् वस्तुनोऽवाप्त्यै मूल्येन रहितोऽसि चेत् ।
तदा तच्चिन्तया भ्रातर्मा गाः कातरतां मुधा ॥८१॥

किसी वस्तु को प्राप्त करने के लिए तुम्हारे पास यदि मूल्य नहीं है, तो भाई ! उसकी चिन्ता से व्यर्थ में ही व्याकुलता का अनुभव मत करो।

कस्यापि वस्तुनो दृष्ट्वा बाह्यमाडम्बरं महत् ।
न कर्तुं युज्यते सद्यः स्वरूपस्यावधारणम् ॥८२॥

किसी भी वस्तु के बाहरी महान् आडम्बर को देख कर तत्काल उसके स्वरूप का अवधारण कर लेना उचित नहीं है।

पदेन तेन को लाभो गौरवेणापि तेन किम् ?
विवेकान्धोऽभिमानेन जनो येन हि जायते ॥८३॥

उस पद तथा गौरव से भी क्या लाभ है, जिससे मनुष्य अभिमान के कारण विवेक से रहित हो जाता है।

दृष्ट्वा हान्यापदा वापि ग्रस्तानन्यान्, प्रसन्नताम् ।
मा गाः, संभाव्यते सैवावस्था ते भाग्यपर्ययात् ॥८४॥

दूसरों को हानि अथवा आपत्ति से ग्रस्त देख कर प्रसन्न न होओ, क्योंकि भाग्य के विपर्यय से तुम्हारी भी वही अवस्था हो सकती है।

कस्यापि वस्तु संवीक्ष्यास्वामिकं वापि यस्य वै ।
मनो न विक्रियां याति सदाचारी स मे मतः ॥८५॥

जिसका मन, किसी की वस्तु को, अथवा जिसका कोई स्वामी नहीं है ऐसी वस्तु को, देखकर विकार को नहीं प्राप्त होता है, मैं उसी को सदाचारी मानता हूँ।

महान्त आत्मनः ख्यातेर्विरताः, कारणं विना ।
सदाचारपरा ये वै ते ततोऽपि महत्तराः ॥८६॥

महान् पुरुष अपनी ख्याति से विरत होते हैं। परन्तु जो कारण के बिना अर्थात् स्वभाव से ही सदाचार का पालन करते हैं वे उनसे भी महान् होते हैं।

[७]

आशावाद तथा आत्मविश्वास

आशाया लक्षणं किं चेज्जिज्ञासा जायते, शृणु ।
आत्मानमीश्वरं वापि प्रत्यास्थाशा मता बुधैः ॥८७॥

आशा (=आशावाद) का लक्षण क्या है ? यदि ऐसी जिज्ञासा है, तो सुनिए—बुद्धिमान् लोग अपने प्रति अथवा ईश्वर के प्रति आस्था को ही आशा (आशावाद) मानते हैं ।

अशक्तं कष्टमापन्नं तमसा परितो वृतम् ।
निराशाराक्षसीग्रस्त आत्मानं मन्यते जनः ॥८८॥

असंशयमिदं वृत्तमज्ञानस्य विजृम्भितम् ।
उद्विग्नो जायते नूनं तिमिरैरावृतो जनः ॥८९॥

तत एतादृशे काले विद्वांस्तत्त्वसमीक्षकः ।
स्वरूपमात्मनः स्मृत्वा तदज्ञानं निवारयेत् ॥९०॥

उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत् ।
आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुर्मतमेतन्मनीषिणाम् ॥९१॥

आत्मैवाभिमतो नूनं केन्द्रमाधार एव च ।
सर्वस्याप्यस्य जगतो यतः सर्वं प्रवर्त्तते ॥९२॥

विनात्मानं शरीरस्य दुरवस्था प्रजायते ।
तिरस्कृत्य तथात्मानमुद्विग्नो जायते जनः ॥९३॥

निराशा रूप राक्षसी से जो मनुष्य ग्रस्त है वह अपने को अशक्त, कष्ट से घिरा हुआ और चारों ओर अन्धकार से आवृत समझता है ।

यह स्थिति अज्ञान से उत्पन्न होती है, इसमें संशय नहीं है । अन्धकार से घिरा हुआ मनुष्य निश्चय ही उद्विग्न हो जाता है ।

इसलिए ऐसे समय तत्त्वज्ञानी विद्वान् को चाहिए कि वह अपने स्वरूप का स्मरण करके उस अज्ञान का निवारण करे।

मनुष्य को चाहिए कि वह स्वयं अपना उद्धार करे। अपने को अवसाद में न डाले। क्योंकि मनीषियों का यह सिद्धान्त है कि आत्मा ही आत्मा का बन्धु है।

इस समस्त जगत् का वास्तव में आत्मा ही केन्द्र और आधार माना गया है। उससे ही सबकी प्रवृत्ति हो रही है।

आत्मा के विना शरीर की दुरवस्था हो जाती है। उसी प्रकार आत्मा के तिरस्कार से मनुष्य उद्विग्न हो जाता है।

॥ इति जीवनज्योतिषि सन्नीतिनिदर्शनं नाम सप्तमो रश्मिः ॥

अष्टमो रश्मिः

भाव-संशुद्धिः

तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु

(यजुर्वेद ३४।१)

कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षत्

(कठोपनिषद् २।१।१)



अष्टम रश्मि

भाव-संशुद्धि

(भगवन् !) मेरे मनके संकल्प कल्याणमय हों ।

(यजुर्वेद ३४।१)

कोई धीर बुद्धिमान् मनुष्य ही आत्म-समीक्षण में प्रवृत्त होता है ।

(कठोपनिषद् २।१।१)

भाव-संशुद्धि

नर उवाच

सतां नीतिमिमां श्रुत्वा साक्षाद्भगवतो मुखात् ।
धन्यंमन्यः कृतोत्साहः पुनरस्मि निवेदने ॥ १ ॥

विद्यते कर्मविषये जिज्ञासेयं मम प्रभो ।
महत्त्वं भावसंशुद्धेः कियत्तत्र हि वर्तते ॥ २ ॥

विनैव भावसंशुद्धिं कर्म चेत्कुर्वते नराः ।
का हानिस्तत्र को दोषः कृपयैतन्निगद्यताम् ॥ ३ ॥

नर ने कहा—

साक्षात् भगवान् के मुख से सत्पुरुषों की उक्त नीति को सुन कर मैं अपने को धन्य समझता हूँ। और इससे पुनः कुछ निवेदन करने का मुझे उत्साह हो रहा है।

हे प्रभो ! कर्म के विषय में मेरी यह जिज्ञासा है कि उसके संबन्ध में भाव-संशुद्धि का कितना महत्त्व है।

कृपया यह बतलाइए कि यदि भाव-संशुद्धि के बिना ही मनुष्य कर्म करते हैं तो उसमें हानि और दोष क्या है।

नारायण उवाच

प्रसन्नो नितरामस्मि प्रश्नेनानेन तच्छृणु ।
भावसंशुद्धिमाश्रित्य समाधानं यदुच्यते ॥ ४ ॥

अभिप्रायानुसारेण प्रत्येकं कर्मणः खलु ।
प्रभावः प्रत्यहं सर्वैर्दृश्यते लोकजीवने ॥ ५ ॥

एकमेव कृतं कर्माभिप्रायस्य विभेदतः ।
जायते केन नो दृष्टं दण्ड्यं वादण्ड्यमेव वा ॥ ६ ॥

महत्त्वं भावसंशुद्धेस्तस्मादाहुर्मनीषिणः ।
कर्मणश्चित्रणं यस्माद्भावभित्तौ प्रजायते ॥ ७ ॥

भगवान् मनुराहेदं त्यागो यज्ञस्तपांसि च ।
न विप्रदुष्टभावस्य सिद्धिं गच्छन्ति कर्हिचित् ॥ ८ ॥

मनःपूर्वंगमा धर्मा मनःपूर्वा मनोमयाः ।
बुद्धोऽपि भगवानेवं भावप्राधान्यमुक्तवान् ॥ ९ ॥

परं सा भावसंशुद्धिरन्तर्दृष्टिमपेक्षते ।
अत एव श्रुतिर्ब्रूते आत्मनोऽन्तर्निरीक्षणम् ॥१०॥

महत्त्वं भावसंशुद्धेरन्तर्दृष्टेस्तथैव च ।
विस्तरेणोच्यतेऽधस्ताच्छ्रद्धया तन्निशम्यताम् ॥११॥

श्री नारायण ने कहा—

तुम्हारे उक्त प्रश्न से मैं अत्यन्त प्रसन्न हूँ। भाव-संशुद्धि को लेकर जो समाधान मैं कह रहा हूँ उसे सुनो।

लोक-जीवन में प्रत्येक कर्म का कर्म करने वाले के अभिप्राय के अनुसार जो प्रभाव होता है उसे सब कोई प्रतिदिन देखते हैं।

किसने नहीं देखा है कि कोई भी किया हुआ कर्म अभिप्राय के भेद से दण्डनीय अथवा अदण्डनीय हो जाता है।

इसीलिए मनीषी लोग भावसंशुद्धि का महत्त्व बतलाते हैं; क्योंकि भावों की भित्ति (अथवा पृष्ठभूमि) पर ही कर्म का चित्रण होता है।

भगवान् मनु ने ऐसा कहा है[1] कि जिस मनुष्य के भाव दुष्ट या अपवित्र होते हैं उसके यज्ञ, दान तथा तप कभी सिद्ध नहीं होते।

भगवान् बुद्ध ने भी भावों के प्राधान्य को इन शब्दों कहा है[2] कि सब धर्मों का आधार मन के ऊपर होता है, मनकी पृष्ठभूमि पर ही वे किये जाते हैं; वास्तव में उन्हें मनोमय अथवा मनका रूपान्तर ही समझना चाहिए।

परन्तु वह भावसंशुद्धि अन्तर्दृष्टि की अपेक्षा करती है। इसीलिये श्रुति[3] अपने अन्दर निरीक्षण की बात कहती है।

भाव-संशुद्धि तथा अन्तर्दृष्टि के महत्त्व को हम नीचे विस्तार से कहते हैं। उसे तुम श्रद्धा से सुनो।

---

१. दे० मनुस्मृति २।९७। २. दे० धम्मपद १।१-२।

३. देखिये—कठोपनिषद् २।१।१।

[१]

आत्म-परीक्षण

"कश्चिद् धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षत्"

(कठोपनिषद् २।१।१)।

अर्थात्, कोई धीर बुद्धिमान् मनुष्य ही आत्म-समीक्षण में प्रवृत्त होता है।

मनुष्य चाहता है कि दूसरे लोग उसको जानें और उसका आदर करें; पर यह विचित्र बात है कि वह स्वयं अपने को नहीं समझता, और प्रायः आत्म-संमान की भावना भी उसमें नहीं होती। इसी विचित्र स्थिति को प्रश्न-द्वारा नीचे स्पष्ट किया गया है—

लोको मामभिजानीयात् सादरं चावलोकयेत्।
इति यत्नपरो नित्यमितिचिन्ताकुलो भवान्?॥१२॥

परमन्तर्मुखं कृत्वा क्षणं आतनिगद्यताम्।
आत्मानमभिजानासि? नात्मानमवमन्यसे?॥१३॥

'संसार मुझे जाने और मुझे आदर की दृष्टि से देखे' क्या आप सदा इसी के यत्न में नहीं लगे रहते है? क्या आप सदा इसी चिन्ता से आकुल नहीं रहते हैं?

पर भाई! जरा अपनी दृष्टि को अन्तर्मुख करके यह तो कहो कि क्या तुम स्वयं अपने को जानते हो? क्या तुम ही अपना अपमान नहीं करते हो?

[२]

आत्म-हित की उपेक्षा

"दृष्ट्वा रूपे व्याकरोत् सत्यानृते प्रजापतिः।
अश्रद्धामनृतेऽदधाच्छ्रद्धां सत्ये प्रजापतिः॥"

(यजुर्वेद १९।७७)

अर्थात्, सृष्टिकर्ता परमेश्वर ने पदार्थों के वास्तविक (=सत्य) और अवास्तविक (=अनृत) स्वरूपों को देखकर पृथक् पृथक् कर दिया है। उनमें से श्रद्धा की पात्रता वास्तविक स्वरूप में ही है, और अश्रद्धा की अवास्तविक स्वरूप में।

मनुष्य अपने वास्तविक तथा अवास्तविक स्वरूप को समझे और वाह-वाही के लिए अपने सच्चे हित की उपेक्षा न करे—इसी बात का प्रतिपादन नीचे के पद्यों में किया गया है—

वस्तुतोऽवस्तुतश्चापि स्वरूपं दृश्यते द्विधा।
पदार्थानां, तयोर्मध्ये प्रायेण महदन्तरम्॥१४॥

पदार्थों के वास्तविक और अवास्तविक—इस प्रकार दो तरह के रूप देखे जाते हैं। प्रायेण उन दोनों में बड़ा अन्तर होता है।

आपाततस्तु यद् रूपं पदार्थस्पर्शि नैव तत्।
वस्तुतो वर्तमानं तत् पदार्थानां स्वभावजम्॥१५॥

जो आपाततः या अवास्तविक रूप होता है वह पदार्थ को स्पर्श नहीं करता; अर्थात् पदार्थ की वास्तविकता से दूर ही रहता है। जो वास्तविक रूप होता है वह पदार्थ का स्वाभाविक होता है।

इसी बात को दृष्टान्त द्वारा स्पष्ट करते हैं—

तारागणो नभोमध्ये स्थूलसूक्ष्मादिभेदतः ।
नानाविधः समायाति दृष्टिगोचरतां सदा ॥१६॥
तत्र यद् वास्तवं रूपं तस्यास्तस्याः पृथक्त्वतः ।
तारायाः, सुतरां तत्तु भिन्नं यद् दृश्यते ततः ॥१७॥

आकाश में सदा स्थूल, सूक्ष्म, सूक्ष्मतर आदि के भेद से भिन्न-भिन्न प्रकार के तारे दृष्टिगोचर होते हैं। उन तारों का जो अपना वास्तविक रूप है वह उनके दृष्टि में आने वाले रूप से बहुत कुछ भिन्न है।

ज्योतिष-शास्त्र के विशेषज्ञों का कहना है कि तारे वास्तव में सूर्य हैं और उनमें से अनेकानेक हमारे सूर्य से भी आकार में कहीं बड़े हैं। ऐसी दशा में उनके आपाततः दृष्टिगोचर होने वाले रूपों में और वास्तविक रूपों में कितना महान् अन्तर है, यह कहने की बात नहीं है।

एवमेव मनुष्याणां वृत्तस्यापि द्विधा कथा ।
वस्तुतोऽवस्तुतश्चेति लोके कस्य तिरोहिता ॥१८॥

इसी प्रकार संसार में यह बात किससे छिपी है कि मनुष्यों का चरित्र या स्वरूप भी वास्तविक और अवास्तविक रूप से दो तरह का होता है।

स्पष्टं नाहं यथा लोकाः प्रायशो मां विजानते ।
अस्पृष्टं तद्विचारैस्तु स्वरूपं वस्तुतो मम ॥१९॥

यह स्पष्ट है कि मैं वैसा नहीं हूँ जैसा प्रायेण संसार के लोग मुझे समझते हैं। मेरा वास्तविक स्वरूप तो उनके विचारों से अस्पृष्ट ही रहता है।[1]

उपेक्ष्यात्महितं तथ्यं तथापि बहुधा जनाः ।
लोक दृष्ट्यात्मनो रूपं यत्तदर्थं कृतादराः ॥२०॥

तो भी बहुत करके लोग, अपने वास्तविक हित की उपेक्षा करके, दूसरों की दृष्टि में अपना जो अवास्तविक रूप होता है उसी की ज्यादा परवा करते हैं।

अभिप्राय यह है कि अधिकतर मनुष्य अपने वास्तविक चरित्र को उठाने वाली आत्म-कल्याण की बातों की उपेक्षा करते हैं, और दूसरों की वाह-वाही

---

१. मनुस्मृति में इसी लिए कहा है—

'संमानाद् ब्राह्मणो नित्यमुद्विजेत विषादिव ।
अमृतस्येव चाकाङ्क्षेदवमानस्य सर्वदा" ॥ (२।१६२)

अर्थात्, विद्वान् ब्राह्मण को चाहिए कि वह (मिथ्या) संमान से विष की तरह दूर रहे, और अपमान को अमृत के समान चाहे।

लेने के लिए दिखावट की बातों पर ही ध्यान देते हैं और अपने बाह्य अवास्तविक रूप के विषय में ही अपने सारे प्रयत्न को लगा देते हैं।

यथैव कश्चिदात्मानं विक्रीय परसेवया।
कालं यापयते तद्वद् एतेऽपि परसेवका: ॥२१॥

जो लोग दूसरों की वाह-वाही के लिए ही बराबर सचेष्ट रहते हैं वे दूसरों के उसी प्रकार सेवक हैं जैसे कोई अपने को दूसरे के हाथ बेचकर उसकी सेवा में ही अपने समय को व्यतीत करता है।

[३]

कर्तव्य की उपेक्षा

मनुष्य के लिए विद्या, बुद्धि, अध्ययन, धर्माचरण आदि की उपयोगिता वास्तव में उसके चरित्र की पुष्टि में ही है—इसी सिद्धान्त का प्रतिपादन नीचे के पद्यों में किया गया है।

मन्ये विद्यावतां श्रेष्ठो धीमतां धुरि संस्थित:।
वेदाद्यनेकशास्त्राणां नित्यं स्वाध्यायतत्पर: ॥२२॥
शास्त्रीयकर्मकाण्डस्यानुष्ठाने वा धृतव्रत:।
यद्वेष्टदेवताभक्तौ नियतं दत्तमानस: ॥२३॥

माना कि आप विद्वानों में श्रेष्ठ और बुद्धिमानों में अग्रणी हैं, वेदादि अनेक शास्त्रों का नित्य स्वाध्याय करने वाले हैं, यद्वा शास्त्रीय कर्मकाण्ड अग्निहोत्रादि के विधिवत् करने का आपने व्रत लिया हुआ है, अथवा अपने इष्ट देवता की भक्ति में आप का मन सदा लगा रहता है। तो भी—

एवमध्यात्मसंपत्त्या संपन्नोऽपि भवान् यदि।
दरिद्राति स्वकर्तव्ये तत: कष्टतरं नु किम्? ॥२४॥

इस प्रकार आध्यात्मिक संपत्ति से संपन्न होने पर भी, यदि आप अपने कर्तव्य के पालन में दरिद्र या ढीले हैं, तो इससे अधिक कष्ट की बात और क्या हो सकती है?

तथैवोपस्थिते भ्रातररातीनामुपद्रवे।
बाह्यानामान्तराणां वा मनःसंतापकारिणाम् ॥२५॥
उपशान्तावशक्तश्चेदापन्न इव वर्तसे।
विद्यां बुद्धिं श्रुतं भक्तिं धिग् धर्माचरणं च ते ॥२६॥

इसी प्रकार भाई! मन को सन्ताप देने वाले बाह्य अथवा आभ्यन्तर (काम, क्रोध आदि) शत्रुओं के उपद्रव के आने पर उसके दबाने में अशक्त होकर तुम यदि आपत्ति-ग्रस्त घबड़ाये हुए मनुष्य की तरह बरताव करते हो, तो तुम्हारी विद्या को, बुद्धि को, शास्त्राध्ययन को, देवभक्ति को और धर्माचरण को भी धिक्कार है।

[४]

वास्तविक धन

"न वित्तेन तर्पणीयो मनुष्यः"

(कठोपनिषद् १।१।२७)

अर्थात्, मनुष्य की तृप्ति लौकिक धन से नहीं हो सकती।

वास्तविक धन क्या है? इस का उत्तर नीचे के पद्य में दिया गया है—

यत्कर्मकरणेनान्तःसन्तोषं लभते नरः।
वस्तुतस्तद् धनं मन्ये न धनं धनमुच्यते ॥२७॥

जिस काम के करने से मनुष्य की अन्तरात्मा को सन्तोष होता है, मैं वास्तविक धन उसी को मानता हूँ। लौकिक धन को धन नहीं कहा जाता है।

[५]

भावों की महिमा

"श्रद्धया सत्यमाप्यते" (यजुर्वेद १६।३०)

अर्थात्, श्रद्धा अथवा विशुद्ध भावना से ही सत्य अभीष्ट की प्राप्ति होती है।

मनुष्य श्रद्धामय है। जिस कार्य में उसकी श्रद्धा होती है उसी में वह प्रवृत्त होता है। इसीलिए विशुद्ध भावना अथवा भाव-संशुद्धि की आवश्यकता है। इसी दृष्टि से नीचे के पद्यों में भावों की महिमा को दिखलाया गया है—

सर्वेऽपि मानवा लोके नानायत्नपराः सदा।
धावन्त इव कार्येषु व्यग्रा आयान्ति दृक्पथम् ॥२८॥

संसार में सारे मनुष्य नाना यत्नों में लगे हुए, मानो इधर-उधर दौड़ते हुए, सदा कामों में व्यग्र दिखाई देते हैं।

तदेतदखिलं वृत्तं तत्तद्भावनिबन्धनम्।
भावैर्हि प्रेरितो मर्त्यस्तत्तत्कार्ये प्रवर्तते ॥२९॥

उक्त स्वाभाविक प्रवृत्ति के मूल में मनुष्यों के मनो-भाव ही होते हैं। क्योंकि भावों से प्रेरित होकर ही मनुष्य तत्तत् कार्यों में प्रवृत्त होता है।

अतो यत्कर्मणां मूल्यं भावाधीनं हि तन्मतम्।
यादृशी भावना यस्य तादृशी सिद्धिरिष्यते ॥३०॥

इस लिए कर्मों का जो मूल्य होता है वह भावों के ही अधीन होता है। जिसकी जैसी भावना होती है उसको वैसी ही सिद्धि प्राप्त होती है।

[६]

भाव-संशुद्धि

"द्वे वाव ब्रह्मणो रूपे मूर्त्तं चैवामूर्त्तं च" (बृहदारण्यकोपनिषद् २।३।१)

अर्थात्, ब्रह्म के दो रूप हैं, मूर्त्त और अमूर्त्त।

नीचे के पद्यों में मनुष्य के लिए भाव-संशुद्धि की आवश्यकता को दिखलाया गया है—

मूर्त्तं चामूर्त्तमित्येवं जगदेतद् द्विधा मतम्।
भावोऽमूर्त्तं, पुनर्मूर्त्तं भावमूलं हि मन्यते ॥३१॥

मूर्त्त और अमूर्त्त इस प्रकार यह जगत् दो प्रकार का माना जाता है। इनमें से भाव अमूर्त्त (=आकाररहित) है, और मूर्त्त को भाव-मूलक माना जाता है।

इसी सिद्धान्त का प्रतिपादन नीचे किया गया है—

यच्चापि लौकिकं वस्तु संस्था आचारपद्धतिः।
भावैः संप्रेरितस्यैव मानवस्येह सा कृतिः ।।३२।।

जो भी मनुष्य-निर्मित वस्तु, संस्थायें अथवा आचार-पद्धति लोक में दृष्टि-गोचर होती हैं, वे सब भावों से प्रेरित मनुष्य की ही कृति हैं।

कालभेदेन भिन्नानां देशभेदेन वा पुनः।
भेदोऽपि देवतानां यो नूनं भावनिबन्धनः ।।३३।।

संस्कृतेस्तारतम्यं य आदर्शा दर्शयन्ति नः।
त एव देवतारूपा दृश्यन्ते भावमूलकाः ।।३४।।

काल-भेद से अथवा देश-भेद से देवताओं का जो भेद पाया जाता है वह निश्चय ही भाव-मूलक है। क्योंकि, जो विभिन्न आदर्श हमें संस्कृतियों के तारतम्य को बतलाते हैं, वे ही भाव-मूलक आदर्श विभिन्न देवताओं के रूप में देखने में आते हैं।

अभिप्राय यह है कि काल-भेद से अथवा देश-भेद से देवताओं में जो भेद पाया जाता है, उसका कारण काल-भेद से अथवा देश-भेद से पायी जाने वाली संस्कृतियों के आदर्शों का भेद ही हो सकता है। इसी लिए क्रूर असभ्य जातियों के देवता क्रूरता-प्रधान, और सभ्य सुसंस्कृत जातियों के सात्त्विक और दयालु स्वभाव के होते हैं।

संस्थितिर्देवतानां चेदेवं भावनिबन्धना।
स्पष्टं तन्मूर्त्तयो लोके भावाभिव्यञ्जिकाः स्मृताः ।।३५।।

जब कि देवताओं की ही स्थिति इस प्रकार भाव-मूलक है, तब लोक में प्रचलित उनकी मूर्त्तियों को तो स्पष्ट ही भावों का अभिव्यञ्जक मानना चाहिए।

यस्मादस्थिरभावानां मूर्त्तीकरणमिष्यते।
मनसः स्थैर्यलाभाय मूर्त्तिपूजा मता बुधैः ।।३६।।

यतः मनुष्य के अस्थिर भावों को ही मूर्त्त रूप दिया जाता है, (इसलिए) विद्वान् लोग मन की स्थिरता को ही मूर्त्ति-पूजा का लक्ष्य मानते हैं।

यदीशस्य जगत्स्रष्टुः सृष्टिरीक्षणपूर्विका ।
तदा भावमयं सर्वमस्मिन्नर्थे न संशयः ॥३७॥

जगत् को उत्पन्न करने वाले परमात्मा के ईक्षण से ही यह सृष्टि हुई है, यदि यह सिद्धान्त ठीक है, तब तो—सब कुछ भावमय या भाव-मूलक है—इस विषय में कोई संशय नहीं उठ सकता ।

उपनिषदों में कहा गया है[1] कि जगत् की सृष्टि से पहले परमेश्वर ने 'सृष्टि को मैं करूँ' ऐसा ईक्षण किया और उससे ही सृष्टि हो गयी । यदि ऐसा है तो, सब कुछ भाव-मूलक है, इसमें संशय नहीं हो सकता ।

तस्मादुत्कर्षसंसिद्ध्यै मानवस्येह जीवने ।
आत्मनो भावसंशुद्धिः प्रथमं साधनं मतम् ॥३८॥

अतः मानव इस जीवन में उत्कर्ष की प्राप्ति कर सके, इसके लिए अपने भावों की संशुद्धि को मुख्य साधन माना गया है ।

[७]

विनय और आत्मसंमान

विनय और आत्म-संमान की भावना का सामञ्जस्य अति दुष्कर होते हुए भी आवश्यक है; इसी अभिप्राय को नीचे प्रकट किया गया है—

दम्भो दर्पोऽभिमानश्च विनयेन निवार्यताम् ।
आशावादेन नैराश्यमात्मसंमाननेन च ॥३९॥

बुद्धिमान् मनुष्य को दम्भ, दर्प और अभिमान का वारण विनय से, और नैराश्य का वारण आशावाद से तथा आत्मसंमान की भावना से करना चाहिए ।

---

१. तु० "स ईक्षत लोकान्नु सृजा इति । स इमाँल्लोकानसृजत ।" (ऐतरेयोपनिषद् १।१-२) ।

लोकं तृणाय मन्यन्ते येऽभिमानेन हेतुना ।
नूनं ते करुणापात्रं मन्दा मोहवशं गताः ॥४०॥

जो अभिमान के कारण दूसरों को तृण के समान तुच्छ समझते हैं, वे निश्चय ही करुणा के पात्र हैं, क्योंकि मोह (अज्ञान) के कारण वे मन्द-प्रज्ञ वास्तविकता को नहीं समझ पाते ।

विनयेन विना चीर्णमभिमानेन संयुतम् ।
महच्चापि तपो व्यर्थमित्येतदवधार्यताम् ॥४१॥

यह समझ लेना चाहिए कि विनय के बिना और अभिमान के साथ किया हुआ महान् भी तप व्यर्थ ही होता है ।

[८]

यतमानस्य भावानां संशुद्ध्यै शान्तचेतसः ।
कस्यापि श्रद्दधानस्याभिलाषोऽधः प्रदर्श्यते ॥४२॥

नीचे की रचना में किसी ऐसे शान्तचित्त श्रद्धालु व्यक्ति की अभिलाषा को दिखलाया गया है जो अपने भावों की पवित्रता के लिए यत्नशील है—

मन की पुष्पवाटिका

"तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु" (यजुर्वेद ३४।१) ।

अर्थात्, मेरे मन के संकल्प कल्याणमय हों ।

अध्यात्म-विकास के मार्ग पर चलने वाला मनुष्य विशुद्ध भावनाओं से युक्त अपने मन को ही अपनी संपत्ति समझता है । इस लिए वह अपने मन की पविश्रता को वैसा ही आवश्यक मानता है, जैसे कोई अपनी पुष्पवाटिका को साफ़-सुथरा और हर प्रकार से रम्य और शोभनीय रखना चाहता हो । इसी का वर्णन मानसी पुष्पवाटिका के रूप में नीचे के पद्यों में किया गया है—

उत्तुङ्गादर्शवृक्षाणामावल्या परितो वृता।
सदाशयसरोभिश्च सद्भावकुसुमैश्रिता ॥४३॥
उद्वेगोपद्रवैः शून्या निरस्ताशेषकल्मषा।
प्रसन्नतापरागैश्च रञ्जिताखिलभूतला ॥४४॥
कल्याणकामनाकान्त्या कमनीया चतुर्दिशम्।
स्वच्छा स्वच्छतलादर्शप्रख्या शोभातिशायिनी ॥४५॥
सूक्तिपक्षिसमूहानामारावैरुपकूजिता ।
शान्तेर्निकेतनं मे स्यात् मानसी पुष्पवाटिका ॥४६॥

उत्कृष्ट आदर्श रूपी ऊँचे वृक्षों की आवलि
से चारों ओर घिरी हुई,
सदाशय रूपी सरोवरों से तथा
सद्भाव रूपी कुसुमों से व्याप्त,
उद्वेग रूपी उपद्रवों से शून्य, और
सब प्रकार के पाप रूपी मैल से रहित,
प्रसन्नता रूपी परागों से जिसकी
सारी धरती रञ्जित है,
कल्याण-कामना रूपी कान्ति से
चारों दिशाओं में कमनीय,
स्वच्छ-तल दर्पण के समान स्वच्छ,
अत्यधिक शोभा से युक्त,
सूक्ति-रूपी पक्षि-समूह के
शब्दों से उपकूजित,
मेरे मन को ऐसी फुलवाड़ी
शान्ति का निकेतन हो !

भद्र भावनाओं के आधार पर ही भावसंशुद्धि हो सकती है। इस लिए अभद्र भावनाओं को हटा कर ही वह स्थिति पा सकती है। सो यह कैसे हो सकता है, इसी का युक्तिसहित प्रतिपादन नीचे किया गया है—

[९]

अभद्र भावों का अपनोदन

"विश्वानि देव सवितर्दुरितानि परा सुव ।
यद् भद्रं तन्न आ सुव ।" (यजुर्वेद ३०।३)

अर्थात्, विश्व को प्रेरणा प्रदान करने वाले हे देव ! सारी बुराइयों का, दुर्भावनाओं को, हमसे दूर कीजिए; और जो भद्र है, कल्याण-प्रद है, उसे हमें प्राप्त कराइए !

विहायानिष्टमिष्टार्थे आसक्तिरुपलभ्यते ।
इन्द्रियाणां स्वभावेन परेशानुग्रहो ह्ययम् ॥४७॥

अरोचकमभद्रं यद् वस्तु तस्माद्विरज्यते ।
प्रत्येकमिन्द्रियं भद्रं रोचकञ्चानुधावति ॥४८॥

परमाश्चर्यमेतस्य प्रतिकूला परिस्थितिः ।
दृश्यते मानसे लोके येन दुःखाकुलं जगत् ॥४९॥

यह परमेश्वर का अनुग्रह है कि इन्द्रियों की स्वभाव से ही आसक्ति अनिष्ट अर्थ को छोड़कर इष्ट अर्थ में पायी जाती है ।

प्रत्येक इन्द्रिय जो अरोचक और अभद्र है उससे विरक्त होकर जो वस्तु रोचक और भद्र है उसी का अनुसरण करती है ।

पर यह आश्चर्य की बात है कि मानस लोक की स्थिति इससे उलटी देखने में आती है, जिससे जगत् दुःखों से व्याकुल है ।

मनः स्वभावतो नूनं तत्तद्भावेषु साग्रहम् ।
दुःखदेष्वपि संसक्तमिति कस्य तिरोहितम् ॥५०॥

प्रसङ्गेष्वथ भावेषु यस्मात्क्लेशकरेष्वपि ।
आग्रहेणेव संसक्तं मनः कस्य न जायते ? ॥५१॥

भावा भद्रा अभद्राश्च मनःस्वाविर्भवन्ति नः ।
भद्राः सुखकरास्तत्राभद्रा दुःखकरा मताः ॥५२॥

तथापि महदाश्चर्यमपि जानच्छुभाशुभम् ।
मनो नोऽभद्रभावेषु सक्तं प्रायेण जायते ॥५३॥

शोकेन मन्युना वा स्यात्कामलोभवशात्तथा ।
अभद्रभावनौघैस्तद् दुःखमापद्यतेऽसकृत् ॥५४॥

अभद्रभावनावर्तभ्रमिभिर्भ्रान्तिचेतनम् ।
भद्रभावैरसंस्पृष्टं दूरे तिष्ठति तत्सदा ॥५५॥

यह किससे छिपा है कि मन स्वभाव से ही दुःख देने वाले भी तत्तद् भावों में आग्रहपूर्वक फँसा हुआ रहता है ।

भला ऐसा कौन है जिसका मन क्लेश देने वाले प्रसङ्गों अथवा भावों में, मानो आग्रह-पूर्वक, संसक्त नहीं हो जाता है ।

हमारे मनों में भद्र तथा अभद्र दोनों प्रकार के भाव आविर्भूत होते हैं । उनमें भद्र भाव सुखकर होते हैं और अभद्र भाव दुःखकर ।

तो भी यह बड़े आश्चर्य की बात है कि शुभ और अशुभ के भेद को जानते हुए भी हमारा मन प्रायेण अभद्र भावों में फँस जाता है ।

शोक से, मन्यु से, अथवा काम और लोभ के वश से वह मन बार बार अभद्र भावनाओं के प्रवाह में पड़कर दुःख पाता है ।

अभद्र भावनाओं के आवर्त (भँवर) के चक्करों से चेतना को खोकर, भद्र भावों से असंस्पृष्ट रहता हुआ, वह (मन) उनसे सदा दूर ही रहता है ।

तदेतत्सकलं वृत्तं मोहव्याधिसमुद्गतम् ।
हिताहितविवेकेन हीना मूढा भवन्ति वै ॥५६॥

कृपया देवदेवस्य जागरूकं निरन्तरम् ।
मोहपाशाद्विनिर्मुक्तं भद्रभावनया भृशम् ॥५७॥

इहैव सततं लोक आशावादसमुज्ज्वलम् ।
आनन्दपथमव्यग्रं मनो नो गन्तुमर्हति ॥५८॥

एकस्मिन्हि क्षणे भावद्वयं नैवावतिष्ठते ।
स्वभाव एष मनसः, सौभाग्यं तन्महद्धि नः ॥५९॥

तस्मादभद्रभावानामपनोदाय मानवः ।
साहाय्यं भद्रभावानां सद्यः संप्राप्तुमर्हति ॥६०॥

असंमूढमनास्तिष्ठंस्तस्माद्विद्वान् निरन्तरम् ।
दुःखप्रवाहमुत्तीर्यानन्दधारामुपाश्रयेत् ॥६१॥

सो यह सारा वृत्त मोह रूप व्याधि से उत्पन्न होता है। क्योंकि जो मूढ होते हैं वे हित और अहित के विवेक से रहित ही होते हैं।

परन्तु देवों के देव परमेश्वर की कृपा से निरन्तर जागरूक, मोह के पाश से मुक्त और आशावाद से समुज्ज्वल हमारा मन, तीव्र भद्र-भावना के सहारे, इसी लोक में निर्विघ्न रूप से आनन्द के मार्ग पर सतत अग्रसर हो सकता है।

मनका यह स्वभाव है कि एक ही क्षण में दो भाव एक साथ उसमें नहीं रह सकते। यह हमारा बड़ा सौभाग्य है।

अतः मनुष्य अभद्र भावों को हटाने के लिए भद्र भावों की सहायता तत्काल प्राप्त कर सकता है।

इस लिए विद्वान् मनुष्य को चाहिए कि वह, निरन्तर मोहावस्था से अपने मन को पृथक् रखते हुए, दुःख के प्रवाह को पार करके आनन्द की धारा का आश्रय लेवे।

[१०]

परमात्मा की अनुकम्पा

उक्त कथन का ही प्रतिपादन दूसरे शब्दों में नीचे किया गया है—

यदा केनापि भावेन समुद्विग्नं मनो भवेत् ।
तदा तद्विपरीतेन तस्योपायो विधीयताम् ॥६२॥
स्वभावादेव मनसो ज्ञानं न युगपद्भवेत् ।
विधातुरनुकम्पेयं महतीत्यवधार्यताम् ॥६३॥
तत्तच्चिन्ताविदीर्णोऽयं तदभावे तु मानवः ।
भुञ्जानो नारकीः पीडा जीवनाद्विरतो भवेत् ॥६४॥
तत एव महीयांसो मनसः संयमं महत् ।
रहस्यं जीवनस्याहुः सफलस्य तथा कलाम् ॥६५॥

जब किसी भाव से मन उद्विग्न हो, तब उससे जो विपरीत भाव है उसके द्वारा उसको हटा देना चाहिए ।

स्वभाव से ही मन को एक साथ अनेक ज्ञान नहीं होते ।[1] इसको परमेश्वर की महती अनुकम्पा ही समझना चाहिए ।

यदि ऐसा न होता तो तत्तत् चिन्ताओं से दुःखातुर मनुष्य नरक की जैसी पीडाओं का अनुभव करता हुआ अपने जीवन से ही उदासीन हो जाता ।

इसी लिए महान् पुरुष मन के संयम को जीवन का महान् रहस्य तथा सफल जीवन की कला भी कहते हैं ।

---

१. तु० "युगपज्ज्ञानानुत्पत्तिर्मनसो लिङ्गम्" (न्यायसूत्र १।१।१६)

भाव-संशुद्धि का चरम विकास विश्व-कल्याण-भावना में होना चाहिए। इस लिए नीचे वैदिक पद्धति में उसी का वर्णन किया जाता है—

[११]

विश्वकल्याण-भावना

"भद्रं नो अपि वातय मनः"। (ऋग्वेद १०।२०)

अर्थात्, भगवन्! हमरे मन को भद्रभावना की ओर प्रेरित कीजिए।

भद्रं भद्रं सर्वतो नः समेयाद्, भद्रा वाचः सुमनसो वदेम।
भद्रं मनो भद्रकामाय भूयात्, कामे कामे नो भद्रं विरोचताम् ॥६६॥

हमें सब ओर से केवल भद्र अथवा कल्याण ही प्राप्त होवे!
हम सद्भावनाओं से युक्त होकर कल्याणमय वाणी को ही बोलें!
विशुद्ध विचारों से युक्त हमारे मन की कामनाएँ भी कल्याणमय हों!
हमारी प्रत्येक कामना में कल्याण का प्रकाश हो!

ग्रामे ग्रामे नो भद्रं विराजताम्, भासतां भद्रं समितौ सभायाम्।
भद्रं राज्येषु विश्वतः समृद्धचाद्, भद्रं पृथिव्यां प्रथतां समन्तात् ॥६७॥

हमारे ग्राम-ग्राम में भद्र-भावना सुशोभित हो!
हमारी समितियों और सभाओं में उसका प्रकाश हो!
राज्यों में सब ओर से भद्रभावना की वृद्धि हो!
और इस प्रकार समस्त पृथ्वी पर उसका विस्तार हो!

परस्परं भद्रं समाचरन्तो, न मायिनो मानुषीणां प्रजानाम्।
आतन्वन्तः शिवतातिं वरिष्ठाम्, इहैव लोकेऽमृतमाभजेम ॥६८॥

हम निश्छल भाव से
परस्पर कल्याण का आचरण करते हुए
और मानव-मात्र के लिए श्रेष्ठ मङ्गल का विस्तार करते हुए
इसी लोक में अमृतत्व का सेवन करें!

विप्राः कवयो भद्रवाचो भवन्तो, भद्रं राजानो राज्यधुरं वहन्तः ।
भद्रं गुरौ शिक्षमाणा वसन्तो, भद्रं वयं सर्वत आवदेम ॥६९॥

हमारे कवि सात्त्विक विचारों से युक्त होकर
कल्याणमय वाणी का प्रसार करने वाले हों !
शासक लोक-कल्याण के आदर्श से प्रेरित होकर राज्य का शासन करें !
गुरु और शिष्य का पारस्परिक सम्बन्ध भी कल्याणमय हो !

इस प्रकार हम सब अपने चारों ओर कल्याण का ही वातावरण उपस्थित कर दें !

भद्रं नः करोत्वनिशमन्तरिक्षं, भद्रं नो वायुः पवमानः प्रवातु ।
भद्रं भद्रं द्यावापृथिव्यौ भवेताम्, भद्रं मरुतो वृष्टिवाहा भवन्तु ॥७०॥

अन्तरिक्ष हमारे लिए सतत कल्याणकारी हो !
पवित्रताधायक वायु हमारे लिए कल्याणकारी होकर चले !
द्युलोक और पृथिवी-लोक हमारे लिए सदा मङ्गलकारी हों !
मरुद्गण भी वृष्टि द्वारा विश्व का कल्याण करें !

॥ इति जीवनज्योतिषि भावसंशुद्धिर्नाम अष्टमो रश्मिः ॥

नवमो रश्मिः

मनः-प्रसादः

विश्वदानीं सुमनसः स्याम। (ऋग्वेद ६।५२।५)

पश्य देवस्य काव्यम्। (सामवेद, पू० ४।४।३)

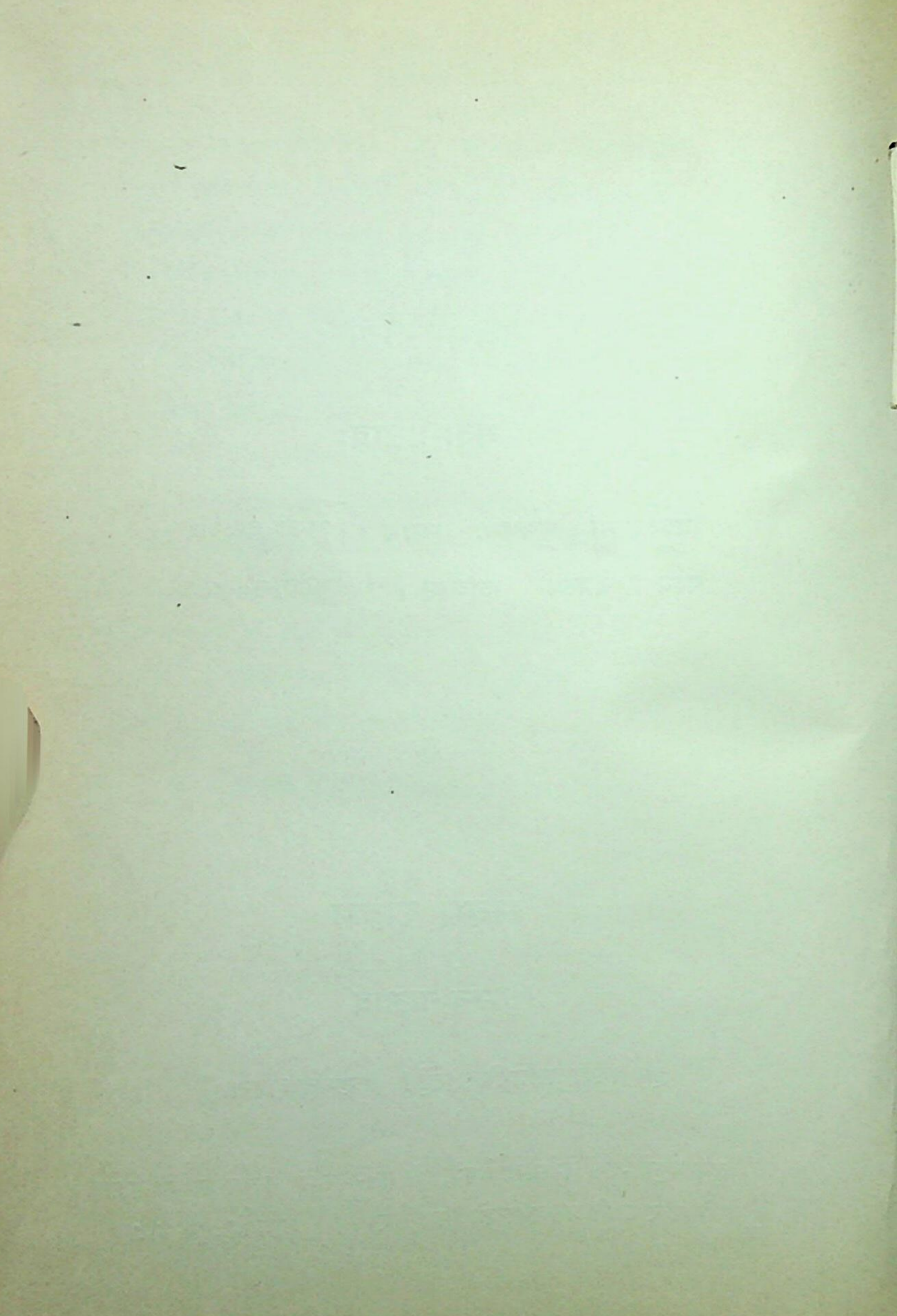


नवम रश्मि

मनः-प्रसाद

हम सर्वदा प्रसन्न-चित्त रहें! (ऋग्वेद ६।५२।५)

तुम प्रकृति-देवी के सौन्दर्य को, जो मूर्त-रूप में परमात्मा का काव्य है, देखो और उससे प्रसन्नता को प्राप्त करो। (सामवेद, पू० ४।४।३)



मनः-प्रसाद

नर उवाच

श्रुत्वेदं भावसंशुद्धेर्महत्त्वं भगवन्मया ।
आत्मतुष्टया सहैवाद्य लब्धा काचित्कृतार्थता ॥ १ ॥

किं फलं भावसंशुद्धेर्मानवेनानुभूयते ।
यत्प्रेप्सया प्रवर्तेत स यत्नेन तदर्जने ॥ २ ॥

उपदेशैरतृप्तस्य जिज्ञासेयं ममोदिता ।
कृत्वा कृपां दयासिन्धो तामपनेतुमर्हसि ॥ ३ ॥

नर ने कहा

भगवन् ! भाव-संशुद्धि के उक्त महत्त्व को सुनकर आत्म-तुष्टि के साथ-साथ मैं एक प्रकार से कृतार्थता का भी अनुभव कर रहा हूँ ।

यहाँ यह प्रश्न उपस्थित होता है कि मानव को भाव-संशुद्धि से क्या फल प्राप्त होता है, जिसकी इच्छा से उसे उसके अर्जन में प्रवृत्त होना चाहिए ?

दयासिन्धो ! (आप के) उपदेशों से मेरी तृप्ति न होने से यह जिज्ञासा मेरे मन में उत्पन्न हुई है । कृपा करके आप उसका समाधान कीजिए ।

नारायण उवाच

मनःप्रसादसंपत्तिर्भावशुद्धेरनन्तरम् ।
प्राप्यते, जायते तेन कृतकृत्योऽत्र मानवः ॥ ४ ॥

कल्मषापगमे चित्तं शुभ्रज्योतिरिवामलम् ।
भासते येन लेशोऽपि क्लेशानां विनिवर्तते ॥ ५ ॥

तदा तदमृतं पुण्यं जीवन्नाप्नोति तत्त्ववित्।
शान्त्यानन्दमयी दृष्टिस्तस्य सर्वत्र जायते ॥ ६ ॥
"विश्वदानीं सुमनसः" श्रुतिरेषा सनातनी।
मनःप्रसादमाहात्म्यं स्पष्टं ब्रूते न संशयः ॥ ७ ॥
मनःप्रसादसंपत्तेः स्वरूपं कीदृशं मतम्।
कथं चैवार्जनं तस्या मानवः कर्तुमर्हति ? ॥ ८ ॥
बाधाः कास्तत्प्रतीकारः कैरुपायैः प्रसाध्यते।
सर्वमेतत्समाख्यातुमधः किञ्चित् प्रयत्यते ॥ ९ ॥

श्रीनारायण ने कहा

भावसंशुद्धि के हो जाने पर मनःप्रसाद की संपत्ति मनुष्य को प्राप्त हो जाती है। उससे वह इस जीवन में कृतकृत्य हो जाता है।

कल्मष अथवा दुष्ट भावनाओं के हट जाने पर चित्त निर्मल होकर शुभ्र ज्योति के समान भासित हो जाता है। इससे क्लेशों का लेश-मात्र भी उसे सन्तप्त नहीं करता।

उस दशा में तत्त्वज्ञानी जीते जी सुप्रसिद्ध पवित्र अमृतत्व का लाभ कर लेता है। तब उसकी दृष्टि सर्वत्र शान्तिमयी और आनन्दमयी हो जाती है। अर्थात् वह सर्वत्र शान्ति और आनन्द का अनुभव करता है।

"विश्वदानीं सुमनसः" (ऋग्वेद ६।५२।५) (अर्थात्, हम सर्वदा प्रसन्न-चित्त रहें !) यह सनातनी श्रुति स्पष्टतया मनःप्रसाद के महत्त्व का वर्णन करती है। इसमें कोई सन्देह नहीं है।

मनःप्रसाद-रूप संपत्ति का स्वरूप कैसा है ? तथा मनुष्य उसका अर्जन कैसे कर सकता है ?

उसकी प्राप्ति में कौन-कौन सी बाधाएँ आती हैं ? उनका प्रतीकार किन-किन उपायों से किया जा सकता है ? नीचे हम इन्हीं प्रश्नों के समाधान करने का यत्न करेंगे।

[१]

प्रसादनी शक्ति

"यथा नः सर्वमिज्जगदयक्ष्मं सुमना असत्"

(यजुवद १६।४)।

अर्थात्, हमारी जीवनचर्या ऐसी हो जिसमे यह सारा जगत् हमको व्याधियों से बचाकर प्रसन्नता देनेवाला हो !

भगवान् की प्रसादनी शक्ति सारे विश्व में व्याप्त है। हम सदा उसका अनुभव कर सकें ! इसी भावना का वर्णन नीचे के पद्यों में किया गया है—

लोकोत्तरेण दिव्येन माधुर्येण समन्विता।
येयं प्रसादनी शक्तिर्लोके सर्वत्र संस्थिता ॥१०॥
सूर्ये चन्द्रे जले वायावुत्फुल्लकुसुमावलौ।
सहजस्नेहमूर्त्तीनां साधूनामाननेषु वा ॥११॥
पित्रोः प्रेमलतापुष्पीभूते रम्ये च शैशवे।
सेयमाविर्भवेत् शश्वत् तिष्ठतान्मम मानसे ॥१२॥

लोकोत्तर दिव्य माधुर्य से समन्वित,
जो प्रसादनी शक्ति
सृष्टि में सर्वत्र—
सूर्य में, चन्द्रमा में, जल में, वायु में,
प्रफुल्ल कुसुमावलि में,
अथवा सहज स्नेह के मूर्त्ति रूप
साधुओं के मुखमण्डलों पर,
यद्वा माता-पिता की प्रेमलता के
पुष्प-रूप सुन्दर शैशव में—
संस्थित है, वह आविर्भूत होकर
सर्वदा मेरे मन में वास करे !

[२]

दिव्य शान्ति

"सा मा शान्तिरेधि" (यजुर्वेद ३६।१७)।

अर्थात्, जो शान्ति सर्वत्र विश्व में फैली हुई है वह मुझे प्राप्त हो !

येयं शान्तिकला दिव्या लोकानां शान्तिदायिनी।
चन्द्रेऽपि चारुतां धत्ते सा मे नित्यं प्रकाशताम् ॥१३॥

जो दिव्य शान्ति-कला
लोक-लोकान्तरों को शान्ति देती है
और चन्द्रमा में भी हृदयाह्लादिनी
मधुरिमा को स्थापित करती है
वह मेरे लिए सदैव प्रकाशित हो !

[३]

प्रकृति-माता की गोद में !

"यत्रानन्दाश्च मोदाश्च मुदः प्रमुद आसते।
··· ··· ···तत्र माममृतं कृधि··· ··· (ऋग्वेद ९।११३।११)।

अर्थात्, भगवन् ! मुझे सदा आनन्द, मोद, प्रमोद और प्रसन्नता की मन:स्थिति में रखिए !

प्रकृतेर्मातृभूतायाः क्रोडे क्रीडन्ननारतम् ।
लालितः पालितश्चापि सदानन्दो वसाम्यहम् ॥१४॥

स्नेहार्द्रं नित्यसंस्थायि तस्या माधुर्यमद्भुतम् ।
दृष्ट्वा पीत्वेव पीयूषं सदानन्दो वसाम्यहम् ॥१५॥

प्रकृति-माता की गोद में
सदा क्रीडा करता हुआ,
तथा लालित और पालित,
मैं सदा आनन्द से रहता हूँ !
उसके स्नेह से आर्द्र, नित्य रहने वाले,
अद्भुत माधुर्य को देखकर,
मानो अमृत को पीकर,
मैं सदा आनन्द से रहता हूँ !

[४]

हृदयोल्लास

"ऋतस्य धीतिर्वृजिनानि हन्ति" (ऋग्वेद ४।२३।८)।

अर्थात्, प्राकृतिक नियमों का परिज्ञान तथा अनुसरण मनुष्य के हृदय की मलिनता और अनुत्साह को दूर करता है ।

मनुष्येण विना कश्चिदन्यः प्राणी न विद्यते ।
यस्य दृष्टावियं सृष्टिरुल्लासाय न जायते ॥१६॥

मनुष्य को छोड़कर कोई दूसरा प्राणी संसार में ऐसा नहीं है जिसकी दृष्टि में यह सृष्टि उल्लास और प्रसन्नता करने वाली न हो ।

पक्षिरगः पशवो वापि मनुष्यैर्न वशीकृताः ।
क्रीडन्त इव दृश्यन्ते सृष्टेर्दृश्यैरनेकशः ।।१७।।

मनुष्य के वश में न आये हुए पक्षी और पशु भी सृष्टि के विभिन्न दृश्यों से मानो खेलते हुए देखे जाते हैं ।

स्वागतं ननु सोत्कण्ठाः कुर्वन्तोऽहर्मुखस्य ते ।
प्रातरुत्थाय कूजन्तः पक्षिरगः केन न श्रुताः ? ।।१८।।

प्रातः उठकर कोमल मधुर शब्द करते हुए, मानो उत्कण्ठा के साथ प्रभात का स्वागत करते हुए, पक्षियों को किसने नहीं सुना है ?

उत्प्लुत्योत्प्लुत्य धावन्त उल्लासेनावशा इव ।
अरण्येषु मृगाः केन न दृष्टा मोदनिर्भराः ? ।।१९।।

हर्ष और आनन्द से मानो आपे से बाहर होकर, जंगलों में उछल-उछल कर दौड़ते हुए, आनन्द से विभोर मृगों को किसने नहीं देखा है ?

प्राणिनां बुद्धिजीवित्वात् तिष्ठतां मूर्ध्नि सर्वथा ।
दुर्दशेयं मनुष्यारगां कुत एतद्विचिन्त्यताम् ।।२०।।

बुद्धिजीवी होने के कारण मनुष्यों का स्थान सर्वथा सब प्राणियों में ऊँचा है । फिर भी मनुष्यों की यह दुर्दशा क्यों है ? इस पर हमें विचार करना चाहिए ।

प्रकृत्या सह संपर्कं त्यक्त्वा स्वास्थ्यैककारणम् ।
इन्द्रियार्थेषु लोलानां तेषामेषा नु दुर्दशा ।।२१।।

ऊपर के प्रश्न का उत्तर यही है कि स्वास्थ्य और प्रसन्नता का मुख्य कारण है—प्रकृति के साथ संपर्क अथवा प्राकृतिक जीवनचर्या । पर मनुष्यों ने इन्द्रियों के विषयों में आसक्त होकर उस संपर्क को छोड़ दिया है । उनकी वर्तमान दुर्दशा का (जिसमें उन्हें सृष्टि के प्राकृतिक दृश्यों में उल्लास नहीं प्रतीत होता) यही कारण है ।

[५]

जीवन में स्वर्गीय सुख

"देवानां सख्यमुप सेदिमा वयम्" (१।८९।२)।

अर्थात्, हम देवताओं के सख्य को प्राप्त करें !

अग्नि, वायु, सूर्य आदि के रूप में सृष्टि को चलाने वाली प्राकृतिक शक्तियों को 'देवता' और प्राकृतिक जीवन को ही 'देव-सख्य' अथवा 'यज्ञ' (= देव-संगति) इन शब्दों से वेदों में कहा गया है। उन्हीं देवताओं तथा उनके साथ सख्य (= देवसख्य) की महिमा का वर्णन नीचे के पद्यों में किया गया है—

निधानं सर्वरत्नानां हेतुः कल्याणसंपदाम्।
सर्वस्या उन्नतेर्मूलं महतां सङ्ग उच्यते ॥२२॥

महान् पुरुषों का संग समस्त उत्कृष्ट अमूल्य पदार्थों का आश्रय, कल्याण-संपत्तियों का हेतु और सारी उन्नति का मूल कहा जाता है।

नीचे देवताओं के महत्त्व को और उनके साथ सखिभाव की आवश्यकता को बतलाते हैं—

सातत्येन स्वकर्तव्यपालने ये दृढव्रताः।
स्वार्थबुद्ध्या न संपृक्ताः परोपकरणे रताः ॥२३॥
विश्वसंचालने भागं संजानाना उपासते।
अनादिनिधना नूनमस्मद्दृष्ट्या न संशयः ॥२४॥
ते देवा वेद आम्नाता महद्भ्योऽपि महत्तराः।
विश्वस्मादंहसोऽस्माकं त्रातारो ये सुदानवः ॥२५॥
सायुज्यमथ सारूप्यं सालोक्यमपि वा पुनः।
वस्तुतः सखिभावश्च तैः सहास्माभिरिष्यताम् ॥२६॥

जो सर्वदा अपने कर्तव्यों के पालन में दृढव्रत हैं,

स्वार्थ-बुद्धि से संपृक्त न होकर परोपकार में रत हैं,

परस्पर सांमनस्य रखते हुए विश्व के संचालन में अपने-अपने भार को वहन करते हैं,

हमारी दृष्टि से निस्सन्देह आदि और अन्त से रहित हैं,
बड़ों से भी बड़े, सारे पापों से हमको बचाने वाले और अच्छे दानी हैं,
वेद में ऐसे ही देवताओं का वर्णन किया गया है ।

उन्हीं के साथ हमें एकीभाव, सरूपता, सलोकता और वास्तविक सखिभाव की इच्छा करनी चाहिए ।

नीचे देवताओं के नियमों के अनुकूल जीवन की महिमा को बतलाते हैं—

देवानां नियमानाहुर्ऋतशब्देन पण्डिताः ।
अस्माकं जीवनस्यापि व्यापारास्तैर्नियन्त्रिताः ॥२७॥

देवानां सुमतौ तिष्ठन् सर्वभावेन सर्वदा ।
जीवन्नेव नरो नूनं सुखं स्वर्ग्यं समश्नुते ॥२८॥

देवताओं के नियमों को पण्डित 'ऋत' शब्द से कहते हैं ।
उन्हीं नियमों से हमारे जीवन के व्यापार भी नियन्त्रित हैं ।
पूरे प्रयत्न से सर्वदा देवताओं के नियमों की अनुकूलता में रहने वाला
मनुष्य जीता ही अवश्य स्वर्गीय सुख को प्राप्त कर लेता है ।

सत्सङ्गतेर्महत्त्वं यद् उच्चैराहुर्मनीषिणः ।
वस्तुतस्तस्य सार्थक्यं जायते देवसंगतौ ॥२९॥

मनीषी लोग सत्संगति के महत्त्व की
जो विशेष चर्चा करते हैं,
उसकी सार्थकता वस्तुतः
देव-संगति में ही होती है ।

देवसंगतिरेवैषा सर्वकामदुघा नृणाम् ।
ऋषिभिर्यज्ञशब्देन श्रुत्यादिषु निगद्यते ॥३०॥

यही देवसंगति मनुष्यों की
समस्त कामनाओं को पूर्ण करने वाली है ।
वेद आदि में ऋषियों द्वारा 'यज्ञ' शब्द से
वास्तव में देव-संगति का ही कथन किया गया है ।

[६]

लोकसेवा

"पुमान् पुमांसं परि पातु विश्वतः" (ऋग्वेद ६।७५।१४)।

अर्थात्, एक दूसरे की सर्वथा रक्षा और सहायता करना मनुष्यों का मुख्य कर्तव्य है।

सुगन्धि दर्शनीयं च लोकरञ्जनतत्परम्।
दृष्ट्वा कुसुममारामे सर्वैरप्यभिनन्दितम् ॥३१॥
प्रसादसुमुखः शीलचारित्र्याभ्यां सुवासितः।
उद्युक्तो लोकसेवायां भवेयमिति भावये ॥३२॥

उपवन में सुगन्धित, सुन्दर, सब लोगों के रञ्जन में तत्पर
और साथ ही सब के द्वारा अभिनन्दित पुष्प को देखकर,
मेरे मन में आता है कि
मुझे भी प्रसन्न-मुख, शील और चारित्र्य के सुगन्ध से वासित
तथा लोक-सेवा में तत्पर होना चाहिए !

[७]

परमेश्वर की प्रसन्नता

"तस्य वयं सुमतौ यज्ञियस्यापि भद्रे सौमनसे स्याम"

(ऋग्वेद ३।५९।४)

अर्थात्, हम पूजनीय परमेश्वर की अनुकूलता और कल्याणप्रद प्रसन्नता को प्राप्त करें।

कार्यकारणसूत्रेण सूत्रधारेण केनचित् ।
नियन्त्रितं जगत्कृत्स्नं सर्वानुग्रहहेतवे ॥३३॥

तत्रासक्तिं परित्यज्य कर्तव्यं कर्म कुर्वतः ।
प्रभोः प्रसादनायैव व्यग्रता निष्प्रयोजना ॥३४॥

इस जगत् या विश्व के सूत्रधार या नियामक परमात्मा ने कार्य और कारण के सूत्र अर्थात् नियम द्वारा, सब के कल्याणार्थ, सारे जगत् को नियन्त्रित कर रखा है ।

ऐसी स्थिति में कर्म-फल में आसक्ति को छोड़कर जगत्प्रभु ईश्वर की प्रसन्नता के उद्देश्य से ही अपने कर्तव्य कर्म को करने वाले के लिए व्यग्रता या चित्त की व्याकुलता नितरां व्यर्थ है ।

[८]

व्यग्रता की व्यर्थता

"ब्रह्म वर्म ममान्तरम्" (ऋग्वेद ६।७५।१९) ।

अर्थात्, परमात्मा का विश्वास ही मेरा आन्तरिक कवच है ।

त्वमेव त्वत्प्रियो वापि वर्तते कष्टसन्ततौ ।
यदा, तदा परीक्षायाः कालोऽस्तीति विभाव्यताम् ॥३५॥

जब तुम या तुम्हारा कोई प्रियजन आपत्तियों में फँसा हो, तब 'यह परीक्षा का समय है' ऐसा सोचना चाहिए ।

कुर्वंस्तदा यथाशक्ति प्रतीकारमधीरताम् ।
व्यग्रतां वाप्यविश्वासं मा भजेथाः परात्मनि ॥३६॥

उस समय यथाशक्ति आपत्तियों का प्रतीकार करते हुए अधीरता, व्यग्रता अथवा परमात्मा में अविश्वास को अपने पास न आने दो ।

कुर्वती चित्तविक्षोभमात्मदौर्बल्यमेव च।
कार्यसिद्धेर्विघातं च व्यग्रता निष्प्रयोजना ॥३७॥

चित्त-विक्षोभ, आत्म-दुर्बलता और कार्य-सिद्धि में विघात करने वाली व्यग्रता से कोई भी प्रयोजन सिद्ध नहीं होता।

नद्यावर्त्तन ग्रस्तो यस् त्यक्तधैर्यो भवेन्नरः।
त्रातुं शक्तः स नात्मानं परं वापीति दृश्यते ॥३८॥

देखने में आता है कि नदी के भँवर में फँसा हुआ मनुष्य यदि धैर्य को छोड़ देता है तो न तो वह अपनी रक्षा कर सकता है, न दूसरे की।

[९]

अपना मूल्य

"आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति" (बृहदारण्यकोपनिषद् २।४।५)।

अर्थात्, अपने ही कारण सब पदार्थ हमको प्रिय होते हैं।

अर्थो वापि पदं वापि लोकैर्यदभिलष्यते।
तदर्थं यत्नमातिष्ठेद् यावच्छक्ति सुधीर्नरः ॥३९॥
परं तदनवाप्तिश्चेन् नात्मानमवसादयेत्।
नूनं तन्मूल्यमल्पीय आत्मनोऽपेक्षया मतम् ॥४०॥

लोग जिसकी अभिलाषा रखते हैं ऐसे पदार्थ या पद की प्राप्तिके लिए बुद्धिमान् मनुष्य को यथाशक्ति प्रयत्न करना चाहिए।

परन्तु यदि वह पद या पदार्थ उसे प्राप्त न हो तो उसे अपने को खिन्न न होने देना चाहिए, क्योंकि उस पदार्थ या पद का मूल्य जिसको वह चाहता है उसकी अपनी अपेक्षा कम ही माना जाता है। अर्थात्, उसका अपना मूल्य उस पद या पदार्थ के मूल्य से कहीं अधिक होता है; क्योंकि पद या पदार्थ उसके लिए होते हैं, न कि वह उनके लिए।

मनुष्य का अपना वास्तविक महत्व कितना बड़ा है, इसका प्रतिपादन नीचे किया गया है—

निधानं सर्वशक्तीनां तेजस्तेजस्विनां तथा ।
नात्मानमवमन्येथा आतमोंहवशं गतः ॥४ ॥

अयि भाई ! अज्ञान-वश होकर अपनी आत्मा का अपमान न करो, जो सारी शक्तियों का आश्रय है और सूर्य आदि तेजस्वी पदार्थों का तेज है ।

यदेतदान्तरं ज्योतिः सर्ववस्तुप्रकाशकम् ।
भोक्तृ यच्चापि लोकानां तदहं नात्र संशयः ॥४२॥

जो तत्त्व इस आभ्यन्तर ज्योति के रूप में सारी वस्तुओं का प्रकाशक है और लोकों का भोक्ता है, मैं वही हूँ, इस विषय में कोई संदेह नहीं है ।

अभिप्राय यह है कि आत्मा ही सब वस्तुओं का द्रष्टा और उपभोक्ता है । अर्थात्, आत्मा के कारण ही उनके अस्तित्व और महत्त्व का अर्थ समझा जा सकता है ।

[१०]

रात्रि के पश्चात् प्रभात होता है

लोकेऽत्र जीवनमिदं परिवर्तशीलं
दृष्ट्वा विभावय सखे ! ध्रुवसत्यमेतत् ।
"रात्रिर्गमिष्यति भविष्यति सुप्रभातं
भास्वानुदेष्यति हसिष्यति पङ्कजश्रीः"[१] ॥४३॥

संसार में यह जीवन परिवर्तन-शील है, यह देखकर,
अयि मित्र ! इस ध्रुव सत्य का सदा ध्यान रखो कि
'रात्रि बीत जायगी, प्रातःकाल होगा, सूर्यदेव का उदय होगा,
और कमलों की लक्ष्मी खिलकर हँस उठेगी' ।

अर्थात्, आपत्ति के समय का अन्त अवश्य होगा और अच्छा समय लौटेगा, इसका विश्वास सबको रखना चाहिए ।

---

१. तु० "उदयान्ता च शर्वरी ।...दुःखस्यान्तं सदा सुखम्" (महाभारत, आश्वमेधिक पर्व ४४।१८)

"धैर्यं निधाय मनसि प्रतिपालयेदं
निस्संशयं क्षणमिव क्षणदावसानम् ।
प्रत्यूष एव भवतोऽभिमतार्थसिद्धे-
र्द्वारं भविष्यति विसंघटितापिधानम्" ॥४४॥

मन में धैर्य रखकर, एक क्षण के समान, नि:संशय होने वाले
रात्रि के अवसान (अर्थात् रात्रि की समाप्ति) की तुम प्रतीक्षा करो !
पौ फटते ही तुम्हारे अभिमत अर्थ की
सिद्धि का द्वार खुल जायगा !

[११]

मनःप्रसाद

"विश्वदानीं सुमनस: स्याम" (ऋग्वेद ६।५२।५) ।

अर्थात्, हम सर्वदा प्रसन्न-चित्त रहें !

नानाधिव्याधिखिन्नेभ्यो मानवेभ्य: परात्मना ।
मन:प्रसादरूपोऽयं प्रसादो नूनमर्पित: ॥४५॥

नाना प्रकार की आधियों और व्याधियों से खिन्न मनुष्यों के लिए परमात्मा ने मन:प्रसाद (= मन की प्रसन्नता) रूपी प्रसाद प्रदान किया है ।

यथा सूर्योदये प्रातर् ध्वान्तं धावति दूरत: ।
तथा मन:प्रसादेन सर्वा बाधा प्रशाम्यति ॥४६॥

जैसे प्रात:काल सूर्योदय के होते ही अन्धकार दूर भाग जाता है, वैसे ही मन:प्रसाद से सारी बाधायें शान्त हो जाती हैं ।

प्रत्यक्षं देवता ह्येषा सद्य: कल्याणकारिणी ।
जयाय सर्वलोकानाममोघो मन्त्र एव वा ॥४७॥

मन:प्रसाद को प्रत्यक्ष देवता ही समझना चाहिए जो अपने उपासक का तत्काल कल्याण करने वाली है । अथवा, सब लोगों पर विजय प्राप्त करने के लिए इसको अमोघ मन्त्र ही समझना चाहिए ।

कर्तव्यमिदमस्माकं प्रथममवधार्यताम् ।
सर्वदा सर्वथा तस्य परिरक्षा विधीयताम् ।।४८।।

हमारा यह प्रथम कर्तव्य होना चाहिए कि हम मन:प्रसाद की सब प्रकार से सदा रक्षा करें ।

आगे उसकी रक्षा के उपायों को बतलाते हैं—

'अस्मद्धिताय संसृष्टा सृष्टिरेषा परात्मना ।'
मन:प्रसादरक्षायै चिन्तनीयं मुहुर्मुहुः ।।४९।।

'यह सृष्टि परमात्मा ने हमारे हित के लिए ही रची है' मन:प्रसाद की रक्षा के लिए बार-बार यही सोचना चाहिए ।

साथ ही,

सत्यं दमोऽनसूया च बुद्धिर्लोकहितैषिणी ।
उपायास्तस्य रक्षाया अभियुक्तैः प्रकीर्तिताः ।।५०।।

प्रामाणिक विद्वानों ने सत्य, दम (इन्द्रिय-संयम), अनसूया (= ईर्ष्या न करना) और संसार के हित को चाहने वाली बुद्धि—इन उपायों को भी मन:प्रसाद की रक्षा के लिए बतलाया है ।

[१२]

चिन्ता और कर्तव्यपालन

"विश्वाहा वयं सुमनस्यमानाः" (ऋग्वेद ६।७५।८) ।

अर्थात्, हम सदा ही अपने को प्रसन्न रखें !

जनस्य वस्तुनो वापि विषये योपजायते ।
चिन्ता सा निष्फला नूनमात्मसन्तापकारणम् ।।५१।।

किसी प्रियजन या वस्तु के विषय में जो चिन्ता की जाती है, वह निश्चय ही निष्फल होती है और उससे आत्मा को सन्ताप ही होता है ।

तस्माच्चिन्तास्थले चित्तप्रसादेन विशुद्धधीः ।
कर्तव्यमाचरंस्तिष्ठेदात्मवान् धैर्यसंयुतः ॥५२॥

इसलिए आत्म-संयम रखने वाले व्यक्ति को चाहिए कि, चिन्ता के विषय के उपस्थित होने पर, मन:प्रसाद द्वारा अपनी बुद्धि को ठीक रखते हुए धैर्य के साथ अपने कर्तव्य का ही पालन करे ।

चिन्तया चित्तसंताप आत्मदौर्बल्यमेव च ।
प्रत्यक्षं जायते, तस्माच् चिन्तां तां परिवर्जयेत् ॥५३॥

यह प्रत्यक्ष देखने में आता है कि चिन्ता से चित्त को सन्ताप और आत्म-दुर्बलता ही होती है । इसलिए चिन्ता को छोड़ ही देना चाहिए ।

मन:प्रसादमाश्रित्य सुसुखमापदापगाः ।
धीरास्तरन्ति, नात्मानमवसादं नयन्ति ते ॥५४॥

धीर मनुष्य मन:-प्रसाद का सहारा लेकर आपत्ति की नदियों को सुख-पूर्वक पार कर जाते हैं । वे अपने को दुःखी नहीं करते ।

[१३]

आभ्यन्तर शत्रु

"मा त्वा परिपन्थिनो विदन्" (यजुर्वेद ४।३४) ।

अर्थात्, ऐसा यत्न करो कि तुम्हारी उन्नति के बाधक शत्रु तुम पर विजय प्राप्त न कर सकें ।

शत्रोराक्रमणे शक्त्या प्रतिरोधाय यत्यते ।
स्वगृहाभ्यन्तरे तस्मा अवकाशो न दीयते ॥५५॥

शत्रु के आक्रमण करने पर पूर्ण शक्ति से उसके रोकने का यत्न किया जाता है । अपने घर के अन्दर आने के लिए उसको अवकाश नहीं दिया जाता ।

तथाक्रमणवेलायां लोभादीनां समन्ततः ।
नावकाशः प्रदातव्य आत्मनोऽभ्यन्तरे बुधैः ॥५६॥

इसी प्रकार सब ओर से लोभ, मोह आदि मनो-विकारों के आक्रमण करने पर बुद्धिमानों को चाहिए कि उनको अपने अन्दर घुसने का अवकाश न दें ।

एते हि शत्रवः क्रूराः प्रविश्यान्तः प्रमाथिनः ।
बुधस्तानभियुध्येत पूर्णशक्त्या ह्यतन्द्रितः ॥५७॥

ये लोभादि शत्रु बड़े क्रूर हैं और अन्दर प्रवेश करके अत्यन्त पीडा देने वाले हैं । इस लिए बुद्धिमान् को चुस्त होकर पूर्ण शक्ति के साथ पहले से ही उनका सामना करके युद्ध करना चाहिए ।

[१४]

नाम-संकीर्तन की महिमा

"मयि धेहि रुचारुचम्" (यजुर्वेद १८।४८) ।

अर्थात्, भगवन् ! मुझे प्रसन्नता के प्रकाश से भरपूर कर दीजिए ।

यथा तमोवृतं सद्म प्रकाशे सति दीप्यते ।
यथारण्यं निरानन्दमारामैरुपशोभते ॥५८॥

आरामरमणीयत्वं यथा पुष्पैश्च जायते ।
यथोदयेन चन्द्रस्य राजते रजनीमुखम् ॥५९॥

सुविचारैर्जपेनेशनामसंकीर्तनेन च ।
तथैव मानसं सद्यः प्रसन्नं जायते ध्रुवम् ॥६०॥

एवं भूयः प्रयत्नेन ज्ञानविज्ञाननाशनम् ।
मोहं नैराश्यमुन्मूल्य यतात्मा विचरेन्मुनिः ॥६१॥

जैसे अन्धकार से आवृत भवन प्रकाश के होने पर प्रदीप्त हो उठता है,

जैसे बीहड़ जंगल उपवनों के रूप में शोभायमान हो जाता है ।

जैसे फूलों से उपवनों की रमणीयता बढ़ जाती है,

जैसे चन्द्रमा के उदय होने पर रजनी का मुँह कान्तियुक्त हो जाता है,

ऐसे ही मानव का हृदय अच्छे विचारों से, जप से और भगवन्नाम के संकीर्तन से निश्चय ही तत्काल प्रसन्न हो जाता है;

अर्थात् उसका हृदय-कमल खिल उठता है ।

संयतात्मा मुनि को इस प्रकार, बार-बार प्रयत्नपूर्वक ज्ञान और विज्ञान को नाश करने वाले मोहरूपी नैराश्य का उन्मूलन करके, अपने जीवन-पथ पर अग्रसर होना चाहिए ।

[१५]

परमात्मा का वरद हस्त

"नास्य क्षीयन्त ऊतयः" (ऋग्वेद ६।४५।३)।

अर्थात्, भगवान् के रक्षणों में कभी कमी नहीं आती ।

नूनं स्वजन्मनः पूर्वमन्तर्यामिनियन्त्रितः ।
अभूवमहम्, एवं वै मृत्योः पश्चात्स्थितिर्ध्रुवा ॥६२॥
सत्येवम्, 'अल्पकालेऽस्मिञ्जीवनेऽपि परात्मना ।
सर्वथा रक्षितो वर्त्ते' इत्येवमवधार्यताम् ॥६३॥

अपने जन्म से पहले मैं निश्चय ही अन्तर्यामी परमात्मा से नियन्त्रित था । मृत्यु के पश्चात् भी निस्सन्देह ऐसी ही स्थिति होगी । ऐसी दशा में, "इस अल्पकालीन जीवन में भी मैं परमात्मा से सर्वथा रक्षित हूँ" ऐसा ही समझना चाहिए ।

अभिप्राय यह है कि जन्म से पहले उसकी क्या दशा थी और मरने के बाद क्या होगी, यह कोई मनुष्य नहीं जानता । उक्त दोनों अवस्थाओं में वह किसी अदृष्ट शक्ति द्वारा ही नियन्त्रित तथा रक्षित रहता है । ऐसी स्थिति में, इस स्वल्पकालीन जीवन में भी वह उसी अदृष्ट शक्ति द्वारा सर्वथा रक्षित है, ऐसी ही भावना प्रत्येक मनुष्य को करनी चाहिए ।

[१६]

जीवन का नाटच

"साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च" (श्वेताश्वतरोपनिषद् ६।११)।

अर्थात्, वह परमात्मा सब का साक्षी, ज्ञानस्वरूप, निर्द्वन्द्व और सत्त्व-रजस्-तमस् इन तीनों गुणों से रहित है।

धनव्ययेन दृश्यानि नाट्यादीनि समुत्सुकाः।
पश्यन्ति लौकिकास्तद्वद् वर्त्तेथा जीवनं प्रति ॥६४॥

सांसारिक लोग धन का व्यय करके बड़ी उत्सुकता के साथ नाट्य आदि के दृश्यों (तमाशों) को देखते हैं। जीवन के विषय में भी तुम ऐसा ही वर्ताव रखो।

अभिप्राय यह है कि जीवन मानो एक नाटक है। उसकी सुख-दुःखात्मक घटनाओं में लिप्त न होते हुए ही, मनुष्य को अपने अनुभव की वृद्धि और विकास के मार्ग पर आगे बढ़ते रहना चाहिए।

[१७]

उत्तरोत्तर उन्नति का लक्ष्य

"प्रतार्यायुः प्रतरं नवीयः" (ऋग्वेद १०।५६।१)।

अर्थात्, भगवन्! हमें उत्तरोत्तर समुन्नति-शील नवीनतर जीवन में अग्रसर कीजिए!

जन्मजन्मान्तरस्यैतद् विज्ञा आहुः प्रयोजनम्।
अनुभूतिविशेषैर्यदुत्तरोत्तरमुन्नतिः ॥६५॥

विज्ञों का कहना है कि विभिन्न अनुभवों द्वारा उत्तरोत्तर उन्नति अथवा विकास ही जन्म-जन्मान्तर का प्रयोजन है।

तस्माद् यानुभवस्याप्तिर्मानवस्येह जायते।
दु:खरूपापि सा नूनं मन्तव्या सप्रयोजना ॥६६॥

इस लिए मनुष्य को इस जीवन में दु:ख-रूप में भी जो अनुभव प्राप्त होता है उसको सप्रयोजन ही समझना चाहिए।

अभिप्राय यह है कि मनुष्य को अपने जीवन की दु:खात्मक घटनाओं से न घबड़ाकर उनको, उनसे प्राप्त शिक्षा या अनुभव द्वारा, अपने उत्तरोत्तर विकास का साधन ही बनाना चाहिए। क्योंकि—

यथार्ज्यते धनं लोके दु:खैः कष्टैश्च भूरिशः।
तथा तैरर्ज्यते ज्ञानं जनैरनुभवात्मकम् ॥६७॥

जैसे संसार में अनेक प्रकार के दु:खों और कष्टों से धन का संचय किया जाता है, वैसे ही अनुभवात्मक ज्ञान भी अनेक दु:खों और कष्टों से संचित किया जाता है।

[१८]

ईश्वर-प्रार्थना

"महीरस्य प्रणीतयः पूर्वीरुत प्रशस्तयः।
नास्य क्षीयन्त ऊतयः।" (ऋग्वेद ६।४५।३)।

अर्थात्, भगवान् की लीला या चरित्रों की कोई सीमा नहीं है। उनकी गुण-वर्णना की गणना नहीं हो सकती। उनके रक्षणों में कभी कमी नहीं आती।

दत्तं देवेन यत् तुभ्यं तदर्थं स्वकृतज्ञताम्।
ब्रूहि तं परमात्मानं मा भूत् तेऽत्र कृतघ्नता ॥६८॥

परमात्मा ने जो कुछ तुमको दिया है, तुमको चाहिए कि उसके लिए परमात्मा के प्रति अपनी कृतज्ञता को प्रकट करो। इस विषय में तुम्हें कृतघ्न न होना चाहिए।

यदवाप्तं त्वया देवात् तदर्थं योग्यतात्मनः ।
दर्शनीया प्रयत्नेन प्रार्थनीयं ततोऽधिकम् ।।६९।।

तुमने जो कुछ परमात्मा से पाया है उसके लिए पहले प्रयत्न-पूर्वक अपनी योग्यता को दिखलाओ । उसके अनन्तर ही उससे अधिक के लिए प्रार्थना करनी चाहिए ।

यच्चाप्राप्तं तदर्थं मा व्यग्रो भूर्यत्नमाचरेः ।
सत्ये श्रद्धामथास्तिक्यं भज विश्वासमात्मनि ।।७०।।

जो तुमको नहीं प्राप्त हुआ है उसके लिए व्यग्र न होकर प्रयत्न करो । साथ ही, सत्य में श्रद्धा, आस्तिक्य (=अपने आदर्शों में आस्था) और आत्म-विश्वास रखो ।

यच्चाप्यधिगतं देवात् तुच्छत्वेनावमन्यते ।
मूढैस्, तद्वस्तुतोऽमूल्यं विज्ञैरेवं विभाव्यते ।।७१।।

ईश्वर से जो कुछ हमको मिला है, मूढ तुच्छ समझकर उसका अपमान करते हैं । परन्तु विज्ञ वास्तव में उसको अमूल्य समझते हैं ।

एकैकमिन्द्रियं तावद् बुद्धिर्वा स्वास्थ्यमेव वा ।
यत्त्वयाधिगतं देवात् तस्य मूल्यं विभाव्यताम् ।।७२।।

विद्यतेऽत्र जनः कश्चिद् विक्रेतुमुद्यतो भवेत् ।
त्रिलोक्या अपि मूल्येन ह्यर्थेष्वेतेषु कश्चन ? ।।७३।।

जो कुछ तुमने परमात्मा से पाया है—एक-एक इन्द्रिय, अथवा बुद्धि, अथवा स्वास्थ्य—उसके मूल्य पर तो तनिक विचार करो !

इस संसार में क्या कोई ऐसा मनुष्य है जो तीनों लोकों के मूल्य से भी इन पदार्थों में से किसी एक को भी बेचने को उद्यत होगा ?

तस्माद् विज्ञैर्विवेकेन वस्तुमूल्यं विभाव्यताम् ।
तद्दृष्ट्या तस्य तुच्छत्वं महत्त्वं वावधार्यताम् ।।७४।।

इसलिए विज्ञों को विवेक-पूर्वक वस्तुओं के मूल्य पर विचार करना चाहिए और उस मूल्य की दृष्टि से उनके तुच्छत्व और महत्त्व का निश्चय करना चाहिए ।

एवंविधविचारैस्तु वर्तमाना मनीषिणः ।
धन्यवादपरा ईशे ह्यनिर्विण्णाः सदासते ।।७५।।

इस प्रकार के विचारों से जीवन-यात्रा करने वाले मनीषी लोग ईश्वर को धन्यवाद देते हुए सदा प्रसन्न-चित्त रहते हैं ।

[१९]

अविश्वास और विश्वास

प्रार्थयन्नपि लोकेशं यदि शङ्काकुलो भवान् ।
केवलं नात्मनोऽवज्ञा परेशस्यापि सा भवेत् ।।७६।।

अविश्वासोऽथ विश्वासः सह स्थातुं न शक्नुतः ।
परस्परं विरुद्धौ तौ प्रकाशतिमिरे यथा ।।७७।।

संशयानमनोवृत्तिं तस्माच्छित्वा दुरत्ययाम् ।
सर्वकार्यसमृद्ध्यर्थमात्मविश्वासमाश्रयेः ।।७८।।

जगदीश्वर की प्रार्थना करते हुए भी यदि आप का मन शङ्काओं से आकुल है, तो इससे केवल आपकी अपनी ही नहीं अपितु परमेश्वर की भी अवज्ञा होती है ।

अविश्वास और विश्वास एक साथ नहीं रह सकते । उन दोनों में परस्पर ऐसा ही विरोध है जैसा प्रकाश और अन्धकार में ।

इसलिए तुम्हें कठिनता से हटायी जाने वाली संशयालु-वृत्तिका उच्छेद करके, सब कार्यों में सफलता पाने के लिए, आत्म-विश्वास का आश्रय लेना चाहिए ।

[२०]

मानवता का महत्त्व

"पुरुषो वै प्रजापतेर्नेदिष्ठम्" (शतपथब्राह्मण २।५।१।१)

अर्थात्, सब प्राणियों में मनुष्य सृष्टिकर्ता परमेश्वर के सबसे अधिक समीप है।[1]

ऊपर आत्म-सम्मान और आत्म-विश्वास की बात कही गयी है। ऐसे सब प्रतिपादनों का आधार 'मानवता के महत्त्व का सिद्धान्त' है। इस मौलिक सिद्धान्त को हृदयंगम करके ही मनुष्य जीवन की प्रत्येक स्थिति में अपने मनः-प्रसाद को (अथवा मन के संतुलन को) स्थिर रख सकता है। उसी सिद्धान्त का प्रतिपादन नीचे की रचना में किया गया है—

उत्पाद्य सकलां सृष्टिमसन्तुष्टः प्रजापतिः।
सृष्टवानात्मरूपेण मन्ये मानुष्यकं महत् ॥७९॥

समस्त सृष्टि को उत्पन्न करके प्रजापति (ब्रह्मा) को सन्तोष नहीं हुआ। तब उन्होंने, हमारे मत में, अपने रूप में महान् मानवता की सृष्टि की।

परात्मनः स्वरूपं तदानन्दरसनिर्भरम्।
निर्मलं शाश्वतं शान्तं प्रेम-कारुण्यसुन्दरम् ॥८०॥
कुत्राप्यन्यत्र सुस्थानं न दृष्ट्वा खिन्नमानसम्।
स्वस्थं तिष्ठति यत्रैतन् मन्ये मानुष्यकं महत् ॥८१॥

आनन्द रस से परिपूर्ण, निर्मल, शाश्वत, शान्त और प्रेम तथा करुणा से सुन्दर परमात्मा का वह स्वरूप, मानवता से अन्यत्र कहीं भी अपने योग्य सुन्दर स्थान को न पाकर, खिन्न-मनस्क होकर, जहाँ आराम से रह सकता है, हमारे मत में, वह महान् मानवता ही है।

---

१. तु० "गुह्यं ब्रह्म तदिदं ब्रवीमि न मानुषाच्छ्रेष्ठतरं हि किञ्चित्" (महाभारत, शान्तिपर्व, २९९।२०)

अभिप्राय यह है कि परमात्मा के उक्त परम पवित्र स्वरूप का साक्षात्कार मानव ही कर सकता है तथा मानवता में ही वह स्वरूप मूर्तिमान् होकर दृष्टिगोचर हो रहा है।

इसी अर्थ को नीचे स्पष्ट किया गया है—

केवलं तत्र पश्यन्ति महात्मानो मनीषिणः।
योगिनस्तत्त्ववेत्तारस्तस्मात्स्वान्तःस्थमव्ययम् ॥८२॥
भास्वरं परमं तत्त्वं सर्वक्लेशविवर्जितम्।
तन्नूनं सुतरां पुण्यं मन्ये मानुष्यकं महत् ॥८३॥

उक्त कारण से ही मनीषी महात्मागण तथा तत्ववेत्ता योगीजन अपने अन्तःकरण में अवस्थित अव्यय, प्रकाशस्वरूप तथा सर्व क्लेशों से रहित उस परम तत्त्व को मानवता में ही देखते हैं। इसलिए, हमारे मत में, मानवता अत्यधिक पवित्र और महान् है।

विश्वस्मादुत्तरं तस्मात् सारवद् विश्वतोमुखम्।
विश्वभुग् विश्वद्रष्टृत्वपदे नित्यं प्रतिष्ठितम् ॥८४॥
आश्चयमद्भुतं दिव्य - गुणग्रामनिकेतनम्।
उत्तरोत्तरमुत्कर्षि मन्ये मानुष्यकं महत् ॥८५॥

इसलिए, हमारे मत से, मानवता का महत्त्व सबसे अधिक है। सारी सृष्टि का यह सार है। उसकी दृष्टि चारों ओर फैली हुई है। वह विश्व का उपभोग करती है और सदा विश्व के द्रष्टा के पद पर वह अवस्थित है। वह आश्चर्यरूप और अद्भुत है। दिव्य गुणों का स्थान है। अर्थात् उसके विकास का क्षेत्र अनन्त है।

धन्यास्ते तत्त्वमेतद् येऽसंशयेन विजानते।
अन्तरायशतेऽव्यग्रा नात्मानमवजानते ॥८६॥
किञ्च मानवमात्रस्य मानमातन्वते सदा।
नृषु सर्वेषु पश्यन्तो मन्ये मानुष्यकं महत् ॥८७॥

जो इस तत्त्व को निस्संशय रूप से जानते हैं, वे धन्य हैं। वे अनेकानेक विघ्नों के आने पर भी अपने आत्मा की अवज्ञा नहीं करते, अपने में हीन भावना नहीं आने देते। किंतु वे सब मनुष्यों में रहने वाली महान् मानवता को ध्यान में रखते हुए सदा प्रत्येक मनुष्य को सम्मान की दृष्टि से देखते हैं।

नरनारायणौ नित्यं केवलं यत्र तिष्ठतः।
भ्रातृभावं समापन्नौ परमं सख्यमाश्रितौ ॥८८॥
देवानामपि सर्वेषां स्थितिर्यत्रैव लभ्यते।
धर्मस्य तदधिष्ठानं मन्ये मानुष्यकं महत् ॥८९॥

जिस मानवता में ही भ्रातृभाव को प्राप्त होकर अथवा अत्यन्त सखिभाव से नर और नारायण दोनों एक साथ रहते हैं, समस्त देवताओं की स्थिति का अनुभव जिसमें होता है तथा जो धर्म का भी अधिष्ठान है, हमारे मत में, वह मानवता महान् है।

अभिप्राय यह है कि नर और नारायण अर्थात् मनुष्य और उसके आदर्श देव का योग मानव को छोड़ कर और कहीं नहीं हो सकता। इसी प्रकार मनुष्य को छोड़कर देवता अथवा धर्म भी और कहीं नहीं रह सकते।

ऋषयस्तत्त्वमर्मज्ञा मुनयो गतमत्सराः।
विक्रान्तयशसः शूराः सन्तश्चारित्र्यभूषणाः ॥९०॥
स्वोत्कर्षं यदवाप्यैव प्राप्तुं शक्ता असंशयम्।
तत्पदं परमोत्कृष्टं मन्ये मानुष्यकं महत् ॥९१॥

पदार्थों के मर्म को जानने वाले ऋषिगण, मद और मात्सर्य से रहित मुनिजन, पराक्रमशील शूरवीर और चारित्र्य से भूषित सत्पुरुष जिस स्थिति में रहकर ही अपने-अपने उत्कर्ष को पा सकते हैं, हम उस मानवता को महान् और परम उत्कृष्ट मानते हैं।

[२१]

प्रसन्नता से प्रफुल्ल-मुख रहो

उत्तरोत्तरमुत्कृष्टप्रगतौ दत्तमानसः।
आशावादमुपाश्रित्य प्रसादसुमुखो भव ॥९२॥
प्रकृतेः परमां शोभां व्याप्य लोकत्रयं स्थिताम्।
संपश्यन्ननिशं विद्वन्! प्रसादसुमुखो भव ॥९३॥

अपि विघ्नशतै रुद्धः शत्रुवर्गेण पीडितः ।
सद्भावैर्भावितात्मत्वात् प्रसादसुमुखो भव ॥६४॥

द्वन्द्वैरहमसंस्पृष्टो वस्तुतोऽस्मि निरञ्जनः ।
एतद्ध्यानपरो नित्यं प्रसादसुमुखो भव ॥६५॥

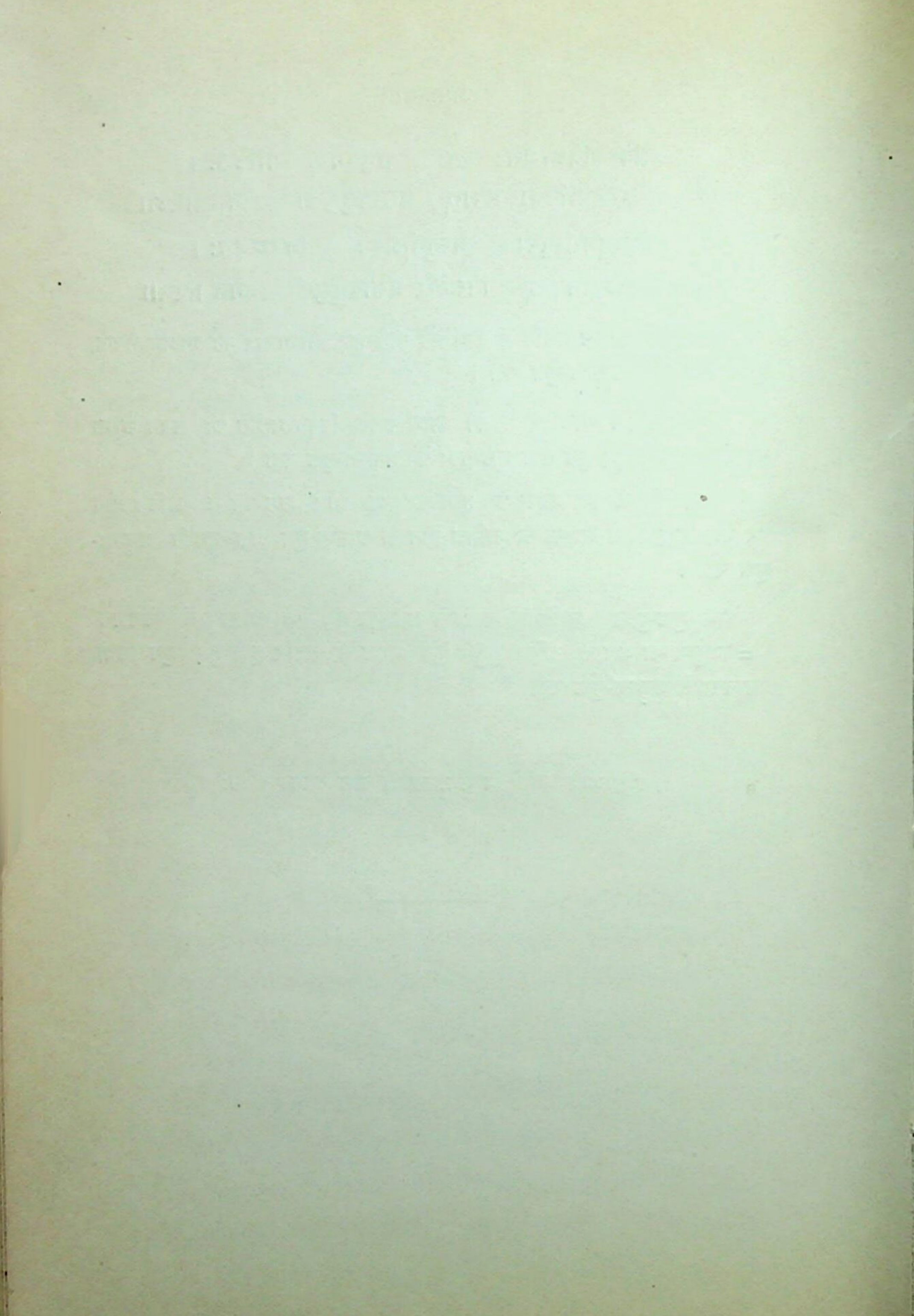
उत्तरोत्तर उत्कृष्ट प्रगति में दत्तचित्त होते हुए, आशावाद का आश्रय लेकर, तुम प्रसन्नता से प्रफुल्ल-मुख रहो !

अयि विद्वन् ! तीनों लोकों को व्याप्त करके स्थित प्रकृति की परम शोभा का ईक्षण करते हुए तुम सदा प्रसन्नता से प्रफुल्ल-मुख रहो !

सैकड़ों विघ्नों की बाधा के होने पर भी और शत्रु-वर्ग से पीडित होने पर भी, सद्भावों से आत्मा के भावित होने के कारण तुम प्रसन्नता से प्रफुल्ल-मुख रहो !

'मैं सुख-दुःख आदि के द्वन्द्वों से असंसृष्ट हूँ', 'मैं वास्तव में निरञ्जन (=कालुष्य या मल से रहित) हूँ' ऐसे ध्यान में तत्पर होते हुए तुम सदा प्रसन्नता से प्रफुल्ल-मुख रहो !

॥ इति जीवनज्योतिषि मनःप्रसादो नाम नवमो रश्मिः ॥



दशमो रश्मिः

आनन्दानुभवः

यत्रानन्दाश्च मोदाश्च मुदः प्रमुद आसते ।
...............तत्र माममृतं कृधि... ॥
(ऋग्वेद ९।११३।११)

...सर्वᳬ शान्तिः शान्तिरेव शान्तिः ।
सा मा शान्तिरेधि । (यजुर्वेद ३६।१७)

मा भेः, मा संविक्थाः (यजुर्वेद १।२३)



दशम रश्मि

आनन्दानुभव

हे देव ! मुझे उस स्थिति में अमृतत्व प्रदान कीजिए जिसमें आनन्द, आमोद, प्रीति और प्रसन्नता विद्यमान हैं । (ऋग्वेद ९।११३।११)

हमारे लिए सब कुछ शान्ति-दायक हो । हमारे लिए सर्वत्र सर्वदा शान्ति ही शान्ति हो ! (यजुर्वेद ३६।१७)

न तो तुम भय का अनुभव करो, न उद्विग्नता को प्राप्त होओ !
(यजुर्वेद १।२३)

आनन्दानुभव

नर उवाच

मन:प्रसादमाश्रित्य भवतोऽमृतसंनिभम् ।
श्रुत्वोपदेशमात्मानं मन्ये विगतकल्मषम् ॥ १ ॥

नूनं मन:प्रसादोऽयमीशस्यानुग्रहो महान् ।
यस्योदये प्रणश्यन्ति मोहध्वान्तोद्भवा गणाः ॥ २ ॥

सत्यमेतत्तथाप्येका शङ्का मनसि जायते ।
चिन्तामाश्रित्य या नूनं जननी क्लेशसन्ततेः ॥ ३ ॥

सर्वस्यापि जनस्येह सुषमा विषमास्तथा ।
अनिवार्यतयावस्था उत्पद्यन्ते यदा कदा ॥ ४ ॥

विषमावस्थापतितो नूनं मर्त्यो विषादसंमूढः ।
चिन्ताप्लावितचित्तो निजकर्तव्यं न जानीते ॥ ५ ॥

चिन्ताया एतस्या दुष्टाया दुर्विदग्धायाः ।
अपनोदनं यथा स्यात् कृपया ब्रूहि तं प्रतीकारम् ॥ ६ ॥

नर ने कहा

मन:प्रसाद के विषय को लेकर आप के अमृत जैसे उपदेश को सुनकर मैं अपने को पाप से रहित समझता हूँ ।

यह मन:प्रसाद निश्चय ही ईश्वर का बड़ा अनुग्रह है, जिसके उदय होने पर मोह-रूपी अन्धकार से उत्पन्न (दोषों का) गण नष्ट हो जाता है ।

यह ठीक है; तथापि चिन्ता के सम्बन्ध में, जो क्लेशों की परम्परा की जननी है, एक शङ्का मन में उत्पन्न हो रही है ।

इस संसार में प्रत्येक मनुष्य के जीवन में यदा-कदा सुषम (अनुकूल अथवा सुखद) और विषम (प्रतिकूल अथवा दुःखद) अवस्थाएँ अनिवार्य रूप से उपस्थित होती रहती हैं।

विषम अवस्था में पड़ा हुआ मनुष्य विषाद से मूढ हो जाता है और उसका चित्त चिन्ताओं से व्याप्त हो जाता है। उस अवस्था में उसे अपना कर्तव्य नहीं सूझता।

इस दुष्टा और दुर्विदग्धा (=पापिनी) चिन्ता का वारण जिस प्रकार हो सकता है, कृपया उस प्रतीकार को बतलाइए।

नारायण उवाच

श्रुत्वा शङ्कामेतां नितरां वत्स ! प्रसन्नोऽस्मि।
प्रयते वक्तुमुपायं चिन्ताहानिर्यथा भवति॥ ७॥

आनन्दानुभवो वै सर्वश्चिन्तापनोदनं कर्तुम्।
केवलमेक उपायस्तत्त्वज्ञानां सतामिष्टः॥ ८॥

नूनं स्वर्ग्यावस्था सैषा नैवात्र संदेहः।
यस्यां स्थितो विपश्चिच् चिन्तातापं न जानीते॥ ९॥

आनन्दानुभवो यस्य नैरन्तर्येण जायते।
सूर्योदये तमांसीव तस्य चिन्ता विलीयते॥१०॥

'आनन्दरूप आत्मायं' निश्चयो यस्य विद्यते।
आनन्दानुभवस्तस्य सातत्येन भवेद् ध्रुवम्॥११॥

अवकाशोऽपि चिन्तायास्तस्य स्वान्ते न विद्यते।
सर्वमेतदधस्तात्ते विस्तरेणोच्यते शृणु॥१२॥

श्रीनारायण ने कहा

हे वत्स ! तुम्हारी इस शङ्का को सुन कर मैं अत्यन्त प्रसन्न हूँ। मैं उस उपाय को बताने का प्रयत्न करूँगा जिसके द्वारा चिन्ता को हटाया जा सकता है।

तत्त्वज्ञानी सन्तों का मत है कि आनन्दानुभव (=आनन्द की अनुभूति) ही केवल एक ऐसा उपाय है जिससे चिन्ता का तत्काल प्रतीकार किया जा सकता है।

निश्चय ही यह वह स्वर्गीय अवस्था है जिसमें स्थित हुआ मनीषी चिन्ता के ताप को अनुभव नहीं करता; इसमें सन्देह नहीं है।

जिस व्यक्ति को निरन्तर आनन्द का अनुभव होता है उसकी चिन्ता, सूर्य के उदय होने पर अन्धकार के समान, नष्ट हो जाती है।

जिसका यह निश्चय है कि यह आत्मा आनन्द-स्वरूप है, निश्चय ही उसको सतत आनन्द का अनुभव होता है। उसके चित्त में चिन्ता को कुछ भी अवकाश नहीं मिलता। सुनो ! नीचे विस्तार-पूर्वक यह सब तुमको बतलाता हूँ।

कौन मनुष्य किस प्रकार निरन्तर आनन्द का अनुभव कर सकता है, इसी विषय का विचार नीचे की रचनाओं में किया गया है:—

१]

आनन्दमय जीवन

रम्यैर्भावैः सुमधुरैर्लोकानां हितवर्धनैः ।
पुण्यैः स्नेहरसस्निग्धैः सदानन्दो वसाम्यहम् ॥१३॥

अनुभुङ्क्ते सुखं दुःखं भावैः स्वैरेव मानवः ।
विश्वासमिममाश्रित्य सदानन्दो वसाम्यहम् ॥१४॥

अपि विघ्नशतै रुद्धः शत्रुवर्गेण वेष्टितः ।
सद्भावैर्भावितात्मत्वात् सदानन्दो वसाम्यहम् ॥१५॥

अपि मित्रायते शत्रुरपि दुःखं सुखायते ।
नूनमात्मवतां तस्मात्सदानन्दो वसाम्यहम् ॥१६॥

लोगों के हित को बढ़ाने वाले, स्नेह के रस से पूर्ण, सुमधुर, सुन्दर और पवित्र भावों के कारण मैं सदा आनन्द से रहता हूँ।

'मनुष्य अपने भावों के कारण ही सुख और दुःख का अनुभव करता है'—इस विश्वास का आश्रय लेकर मैं सदा आनन्द से रहता हूँ।

सैकड़ों विघ्नों से घिरे होने पर भी और शत्रु-समूह से चारों ओर से वेष्टित होने पर भी, यतः मेरी आत्मा सद्भावों से भावित है, इसीलिए मैं सदा आनन्द से रहता हूँ।

जो आत्मवान् हैं अर्थात् अपने को पहचानते हैं, उनके प्रति शत्रु भी मित्रवत् आचरण करता है और दुःख भी सुख बन जाता है, इसी कारण मैं सदा आनन्द से रहता हूँ।

[२]

अमृत की निधि

आयुष्यं लब्धुकामो वै नैव चिन्तातुरो भवेत्।
चिन्तया ह्रसते ह्यायुस्तस्मात्तां परिवर्जयेत् ॥१७॥

सौमनस्ये तथा शान्तावमृतस्य निधिर्हितः।
स्वस्थचित्तास्ततः सन्तो ह्यमृतस्य निषेविणः ॥१८॥

स्वस्थवृत्तेः प्रवाहेण प्रवाहितमलोच्चयाः।
प्रसन्ना निर्मलाः सन्तो लोककल्याणसेतवः ॥१९॥

जो मनुष्य आयुष्य चाहता है उसे चिन्ता से आतुर नहीं होना चाहिए। यतः चिन्ता से आयु का ह्रास होता है, इसलिए उसे छोड़ देना चाहिए।

सौमनस्य में और शान्ति में अमृत की निधि निहित है। इसीलिए स्वस्थ चित्त से युक्त सत्पुरुष सदा अमृत का सेवन (उपभोग) करते हैं।

स्वस्थ (=चिन्तारहित) वृत्ति के प्रवाह से जिन्हों ने (चित्त के) मलों के समूह को बहा दिया है, ऐसे प्रसन्न-चित्त तथा निर्मल सत्पुरुष लोक-कल्याण के सेतु (=साधन) हुआ करते हैं।

चिन्ता का विश्लेषण करने पर उसमें जो अवसाद का अंश प्राप्त होता है, वास्तव में वह बिलकुल व्यर्थ है—इस बात का तथा चित्त की साम्यावस्था का विचार नीचे किया गया है—

[३]

चित्त की साम्यावस्था

चिन्तास्थलेषु चिन्ताया उपयोगो न कश्चन।
यतश्चिन्तास्वरूपं हि वैवश्यस्य स्फुटं फलम् ॥२०॥

साफल्ये शङ्कया युक्तो नरश्चिन्तातुरो भवेत् ।
साफल्ये शङ्कया मुक्तो नैव चिन्तां समश्नुते ॥२१॥
अतश्चिन्तास्थले चिन्तां भ्रातस्तस्मै समर्पय ।
देवाय चिन्तया यस्य प्रक्रिया जगतो मता ॥२२॥
भूमावुप्तस्य बीजस्य गर्भावस्थस्य देहिनः ।
शिशोर्वा जातमात्रस्य देवश्चिन्तां करोति सः ॥२३॥
देहेऽप्यस्मिन् क्रियास्तास्ता मत्प्रयत्नानपेक्षया ।
यशस्तस्यैव गायन्ति जायमाना निरन्तरम् ॥२४॥

चिन्ता के स्थलों में चिन्ता का कोई उपयोग नहीं होता । क्योंकि चिन्ता का स्वरूप स्पष्टतया विवशता का फल होता है ।

जो मनुष्य अपनी सफलता के सम्बन्ध में शंका से युक्त है, वही चिन्ता से आतुर होता है । जो सफलता के सम्बन्ध में शंका से मुक्त है, उसके पास चिन्ता नहीं आती ।

इसलिए अयि भाई ! चिन्ता के स्थल में चिन्ता को उस परमेश्वर के सुपुर्द कर दो जिसकी चिन्ता से जगत् की प्रक्रिया चल रही है ।

वही परमेश्वर भूमि में बोये हुए बीज की, गर्भ में स्थित प्राणी की, अथवा उत्पन्न होते ही शिशु की चिन्ता करता है ।

इस शरीर में भी, हमारे प्रयत्न की अपेक्षा के बिना ही, निरन्तर होने वाली तत्तत् क्रियाएं (रक्त का संचार, हृदय की गति आदि) उसी परमेश्वर के यश का गान करती हैं ।

चिन्तातत्त्वस्य विश्लेषेऽवसादश्चिन्तनं तथा ।
लभ्यते, चिन्तने दोषो नावसादे पुनर्महान् ॥२५॥
चिन्तनं ह्यवसादेन दोषयुक्तं प्रजायते ।
अवसादस्य वैयर्थ्यं स्पष्टं कस्य न भासते ? ॥२६॥
चिन्तायां चिन्तनं कामं क्रियेतावश्यकं यदि ।
अवसादस्य गन्धोऽपि न भवेत्तत्र कश्चन ॥२७॥

मेघैरावृतसूर्यस्य प्रकाशस्य गतिर्यथा ।
तथावसादयुक्तस्य चिन्तनस्य गतिर्मता ॥२८॥

सैव चिन्ता, परित्यागस्तस्याः कार्यः प्रयत्नतः ।
विधिनानेन चित्तस्य साम्यावस्थाधिगम्यते ॥२६॥

चिन्ता-तत्त्व के विश्लेषण करने पर अवसाद और चिन्तन पाये जाते हैं। (इन दोनों में से) चिन्तन में कोई दोष नहीं है, परन्तु अवसाद में बड़ा दोष है।

अवसाद के कारण ही चिन्तन दोष-युक्त हो जाता है। (परन्तु) अवसाद की व्यर्थता किसको स्पष्टतया प्रतीत नहीं होती ?

चिन्ता में भले ही, यदि आवश्यक हो तो, चिन्तन किया जा सकता है। (परन्तु) उस (चिन्तन) में अवसाद का गन्ध भी न होना चाहिए।

मेघों से आवृत सूर्य के प्रकाश की जैसी गति होती है, वैसी ही गति अवसाद से युक्त चिन्तन की होती है—

वही चिन्ता है। उसका परित्याग प्रयत्न-पूर्वक करना चाहिए। इस विधि के अनुसरण से चित्त की साम्यावस्था प्राप्त की जा सकती है।

उपर्युक्त विचार के दार्शनिक आधार का प्रतिपादन नीचे किया गया है—

[४]

अतिगूढ विधान

विश्वस्य प्रक्रियायां वै विधानं द्विविधं मतम् ।
कार्यकारणभावस्य साम्राज्यं तत्र विद्यते ॥३०॥

कार्यकारणसम्बन्धः प्रत्यक्षमुपलभ्यते ।
एकतः, परतस्तस्य प्रत्यक्षावगतिर्नहि ॥३१॥

द्वैविध्यं विद्यते ह्येतन्मर्त्यानामल्पमेधसाम् ।
दृष्ट्या, परात्मनो दृष्ट्या त्वद्वैतं तत्र निश्चितम् ॥३२॥

कार्यकारणयोर्मध्यवर्तिनी यैकसूत्रता।
अन्तर्नियामिका शक्तिः सैव विश्वस्य मन्यते ॥३३॥
विधानं च विधाता च विधिर्वा सा निगद्यते।
नामभेदैः पदार्थस्य न स्वरूपं विभिद्यते ॥३४॥
विधानमतिगूढं तद् विश्वं व्याप्य व्यवस्थितम्।
तदेव शरणं यामि सच्छ्रद्धस्तन्नमाम्यहम् ॥३५॥
कार्यकारणभावस्य प्रवाहे पतितो भृशम्।
विधातुस्तस्य साहाय्यमवलम्ब्य स्थितोऽस्म्यहम् ॥३६॥

विश्व की प्रक्रिया में विधान दो प्रकार का है। उन दोनों में कार्य-कारण भाव का साम्राज्य अथवा आधिपत्य विद्यमान है।

एक ओर कार्य-कारण का सम्बन्ध प्रत्यक्ष पाया जाता है, दूसरी ओर उस सम्बन्ध की प्रत्यक्ष प्रतीति नहीं होती।

उपर्युक्त द्वैविध्य केवल अल्प-बुद्धि मरण-शील मनुष्यों की दृष्टि से ही है। परन्तु परमात्मा की दृष्टि से तो वहाँ केवल अद्वैत ही निश्चित है। अर्थात्, परमात्मा की दृष्टि से, अथवा वास्तविक दृष्टि से, सर्वत्र विद्यमान कार्यकारण का सम्बन्ध एक ही जैसा है।

कार्य और कारण के मध्य में रहने वाली जो एकसूत्रता है वही विश्व की अन्तर्नियामिका (=अन्दर से नियमन करने वाली) शक्ति मानी जाती है।

उसी (अन्तर्नियामिका) शक्तिको 'विधान', 'विधाता' अथवा 'विधि' कहा जाता है। किसी पदार्थ के नामों के भेद से उसके स्वरूप में भेद नहीं आता है।

वह उपर्युक्त विधान, जो विश्व को व्याप्त करके व्यवस्थित है, अति गूढ है। मैं उसी की शरण में जाता हूँ और सात्त्विकी श्रद्धा के साथ उसको नमस्कार करता हूँ।

कार्य-कारण-भाव के प्रवाह में पड़ा हुआ (अथवा बहता हुआ) मैं उसी विधान के साहाय्य के अवलम्बन से स्थित हूँ (=अपने को बचाये हुए हूँ)।

ऊपर कहा गया है कि जो मनुष्य अपनी सफलता के सम्बन्ध में शंका से मुक्त है उसके पास चिन्ता नहीं आती। इसी प्रसङ्ग में नीचे यह बतलाया गया है कि जो मनीषी हैं उनको अपनी जीवन-यात्रा के प्रसङ्ग में विफलता की शंका का कभी अवसर ही नहीं आता —

[५]

जीवन की सफल यात्रा

कामं प्रयत्नमातिष्ठेल्लौकिकार्थेषु बुद्धिमान्।
यतः प्रयत्नसापेक्षाः सर्वेऽप्यर्थाः स्वभावतः ॥३७॥
विद्यते तारतम्यं यत्पदार्थेषु परस्परम्।
तस्य विस्मरणं कार्षीर्मा भ्रातस्त्वं कदाचन ॥३८॥
कार्यसिद्धेरभावश्चेदेकस्मिन् विषये भवेत्।
हेतोरुत्कृष्टकार्यस्य नोन्मनीभावमाश्रयेः ॥३९॥
लौकिकार्थानपेक्ष्यापि वर्ततेऽलौकिकं यतः।
समुत्कृष्टतमं लक्ष्यं सर्वस्यापीह जीवने ॥४०॥
यासौ चारित्र्यसंपत्तिश्चारित्र्योत्कर्ष एव वा।
मनुष्यजीवनस्यास्य परमं लक्ष्यमुच्यते ॥४१॥
सिद्धान्तमिममाश्रित्य ये वर्तन्ते मनीषिणः।
जीवनस्यास्य यात्रायां वैफल्यं ते न जानते ॥४२॥

बुद्धिमान् मनुष्य लौकिक पदार्थों के सम्बन्ध में भले ही प्रयत्न करे, क्योंकि सब पदार्थ स्वभाव से प्रयत्न की अपेक्षा करते हैं।

परन्तु पदार्थों में परस्पर जो तारतम्य (=तरतम-भाव) विद्यमान है, हे भाई ! उस तारतम्य को तुम कभी न भूल जाओ।

यदि एक विषय में (आपाततः अभिप्रेत) कार्य की सिद्धि न हो, तो उससे उत्कृष्टतर कार्य को ध्यान में लाकर तुम अपने मन को छोटा मत करो। अर्थात्, किसी कार्य की सिद्धि यदि न हो, तो यह सोच कर कि उससे उत्कृष्टतर कार्य हमारे सामने है, हमें खिन्न या अधीर न होना चाहिए।

क्योंकि लौकिक पदार्थों की अपेक्षा अत्यन्त उत्कृष्ट लक्ष्य भी, जिसको अलौकिक कहा जा सकता है, इस जीवन में सबके सामने विद्यमान है।

जो चारित्र्य की संपत्ति अथवा चारित्र्य का उत्कर्ष है, वही इस मनुष्य-जीवन का परम लक्ष्य माना जाता है।

जो मनीषी उपर्युक्त सिद्धान्त का आश्रय लेकर रहते हैं, वे इस जीवन की यात्रा में विफलता का अनुभव कभी नहीं करते।

चिन्ता के स्थलों में भी मनुष्य मनःप्रसाद का अनुभव कर सकता है—इस बात को नीचे बतलाया गया है—

[६]

परमात्मा का प्रसाद

एकस्मिन्समये नूनमेकं ज्ञानं प्रजायते।
मानवस्य स्वभावेन प्रसादोऽयं परात्मनः ॥४३॥
शोकसन्ततिसन्तप्तश्चिन्ताव्याकुलमानसः।
कृतयत्नः क्षणेनैव प्रसादमधिगच्छति ॥४४॥

एक समय में मनुष्य को स्वभाव से एक ही ज्ञान होता है—यह परमात्मा का प्रसाद है।

शोक की परम्परा से जो संतप्त है और चिन्ता से जिसका मन व्याकुल है, ऐसा व्यक्ति क्षण भर में प्रयत्न करके (अर्थात् प्रयत्नपूर्वक मन को अन्य विषय में लगाकर) प्रसन्नता को प्राप्त कर सकता है।

जीवन में शान्ति का मूल्य सबसे अधिक है—इस बात को नीचे कहते हैं—

[७]

शान्ति का अत्यधिक मूल्य

प्राप्तकालं भवेद्यत्तत् कर्म कृत्वा तु बुद्धिमान्।
प्रविश्यासीत शान्त्यर्थं यदन्तर्देवमन्दिरम् ॥४५॥

श्रान्तो जनो यथा भोज्यं पेयं चापेक्षते ध्रुवम् ।
चित्तश्रमापनोदाय तथा शान्तिरपेक्ष्यते ॥४६॥

देवगेहे तवैवान्तः शश्वच्छान्तिर्विराजते ।
तामुपेक्ष्य कुतो मूढ ! सहसे यातना इमाः ॥४७॥

कार्याणामन्तरालेषु य एवं शान्तचेतसः ।
तिष्ठन्ति, जीवतामेव तेषां नैःश्रेयसी स्थितिः ॥४८॥

जीवने मानवस्येह कार्यस्यान्तो न विद्यते ।
तत्र शान्तेरभावश्चेज्जीवनं दुर्भरं भवेत् ॥४९॥

शान्तिमूल्येन कार्याणि तस्मान्नैवाचरेद् बुधः ।
कारणं सर्वसिद्धीनां लक्ष्यं चापि मता हि सा ॥५०॥

जो कार्य प्राप्त-काल है उसे करके बुद्धिमान् व्यक्ति को शान्ति-लाभ के लिए जो उसके हृदय के अन्दर देव-मन्दिर है उसमें प्रवेश करके आसीन होना चाहिए ।

थका हुआ व्यक्ति जैसे भोज्य और पेय की अवश्य ही अपेक्षा करता है, वैसे ही चित्त के श्रम को दूर करने के लिए शान्ति की अपेक्षा होती है ।

तेरे ही हृदय के अन्दर जो परमेश्वर का मन्दिर है उसमें शाश्वतिक शान्ति विराजती है । उसकी उपेक्षा करके अयि मूढ़ ! इन यातनाओं को तू क्यों सहता है ?

(लौकिक) कार्यों के बीच-बीच में जो इस प्रकार शान्त-चित्त होकर बैठते हैं, वे जीते जी निःश्रेयस की स्थिति का अनुभव करते हैं ।

मनुष्य के इस जीवन में कार्यों का अन्त नहीं है । ऐसी स्थिति में, यदि जीवन में शान्ति नहीं है, तो वह दुर्भर (= दुःसह) हो जायगा ।

इसलिए बुद्धिमान् व्यक्ति को चाहिए कि वह शान्ति का मूल्य चुकाकर कार्यों को न करे। क्योंकि वह (शान्ति) ही सब सिद्धियों का कारण होनेके साथ-साथ लक्ष्य भी मानी गयी है ।

चित्त की शान्ति के लिए संयम की आवश्यकता है—यह नीचे बतलाया गया है—

[८]

संयम की मौलिक आवश्यकता

अश्वारूढो यथा कश्चिदश्वविद्याविचक्षणः ।
उच्चावचप्रदेशेऽपि कुशली याति दूरतः ॥५१॥

एवं तत्तदवस्थासु तत्त्ववित्त्वात्मसंयमी ।
उद्वेगरहितः स्वस्थः स्वाभीष्टमधिगच्छति ॥५२॥

संयमः सर्वसिद्धीनां मूलं तस्मान्निगद्यते ।
संयमे यत्नमातिष्ठेद् विद्वान् यन्तेव वाजिनाम् ॥५३॥

जैसे कोई अश्व-विद्या में विचक्षण घुड़सवार ऊँचे-नीचे प्रदेश में भी कुशलपूर्वक चला जाता है ।

वैसे ही आत्म-संयमी तत्त्ववित् तत्तत् अवस्थाओं में उद्वेग से रहित और स्वस्थ रहता हुआ अपने अभीष्ट को प्राप्त कर लेता है ।

इसलिए संयम को सब सिद्धियों का मूल कहा जाता है । विद्वान् को संयम के सम्बन्ध में वैसे ही यत्न करना चाहिए जैसे घोड़ों का सारथि (उनके संयम में यत्न करता है) ।

आत्मा के स्वरूप को विस्मृत करके जो असंयतेन्द्रिय मनुष्य इन्द्रियों के विषयों में रत रहते हैं, वे निश्चय ही दुःखों को पाते हैं, इसी बात को नीचे कहा गया है—

[९]

आत्म-स्वरूप की विस्मृति

गृहस्वामी यथा तिष्ठेद् गृहस्यान्तः सुनिश्चितः ।
बहिर्भागे पुनर्भृत्यास्तन्निदेशानुवर्त्तिनः ॥५४॥

आत्मन इन्द्रियाणां च सत्यमेतादृशी स्थितिः ।
आत्मार्थं वर्तनं तेषामिष्टमात्मानुवर्तनम् ॥५५॥

इन्द्रियाणां कृतेऽनिष्टं त्वात्मनो वर्तनं मतम् ।
सेव्यसेवकभावस्य यतस्तत्र विपर्ययः ॥ ५६ ॥

विस्मृत्य स्वस्थितिं स्वामी भृत्यानेवानुवर्तते ।
रमते तेषु चेन्नूनमनर्थायैव तद्भवेत् ॥५७॥

विस्मृत्य स्वात्मनो रूपमिन्द्रियार्थेषु ये रताः ।
राजपुत्रो यथा सांख्ये तथा ते दुःखभागिनः ॥५८॥

जैसे एक गृहस्वामी सुनिश्चिन्त होकर घर के भीतर रहता है और उसकी आज्ञा के अनुसार काम करने वाले नौकर घर के बाहरी भाग में रहते हैं;

आत्मा और इन्द्रियों की स्थिति ठीक ऐसी ही है। वे (इन्द्रियाँ) आत्मा के लिए काम करती हैं। उनके लिए आत्मा का आज्ञानुवर्ती होना ही उचित है। परन्तु आत्मा के लिए इन्द्रियों का अनुवर्ती होना अनिष्ट अथवा अनुचित है। क्योंकि उस दशा में सेव्य-सेवक-भाव (=स्वामी और नौकर के परस्पर संबंध) का विपर्यय हो जाता है।

यदि स्वामी, अपने स्वरूप को भूलकर, भृत्यों का अनुवर्तन करता है (= उनके ही पीछे चलता है) और उनके संग में ही मौज करता है, तो इससे अनर्थ ही होता है।

जो अपने आत्मा के स्वरूप को भूलकर इन्द्रियों के विषयों में ही रत रहते है, वे सांख्य-शास्त्र में दिये गये निदर्शन में उल्लिखित राजपुत्र के समान[1] दुःख के भागी होते हैं।

---

१. इस प्रसंग में "राजपुत्रवत्तत्त्वोपदेशात्" (४।१) इस सांख्यसूत्र को देखिए। उसका अभिप्राय यह है कि संसार में फँसा हुआ जीवात्मा अपने वास्तविक स्वरूप को भूला हुआ है। जब कोई तत्त्वदर्शी उसको तात्त्विक उपदेश देता है, तभी उसे अपने स्वरूप का ज्ञान होता है। यहाँ दृष्टान्त दिया है किसी ऐसे राजपुत्र का जो किसी महान् संकट के कारण अपने परिवार से वियुक्त होकर 'मैं राजा का पुत्र हूँ' ऐसा न जानकर नीच संगति में फँसकर दुर्दशा में ग्रस्त हो जाता है और अन्त में किसी के उपदेश से वस्तुस्थिति को जानकर उस दुर्दशा से अपना उद्धार करता है।

संयम के दार्शनिक पक्ष का प्रतिपादन नीचे किया गया है :—

[१०]

आत्मा में अनन्त शान्ति का स्रोत

सर्वासामपि सिद्धीनां संयमः साधनं मतम् ।
समुन्नतेश्च सर्वस्या रहस्यं ह्येतदुत्तमम् ॥५६॥
नूनं शक्तेरनन्तायाः स्रोत आत्मनि विद्यते ।
परमज्ञानमूढानां तथ्यमेतत्तिरोहितम् ॥६०॥
अत एव तिरोभूतधैर्या दुर्बलमानसाः ।
अनुत्साहा अकर्मण्या लोके प्रायेण मानवाः ॥६१॥
अथाप्यभिज्ञा ये कश्चित्तस्याः शक्तेरसंशयम् ।
उपयोगमजानन्तो व्यग्रा नित्यं समासते ॥६२॥
तस्मादपव्ययं शक्तेरन्यथाव्ययमेव वा ।
अकृत्वा संचयं कुर्वन्नुपयुञ्जीत तत्त्ववित् ॥६३॥
संयमेनेति शब्देन स एवार्थो मनीषिभिः ।
मन्यते सुतरां तस्य महत्त्वमपि ते जगुः ॥६४॥
असंयतात्मना किंचित्कार्यं कर्तुं न शक्यते ।
वार्तैव तु पुनस्तस्य का स्यादात्मसमुन्नतेः ॥६५॥
संप्राप्ता पश्चिमावस्था जीवनस्य तु यैर्बुधैः ।
संयमः सर्वयत्नेन सेव्यतां तैर्निरन्तरम् ॥६६॥

संयम सब सिद्धि का साधन माना गया है; और यही प्रत्येक प्रकार की उन्नति का सर्वोत्कृष्ट रहस्य है ।

निश्चय ही आत्मा में अनन्त शक्ति का स्रोत विद्यमान है । परन्तु जो अज्ञानी हैं उनसे यह तथ्य छिपा हुआ है ।

इसीलिए संसार में मनुष्य प्रायः धैर्य से हीन, दुर्बल मन वाले, उत्साहहीन और अकर्मण्य (देखने में आते हैं) ।

पर यदि कुछ लोग वास्तव में उस (अनन्त) शक्ति (के अस्तित्व) को समझते हैं, तो भी वे उसके (समुचित) उपयोग को न जानने के कारण सदा व्यग्र रहते हैं।

इसलिए जो तत्त्ववित् है उसको चाहिए कि वह शक्ति का अपव्यय तथा उलटा व्यय न करके उसके संचय का ध्यान रखते हुए ही उपयोग करे।

इसी बात को मनीषी लोग 'संयम' शब्द से प्रकट करते हैं। (इसीलिए) वे संयम के महत्त्व का सुतरां गान भी प्राचीन काल से करते आये हैं।

जो मनुष्य असंयतात्मा है वह किसी कार्य को नहीं कर सकता। ऐसी दशा में वह आत्म-समुन्नति करेगा, इसकी तो बात ही क्या है ?

उन समझदार लोगों को तो, जो जीवन की अन्तिम अवस्था (वृद्धावस्था) को प्राप्त कर चुके हैं, निरन्तर पूरे प्रयत्न से संयम का सेवन करना चाहिए।

इस सृष्टि की रचना करुणामय भगवान् ने जीवों के कल्याण की कामना से ही की है, इस नवीन दृष्टि का प्रतिपादन नीचे किया गया है :—

[११]

ईश्वर का वरद हस्त

अवस्थास्वपि सर्वासु यासु वर्तामहे वयम्।
ईशस्य वरदो हस्तो भावनैषा प्रशस्यते ॥६७॥
नूनं सृष्टिरशेषा करुणावरुणालयेन देवेन।
कल्याणकामनाभिर्जीवानां निर्मितास्माकम् ॥६८॥
तस्माद्धीरो मर्त्यः कामपि कष्टां दशां समापन्नः।
पश्येत्तत्र हि निहितं कारुण्यं देवदेवस्य ॥६९॥

जीवन की सब अवस्थाओं में, जिनमें से हम गुज़रते हैं, 'ईश्वर का वरद हस्त (हमारे ऊपर) है' यही भावना प्रशंसनीय है।

यह निश्चय है कि करुणा के समुद्र परमेश्वर ने (यह) सारी सृष्टि हम सब जीवों की कल्याण-कामनाओं से ही निर्मित की है।

इसलिए किसी भी कष्ट-प्रद दशा को प्राप्त हुए धैर्यवान् मनुष्य को चाहिए कि वह उस दशा में निहित देवों के देव (परमेश्वर) की करुणा को ही देखे।

मनुष्य के जीवन में जो विभिन्न अवस्थाएँ उपस्थित होती हैं, उनके संबंध में सांख्य-शास्त्र की दृष्टि का प्रतिपादन नीचे की दो रचनाओं में किया गया है:—

[१२]

अवस्थाओं का साक्षित्व

अवस्थानामहं साक्षी नावस्था ईशते मम।
उपेक्षायां नरस्तासां स्वाराज्यमधिगच्छति ॥७०॥

उपेक्षा क्रियते चेत्ता विधवेव गतप्रभाः।
निष्प्रभावाः प्रजायन्ते नूनं मन्त्रैरिवोरगाः ॥७१॥

अवस्थाओं का मैं साक्षी हूँ; अवस्थाओं का प्रभुत्व मेरे ऊपर नहीं है। अवस्थाओं की उपेक्षा कर देने पर मनुष्य स्वाराज्य (= आध्यात्मिक स्वराज्य) को प्राप्त कर लेता है।

यदि अवस्थाओं की उपेक्षा कर दी जाती है, तो वे एक विधवा के समान प्रभारहित होकर निष्प्रभाव हो जाती हैं; ठीक उसी तरह जैसे मन्त्रों से सर्प निष्प्रभाव हो जाते हैं ।

[१३]

काँच के भाव से रत्नों का विक्रय

अवस्थास्वपि सर्वासु ध्रुवं यदविचालि च।
तत्त्वं तद्वस्तुतो रूपं मदीयमिति भावय ॥७२॥

मनःप्रसादः सौम्यत्वं शान्तिरार्जवमेव च।
धनेनैतेन धनिनो धन्या नित्यं समासते ॥७३॥

धनेनैतेन हीना ये धनिनोऽप्यधना हि ते।
दीनाश्चिन्ताशतैर्नूनं तत्तद्भाववशं गताः ॥७४॥
प्रसन्नताव्ययेनातो ये यत्किंचिदुपासते।
काचमूल्येन रत्नानां विक्रयं ते हि कुर्वते ॥७५॥

सब ही अवस्थाओं में जो ध्रुव और विचलित न होने वाला तत्त्व है, वही वास्तव में मेरा रूप है—तुम्हें ऐसी भावना करनी चाहिए।

मनःप्रसाद, सौम्यत्व, शान्ति और आर्जव—इस धन से जो धनी हैं (अर्थात् जिनमें ये गुण विद्यमान हैं), वे सदैव धन्य हैं।

पर जो इस धनसे हीन हैं, वे (लौकिक दृष्टि से) धनवान् होते हुए भी वास्तव में निर्धन हैं। तत्तद् भावों के वश में रहते हुए वे सैकड़ों चिन्ताओं के कारण दीन ही होते हैं।

इसलिए प्रसन्नता के व्यय से जो जिस-किसी (साधारण) वस्तु की उपासना करते हैं (= उसमें रत रहते हैं), वे सचमुच कांच के मूल्यपर रत्नों की बिक्री करते हैं।

केनापि हेतुना तस्मान्मा त्याक्षीश्चित्तसुस्थताम्।
कारणं सर्वसिद्धीनां लक्ष्यं चापि यतो हि सा ॥७६॥
एकतश्चित्तसंतोष एकतः सर्वसिद्धयः।
चित्तस्वास्थ्यस्य सांमुख्ये कलां नार्हन्ति षोडशीम् ॥७७॥
यत्किंचित्कारणात्तस्माद् व्यग्रस्त्वं यदि जायसे।
क्रुद्धः कस्मैचिदात्मानं हन्यात् तेन समं हि तत् ॥७८॥
अवस्थाः सर्वजगतः प्रिया वाप्यप्रियाश्च याः।
'गुणा गुणेषु वर्तन्त' इत्येवं ता विभावय ॥७९॥
'द्रष्टा त्वं दृश्यजगतो नाटकस्येव विद्यसे।'
सिद्धान्तमिममारूढो लोकयात्रापरो भव ॥८०॥

इसलिए किसी भी हेतु से चित्त की स्वस्थता को तुम न छोड़ो; क्योंकि चित्तकी स्वस्थता सब सिद्धियों का कारण होने के साथ-साथ (मनुष्य के जीवन का) लक्ष्य भी है।

एक ओर चित्त के सन्तोष को और दूसरी ओर सब सिद्धियों को यदि रखा जाये, तो चित्त के स्वास्थ्य के सांमुख्य में वे सिद्धियां तुच्छ हैं, अर्थात् कुछ भी महत्त्व नहीं रखती हैं।

इसलिए जिस किसी (साधारण) कारण से यदि तुम व्यग्र हो जाते हो, तो यह ऐसा ही है जैसे कोई व्यक्ति किसी से क्रुद्ध होकर अपना ही हनन (= आत्म-घात) कर डाले।

सारे जगत् की अवस्थाओं के सम्बन्ध में, चाहे वे प्रिय हों अथवा अप्रिय, ऐसा समझो कि वे (सत्त्व, रजस् और तमस्) गुणों की पारस्परिक घात-प्रतिघात-रूप ही हैं।

एक नाटक से समान ही इस दृश्य जगत् के तुम द्रष्टा हो—इस सिद्धान्त पर आरूढ होकर तुम लोक-यात्रा करो।

[१४]

भगवन्नाम-संकीर्तन का महत्त्व

कस्मिन्नपि क्षणे भ्रातः शरीरेऽस्मिन्नसंशयम्।
परस्य देवदेवस्य साक्षात्त्वं कर्तुमर्हसि ॥८१॥
दुःखसंततिसंतप्तश्चिन्तोद्विग्नो यदा भवान्।
जायते, तादृशे काले स्वान्तर्दृष्टिः प्रसार्यताम् ॥८२॥
तत्रास्ते शाश्वतं तेजो निश्चलं निर्मलं सदा।
सद्यो यद्दर्शनेनैव निश्चिन्तो जायते नरः ॥८३॥
दुःखानि दूरतो यान्ति चिन्ता क्वापि विलीयते।
सूर्योदये तमांसीव निशा वा भयदायिनी ॥८४॥

अयि भाई! किसी भी क्षण इसी शरीर में, निःसंदेह रूप में, तुम देवों के देव परमेश्वर को साक्षात् कर सकते हो।

जब कभी आप दुःखों की परम्परा से संतप्त और चिन्ता से उद्विग्न हों, उस समय अपने अन्दर की ओर दृष्टि डालिए।

वहां (वह) शाश्वत, निश्चल और निर्मल तेज सदा विद्यमान रहता है, जिसके दर्शन-मात्रसे मनुष्य तत्काल निश्चिन्त (= चिन्तारहित) हो जाता है,

(और) सूर्य के उदय होने पर अन्धकार की तरह, अथवा भय देनेवाली रात्रि के समान, दुःख दूर भाग जाते हैं और चिन्ता (भी) कहीं विलीन हो जाती है ।

बहूनि खलु नामानि तस्य दिव्यस्य तेजसः ।
प्रवृत्तानि प्रवर्तन्ते प्रवर्त्स्यन्ति न संशयः ॥८५॥
अग्निर्ज्योतिः शिवो विष्णुरिन्द्रो वरुण एव च ।
मित्रोऽर्यमा तथा 'धम्मो' शक्तिरोंकार एव वा ॥८६॥
इत्येवं बहुधा मूलतत्त्वमाहुर्मनीषिणः ।
प्रवृत्तीनामनन्तत्वाद् रुचीनां चानुसारतः ॥८७॥
अहन्तया परिच्छिन्ना या व्यक्तिरनुभूयते ।
सा वै नूनमधिष्ठानं मन्तव्या क्षोभशोकयोः ॥८८॥
तत उत्थाय तत्कालं परतत्त्वस्य चिन्तने ।
प्रसादं परमां शान्तिं ज्ञानी समधिगच्छति ॥८९॥
चिन्तने नामसाहाय्यमिति कस्य तिरोहितम् ।
तत्तन्नाम्नां महत्त्वं यदेतस्मादेव कारणात् ॥९०॥
गृहीत्वा नामसाहाय्यं परतत्त्वावलम्बनात् ।
अहंतायाः समुत्थाय प्रसादमधिगच्छति ॥९१॥
व्यक्तित्वं परतत्त्वं च सख्यभावेन तिष्ठतः ।
मनुष्येऽस्मिन् सहैवेति श्रुतिराह वचोऽमृतम् ॥९२॥

उस दिव्य तेज के बहुत-से नाम भूतकाल में प्रवृत्त हुए, वर्तमान में हैं, और, इसमें संदेह नहीं, भविष्यमें भी प्रवृत्त होंगे;

(जैसे–) अग्नि, ज्योति, शिव, विष्णु, इन्द्र, वरुण, मित्र, अर्यमा, धम्म, शक्ति अथवा ओंकार ।

इस प्रकार, मनुष्य की प्रवृत्तियों के अनन्त होने से और विभिन्न रुचियों के अनुसार, मनीषी मूलतत्त्व को अनेक तरह से (= अनेक नामों से) कहते हैं ।

अहंकार से परिच्छिन्न जिस व्यक्तित्व का हम अनुभव करते हैं, वास्तव में क्षोभ और शोक का अधिष्ठान वही है।

उस (व्यक्तित्व) से ऊपर उठकर तत्काल परतत्त्व का चिन्तन करने पर, ज्ञानी मनःप्रसाद और परम शान्तिको प्राप्त कर लेता है।

चिन्तन में नाम से सहायता मिलती है, यह किससे छिपा है। (परमतत्त्व के) तत्तद् नामों का जो महत्त्व है वह इसी कारण से है।

नाम की सहायता लेकर परतत्त्व के अवलम्बन से अहन्ता से ऊपर उठकर (साधक) प्रसाद को प्राप्त कर लेता है।

अभिप्राय यह है कि जैसे नीचे के धरातल पर खड़ा हुआ व्यक्ति ऊपर से लटकती हुई रस्सी जैसी वस्तु को पकड़ कर झट ऊपर के धरातल पर पहुँच सकता है, इसी प्रकार परमात्मा के नाम की सहायता से साधक अहंता के धरातल से ऊपर उठकर वास्तव में परमात्मा तक पहुंच सकता है।

'व्यक्तित्व (=जीव) और परतत्त्व (= परमात्मा) मनुष्य में साथ-साथ ही सखा-भाव से रहते हैं'—यह अमृत-सदृश बात श्रुति कहती है।[1]

मनुष्य को जीवन में आने वाली समस्याओं के समाधान के लिए करुणामय भगवान् से प्रेरणा लेनी चाहिए:—

[१५]

भगवान् की प्रेरणा

प्रेमकारुण्ययोर्धाम तत्त्वं विश्वनियन्तृ यत्।
समाधानं समस्यानां याचेऽहं तदसंशयम् ॥९३॥

न क्रोधो न च मात्सर्यं हिंसाया भावना तथा।
स्थानं लभेत मच्चित्ते प्रति तं यो विरोधकृत् ॥९४॥

---

१. दे० "द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परि षस्वजाते"।
(ऋग्वेद १।१६४।२०)

विधानमतिगूढं यद् विश्वं व्याप्य प्रवर्तते।
तदत्र कार्यकृद् भूयादित्याशासे निरन्तरम् ॥९५॥
चिन्तात्र विषये नूनमल्पसत्त्वस्य मादृशः।
दुर्भावनाप्रवृत्तिर्वा सर्वथैव निरर्थिका ॥९६॥
कामं प्रयत्नमातिष्ठेन्नरो विषय ईदृशे।
न हानिर् यदि विश्वासः परतत्त्वेऽविकल्पितः ॥९७॥
इममेवार्थमाश्रित्य श्रुतिराह वचोऽमृतम्।
हृदयस्पर्शि यन्नूनं श्रद्धाविश्वासदायकम् ॥९८॥
देवस्य सवितुर्भर्गस्तद्वरेण्यमुपास्महे।
यतः प्रवृत्तिर्विश्वस्य "धियो यो नः प्रचोदयात्" ॥९९॥

प्रेम और करुणा का धाम जो तत्त्व विश्व का नियन्ता है, मैं (जीवन की) समस्याओं के निश्चित समाधान के लिए उसी से प्रार्थना करता हूँ !

जो व्यक्ति मेरा विरोध करता है उसके प्रति मेरे चित्त में न तो क्रोध, न मात्सर्य और न हिंसा की भावना स्थान पाये !

जो अतिगूढ विधान विश्व को व्याप्त करके प्रवृत्त हो रहा है, वही इस विषय में (मेरी) सहायता करे; मैं यही निरन्तर चाहता हूँ !

इस विषय में मुझ जैसे अल्पसत्त्व (=दुर्बल) व्यक्ति की चिन्ता अथवा दुर्-भावना में प्रवृत्ति सर्वथा ही निरर्थक है।

ऐसे विषय में मनुष्य भले ही प्रयत्न करे; इसमें कोई हानि नहीं है, यदि उसे परतत्त्व में (=मूल-तत्त्व स्वरूप परमात्मा में) पक्का विश्वास है।

इसी अर्थ को लेकर श्रुति[1] अमृत-रूपी (निम्नस्थ अभिप्राय से युक्त) वचन को कहती है, जो निःसन्देह हृदयस्पर्शी है और श्रद्धा तथा विश्वास को देने वाला है—

---

१. दे० "तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि। धियो यो नः प्रचोदयात्" (ऋग्वेद ३।६२।१०)

'सवितृ (=सबके प्रेरक) देव के उस वरणीय भर्ग (=तेज: स्वरूप) की हम उपासना करते हैं, जो विश्व की प्रवृत्ति का स्रोत है और जो (हमारी प्रार्थना है कि) हमारी बुद्धियों को (सन्मार्ग की ओर) प्रेरणा प्रदान करे।'

उपरिनिर्दिष्ट अर्थ को ही दूसरे प्रकार से प्रतिपादित करते हैं :—

[१६]

निर्भय जीवन-यात्रा

तवान्त:पुरुषो योऽसौ पुरुषोत्तम इतीरित:।
बुद्धया विशुद्धया युक्त: कारुण्येन तथैव च ॥१००॥

अपि कृत्स्नस्य जगत: सोऽन्तर्यामी न संशय:।
तस्यैव शरणं गच्छ सर्वकार्येषु सर्वदा ॥१०१॥

सर्वकर्मफलं तस्मै निर्णयाय समर्पयन्।
प्रसन्नश्च निरातङ्को विचरेस्त्वं गतव्यथ: ॥१०२॥

तुम्हारे अन्दर जो वह पुरुष है, जिसको 'पुरुषोत्तम' कहा जाता है, जो विशुद्ध बुद्धि से तथा कारुण्य से भी युक्त है,

निश्चय ही वह सारे ही जगत् (=विश्व) का अन्तर्यामी है। सब कार्यों में तुम सदा उसी की शरण में जाओ !

सब कर्मों के फल को उसको निर्णयार्थ समर्पित करते हुए तुम, प्रसन्न-चित्त निर्भय और व्यथाओं से रहित होकर, विचरण करो (= जीवन-यात्रा करो) !

आनन्दानुभव के परम रहस्य का उपदेश करते हुए कहते हैं :—

[१७]

रमणीयतम रत्न

रमणीयतमं रत्नममूल्यमचलद्युति ।
विद्यते हृदयस्यान्तर्भ्रातस्ते नात्र संशयः ॥१०३॥
अमन्दानन्ददं नूनं चिन्ताव्याधिविनाशनम् ।
यद् दृष्ट्वा नापरं किंचिद् द्रष्टव्यमवशिष्यते ॥१०४॥
यल्लब्ध्वा नापरं किंचिल्लब्धव्यमवशिष्यते ।
यज्ज्ञात्वा नापरं किंचिज्ज्ञातव्यमवशिष्यते ॥१०५॥
विमुखीभावमापन्नास्तत एव तु लौकिकाः ।
क्लेशसंततिसंतप्ता जायन्ते खिन्नमानसाः ॥१०६॥
शोकस्यावसरे तस्मान्मोहस्यावसरे तथा ।
अन्तर्दृष्टिः प्रयत्नेन तद्रत्नमवलोकयेत् ॥१०७॥
रहस्यं परमं ह्येतद्ये जानन्ति मनीषिणः ।
शोकमोहस्थितिं तीर्त्वा विचरन्ति महीतले ॥१०८॥

अयि भाई ! अत्यन्त रमणीय, अमूल्य और अचल द्युति से युक्त रत्न तुम्हारे हृदय के अन्दर विद्यमान है, इस में कोई सन्देह नहीं है ।

(वह रत्न) निश्चय ही अमन्द आनन्द का देने वाला और चिन्तारूपी व्याधि का नाश करने वाला (है); जिसको देखकर कोई दूसरी द्रष्टव्य वस्तु अवशिष्ट नहीं रह जाती है; जिसको पाकर कोई दूसरी लब्धव्य वस्तु अवशिष्ट नहीं रह जाती है; जिसको जानकर कोई दूसरी ज्ञातव्य वस्तु अवशिष्ट नहीं रह जाती है ।

उसी से विमुखी-भाव को प्राप्त होने के कारण लौकिक व्यक्ति क्लेशों की परम्परा से संतप्त और खिन्न मन वाले रहते हैं ।

इस लिए शोक के तथा मोह के अवसर के आने पर (मनुष्य को चाहिए कि वह) प्रयत्न-पूर्वक अन्तर्दृष्टि होकर (=अपने अन्दर देखता हुआ) उसी रत्न का अवलोकन करे ।

जो मनीषी लोग इस परम रहस्य को जानते हैं, वे शोक और मोह की स्थिति को पार करके पृथ्वी पर विचरते हैं (=जीवन-यात्रा करते हैं) ।

[१८]

सब दुःखों का विनाश

व्यक्तित्वभावनां त्यक्त्वा देवदेवे स्थितिं कुरु।
प्रहाणं सर्वदुःखानां येन सद्यः प्रजायते ॥१०९॥
सौन्दर्यदर्शने चेतो रमते यदि ते सखे!।
समन्ताद् व्यापि तत्तस्य यावद्विश्वं निभालय ॥११०॥
श्रवणे दिव्यगानस्य रमते यदि ते मनः।
संगीतं विश्वसंव्यापि प्रत्यक्षमनुभूयताम् ॥१११॥
क्रीडाविलासलोलं चेच्चेतस्ते वर्तते तदा।
ध्येयः शिवः स शक्त्या यः क्रीडन्नास्ते निरन्तरम् ॥११२॥
अनन्तानन्तविश्वस्य स्थितौ यत्स्थापकं भवत्।
तवान्तः संस्थितं भाति तत् त्वं नित्यं समाश्रय ॥११३॥
वर्तमानं समालम्ब्य कर्तव्यं कुरु सर्वदा।
भविष्यं यच्च भूतं तद् विश्वेशाय समर्पय ॥११४॥
देवो यो विश्वसंव्यापी विश्वभृद् विश्वभावनः।
तस्याश्रयं विना कोऽपि कथं जीवितुमर्हति ॥११५॥

व्यक्तित्व की भावना को छोड़कर देवों के देव अर्थात् सर्वान्तर्यामी परमेश्वर में स्थिति करो। ऐसा कर लेने पर समस्त दुःखों का विनाश तत्काल हो जाता है।

हे मित्र! यदि तुम्हारा चित्त सौन्दर्य के दर्शन में रमता है, तो उस (देवदेव) के सर्वत्र व्यापक सौन्दर्य को विश्व भर में देखो!

यदि तुम्हारा मन दिव्य गान को सुनने का अभिलाषी है, तो (उस देव-देव के) विश्वव्यापी संगीत का प्रत्यक्ष अनुभव करो!

यदि तुम्हारा चित्त क्रीडा के विलास में उत्सुक है, तो उन भगवान् शिव का ध्यान करो जो निरन्तर भगवती शक्ति के साथ क्रीडा कर रहे हैं।

जो परम तत्त्व अनन्तानन्त विश्व की स्थिति का स्थापक होता हुआ भी तुम्हारे अन्दर स्थित होकर प्रकाशमान हो रहा है, तुम नित्य उसी का आश्रय ग्रहण करो !

तुम्हें चाहिए कि तुम सर्वदा वर्तमान का ही अवलम्बन करके अपने कर्तव्य को करो। जो भविष्य अथवा भूत है उसे विश्वेश्वर भगवान् को समर्पित कर दो !

जो विश्व में व्यापक, विश्व का भरण-पोषण करने वाला और विश्व का स्रष्टा देव है, उसके आश्रय के बिना कौन कैसे जीवन-यात्रा कर सकता है ?

॥ इति जीवनज्योतिषि आनन्दानुभवो नाम दशमो रश्मिः ॥

एकादशो रश्मिः

सोऽयं मे निधिरव्ययः

अस्ति रत्नमनागसः । (ऋग्वेद ८।६७।७)

विद्या ह वै ब्राह्मणमा जगाम

गोपाय मा शेवधिष्टेऽहमस्मि । (निरुक्त २।४)

न वित्तेन तर्पणीयो मनुष्यः । (कठोपनिषद् १।१।२७)



ग्यारहवीँ रश्मि

मेरी अक्षय निधि

स्वच्छ-हृदय विद्वान् के लिए निधिरूप अमूल्य रत्नों की कहीं भी कमी नहीं होती। (ऋग्वेद ८।६७।७)

विद्या ने विद्वान् के पास आकर कहा कि तू मेरी रक्षा कर, मैं तेरी अमूल्य निधि हूँ। (निरुक्त २।४)

मनुष्य की तृप्ति सांसारिक धन से नहीं हो सकती।

(कठोपनिषद् १।१।२७)

मेरी अक्षय निधि

नर उवाच

आनन्दानुभवो नाम विस्तरो यः प्रपञ्चितः ।
तं श्रुत्वा धन्यमात्मानं मन्येऽहं तत्त्ववित् प्रभो ! ॥ १ ॥

परमत्रापि विषये जिज्ञासा जायते मम ।
प्रेमकारुण्ययोर्धामन् भगवंस्तामपाकुरु ॥ २ ॥

आनन्दानुभवावस्था लब्धेयं यैर्मनीषिभिः ।
जायते कीदृशी चित्तवृत्तिस्तेषां जगत्प्रति ? ॥ ३ ॥

नर ने कहा

हे तत्त्ववित् प्रभो ! 'आनन्दानुभव' नामक प्रकरण का जो आपने विस्तृत वर्णन किया है, उसको सुनकर मैं अपने को धन्य मानता हूँ ।

पर इस विषय में भी मेरी एक जिज्ञासा है । प्रेम और कारुण्य के धाम हे भगवन् ! आप उसको दूर कीजिए ।

जिन मनीषियों ने यह आनन्दानुभव की अवस्था प्राप्त कर ली है, उनकी चित्तवृत्ति जगत् के प्रति कैसी होती है ?

नारायण उवाच

आनन्दानुभवावस्थासंपन्नस्य मनीषिणः ।
अवर्ण्यश्चित्तसन्तोषः सर्वत्रैवोपतिष्ठते ॥ ४ ॥

येनेदं मधुमद्विश्वं स्वयं यन्मधुमत्तमम् ।
मधु यन्मधुविद्यायास्तत्पदं तेन लभ्यते ॥ ५ ॥

सौन्दर्यं विश्वविस्तीर्णं कवयः क्रान्तदर्शिनः ।
पश्यन्त्यलौकिकं यत्र तत्पदं तेन लभ्यते ॥ ६ ॥

तदेतामद्भुतां दिव्यां दृष्टिं लब्ध्वा समन्ततः ।
अक्षयेणेव निधिना सम्पन्नः सोऽवतिष्ठते ॥ ७ ॥

श्री नारायण ने कहा

आनन्दानुभव की अवस्था से संपन्न मनीषी को सर्वत्र अवर्णनीय चित्त-संतोष मिलता है ।

वह उस पद को प्राप्त कर लेता है जिससे यह विश्व मधुमान् हो रहा है, जो स्वयं सबसे अधिक मधुमान् है और जो (उपनिषदों की[1]) मधु-विद्या का मधु है ।

वह उस पद को प्राप्त कर लेता है जिसको प्राप्त करके क्रान्तदर्शी कविजन विश्वमें विस्तीर्ण अलौकिक सौन्दर्य का दर्शन करते हैं ।

इस प्रकार अपनी चारों ओर अद्भुत दिव्य दृष्टि को पाकर, मानो अक्षय निधि से संपन्न होकर, वह अवस्थित रहता है ।

---

१. दे० बृहदारण्यकोपनिषद् २।५

[१]

प्राकृतिक शोभा-संपत्ति

दृढतास्थिरतादर्शा लोकोपकृतितत्पराः ।
एकान्तशान्तिधामानि गिरयः सज्जनैः समाः ॥ ८ ॥
वनलक्ष्म्या निवासास्ताः सुरम्या वनराजयः ।
मधुराराविणो नानारूपिणः पक्षिणस्तथा ॥ ९ ॥
नेत्रोत्सवं वितन्वन्ति दिव्यगन्धानि भूरिशः ।
पुष्पाणि प्रकृतेर्देव्या यैर्हासायते ननु ॥१०॥
हृद्यैः कलकलालापैर्लापिनी वारिवाहिणी ।
अमन्दानन्ददो नित्यं सोऽयं मे निधिरव्ययः ॥ ११॥

सज्जनों के समान दृढता और स्थिरता के आदर्श, लोकोपकार में तत्पर, और एकान्त शान्ति के धाम पर्वत,[1]

वन-लक्ष्मी की निवास-भूत वे सुरमणीय वनों की श्रेणियाँ,

तथा मधुर शब्द करने वाले, विचित्र रूप-रंगों के पक्षी,

नेत्रों को प्रसन्नता देने वाले, दिव्य गन्धों से युक्त, अनेकानेक प्रकार के पुष्प, जो प्रकृति देवी के हास जैसे प्रतीत होते हैं, और

मनोरम कलकला शब्दों को करने वाली नदी—

यह अमन्द आनन्द को देनेवाली मेरी अक्षय निधि है !

---

१. सज्जन अपने चरित्र में दृढ और वचन में स्थिर होते हैं। वे परोपकारी होते हैं और उनके मन में शान्ति रहती है। पर्वत भी दृढ और स्थिर होते हैं। वे लकड़ी, पत्थर, नदियों आदि के द्वारा संसार का हित-साधन करते हैं और उनमें शान्ति विराजती है।

[२]

समुद्र

स्वच्छोच्छलज्जलैः पूर्णोऽसंख्यानां यादसां पतिः ।
आकुलोऽपि तरङ्गैर्यो मर्यादां नातिवर्तते ॥१२॥
गाम्भीर्येण बृहत्त्वेन साश्चर्यमिव मानवम् ।
कुर्वँल्लोकातिगावस्थामासादयति सत्वरम् ॥१३॥
यस्मिन्नदीनदानां वै नैकनामानि बिभ्रताम् ।
ब्रह्मणीव विभेदानामेकत्वमुपजायते ॥१४॥
नानासंतापतप्तायाः पृथिव्याश्चित्तशान्तये ।
मन्ये विनिर्मितो धात्रा सोऽयं मे निधिरव्ययः ॥१५॥

उछलते हुए स्वच्छ जलों से परिपूर्ण,

असंख्य जल-जन्तुओं का नाथ,

तरङ्गों से आन्दोलित होने पर भी जो अपनी मर्यादा का अतिक्रमण नहीं करता,

जो अपनी गंभीरता और विशालता के कारण मनुष्य को आश्चर्य-चकित करता हुआ सद्यः लोकोत्तर अवस्था को पहुँचा देता है,

जिसमें अनेकों नामों वाली नदियाँ और नद, ब्रह्म में अनेक प्रकार के भेदों के समान, एकत्व को प्राप्त हो जाते हैं,

जिसको सृष्टि-कर्ता ब्रह्मा ने मानो नाना प्रकार के संतापों से संतप्त पृथिवी के चित्त को शान्ति देने के लिए रचा है,

ऐसा जो समुद्र—

वही मेरी अक्षय निधि है !

[३]

अम्बर-मण्डल

स्वयंसूर्यैरसंख्यैर्यदस्मत्सूर्यातिशायिभिः ।
तारागणैः समाच्छन्नं मुक्तामणिगणैरिव ॥ १६ ॥

नानासंतापखिन्नानां मनोनिर्वाणदायिना ।
मनोज्ञचन्द्रिकासंपच्चारुचन्द्रेण चर्चितम् ॥१७॥
त्रिलोक्याः प्राणशक्तेर्यन्निधानेन विवस्वता ।
सवित्रा तमसां हन्त्रा प्रेरकेण धियां तथा ॥१८॥
ज्योतिषां ज्योतिषा दीप्तं भास्वदम्बरमण्डलम् ।
मण्डनं प्रकृतेर्देव्याः सोऽयं मे निधिरव्ययः ॥१९॥

हमारे सूर्य से भी बड़े, स्वयं सूर्य-रूप, असंख्य तारागणों से, मानो मुक्तामणि के समूहों से, संव्याप्त[1],

अनेक प्रकार के संतापों से खिन्न मनुष्यों के मनों को शान्ति देनेवाले, मनोरम चाँदनी की संपत्ति से सुन्दर चन्द्रमा से शोभायुक्त[2],

तीनों लोकों की प्राण-शक्ति के निधि रूप, उत्पादक शक्ति के उद्गम, अन्धकार को भगाने वाले, बुद्धियों के प्रेरक, तथा ज्योतियों के भी प्रकाशक सूर्य भगवान से प्रदीप्त[3],

ऐसा जो प्रकृति देवी का अलंकार-भूत प्रभा-युक्त आकाश-मण्डल है—
वही मेरी अक्षय निधि है !

[४]

पवित्र वाङ्मय

ऋषिभिर्मुनिभिः पूर्वैराचार्यैस्तत्त्वदर्शिभिः ।
तपःस्वाध्यायनिरतैः शान्तैर्दान्तैर्मनीषिभिः ॥२०॥
लोककल्याणबुद्ध्यैव नैव स्वार्थपरायणैः ।
वाङ्मयं यन्महत्सृष्टं सोऽयं ते निधिरव्ययः ॥२१॥

---

१. अर्थात्, कृष्ण पक्ष की रात्रि का आकाश-मण्डल !
२. अर्थात्, शुक्ल पक्ष की रात्रि का आकाश-मण्डल ।
३. अर्थात्, दिन में सूर्य से प्रकाशित आकाश-मण्डल ।

तत्त्वदर्शी, तप और स्वाध्याय में तत्पर, शान्त, दान्त और मनीषी ऋषियों, मुनियों और प्राचीन आचार्यों ने, स्वार्थपरायण होकर नहीं, किन्तु लोक के कल्याण के विचार से ही, जिस उत्कृष्ट वेदादि के वाङ्मय की सृष्टि की है—

वही मेरी अक्षय निधि है !

[५]

शाश्वत पावन ज्ञान

इन्द्रियार्थेष्वसक्ता ये प्राप्ता आध्यात्मिकीं स्थितिम् ।
स्वार्थदृष्टिमतिक्रम्य विश्वतादात्म्यमाश्रिताः ॥२२॥
सत्यमेव परं ब्रह्म सत्यमेव परं तपः ।
सत्यमेव परं लक्ष्यं येषां त ऋषयो मताः ॥२३॥
त एव ऋषयः साक्षात् पश्यन्त्यार्षेण चक्षुषा ।
यदेतत्पावनं ज्ञानं सर्वभूतहितावहम् ॥२४॥
देशकालानवच्छिन्नं शाश्वतं सत्यमक्षयम् ।
तदेतदमृतं मन्ये सोऽयं मे निधिरव्ययः ॥२५॥

इन्द्रियों के विषयों में आसक्त न होकर,
जिन्होंने आध्यात्मिकी स्थिति को प्राप्त कर लिया है;
स्वार्थ की दृष्टि का अतिक्रमण करके,
जिन्होंने विश्व के साथ अपना तादात्म्य स्थापित कर लिया है;
जिनकी दृष्टि में सत्य ही परब्रह्म है,
सत्य ही परम तप है,
और सत्य ही परम लक्ष्य है;
उन्हीं को ऋषि माना गया है ।
वे ही ऋषिजन,
सब प्राणियों का हित करने वाले,
देश और काल से जो अवच्छिन्न नहीं है ऐसे,

शाश्वत, अक्षय और सत्य-रूप
पावन ज्ञान को आर्षचक्षु से देखते हैं।
मैं उसी (ज्ञान) को अमृत मानता हूँ।
वही मेरी अक्षय निधि है !

[६]

महात्माओं का पवित्र जीवन

श्रमेण तपसा युक्ताः संयमेन पुरस्कृताः।
अनुशासनसंजुष्टा व्रतिनो ब्रह्मचारिणः ॥२६॥
उत्तरोत्तरमुत्कर्षि जीवनं यत्सतां मतम्।
तस्य संपादने दक्षा रुद्धा विघ्नशतैरपि ॥२७॥
तापत्रयेण तप्तानां प्राणिनामार्त्तिनाशने।
प्राणानां संशयेनापि तत्परा ये समासते ॥२८॥
श्रद्धाविश्वासयोर्मार्गमास्थिता ये निरन्तरम्।
निर्माया निरहंकारा लोककल्याणसेतवः ॥२९॥
तमसो रजसोऽवस्था अतीत्य समवस्थिताः।
सन्तो ये सत्त्वमार्गस्थाः सत्यसंशोधने रताः ॥३०॥
एतादृशानां पुण्यानां जीवनं यन्महात्मनाम्।
ददाति प्रेरणां नित्यं सोऽयं मे निधिरव्ययः ॥३१॥

श्रम और तप से युक्त, संयम से पुरस्कृत तथा अनुशासन से संपन्न जो व्रती ब्रह्मचारी हैं;

उत्तरोत्तर उत्कर्ष से युक्त जो सत्पुरुषों का अभिमत जीवन है, उसके संपादन में विघ्न-शतों की रुकावटों के होने पर भी जो दक्ष हैं;

प्राणों के संशय के उपस्थित होने पर भी, ताप-त्रय से संतप्त प्राणियों के दु:ख के दूर करने में जो तत्पर रहते हैं;

जो निरन्तर श्रद्धा और विश्वास के मार्ग पर अवस्थित हैं; छल-कपट और अहंकार से रहित हैं और लोक-कल्याण के सेतु हैं;

तमस् और रजस् की अवस्थाओं का अतिक्रमण करके जो सत्पुरुष सत्त्व-मार्ग पर स्थित होकर सत्य के संशोधन में रत हैं;

ऐसे पवित्र महात्माओं का जो जीवन है वह सदा प्रेरणा-प्रद होता है।

वही जीवन मेरी अक्षय निधि है!

[७]

पुरुषसिंहों का शुभ्र यश

धर्मरक्षाकृते प्राणानुत्स्रष्टुं ये समुद्यताः।
वीरव्रतैकनिष्णाताः साहसोत्साहमूर्तयः ॥३२॥

विघ्नराशीनरातींश्च मृद्नन्तस्तृणसन्निभम्।
शूराः सत्यव्रता आर्यमर्यादानां समर्थकाः ॥३३॥

तेषां पुरुषसिंहानां यशो यच्छुभ्रनिर्मलम्।
प्रकाशयज्जगत्कृत्स्नं सोऽयं मे निधिरव्ययः ॥३४॥

धर्म की रक्षा के हेतु प्राणों की बलि देने के लिए जो समुद्यत रहते हैं, वीरों के व्रत (के पालन) में जो पूर्णतया निष्णात हैं और साहस तथा उत्साह की मूर्त्ति हैं;

विघ्नों की राशियों और शत्रुओं को तृण के समान कुचलते हुए जो शूर और सत्यव्रत हैं तथा आर्यों की मर्यादाओं के समर्थक हैं;

उन पुरुष-सिंहों का सारे जगत् को प्रकाशित करने वाला जो शुभ्र और निर्मल यश है—

वही मेरी अक्षय निधि है!

[८]

सत्पुरुषों का पावन वृत्त

कर्तव्यभावनापूतं दम्भाहङ्कारवर्जितम् ।
धर्म्यमाचरणं पुण्यं सर्वभूतहितावहम् ॥३५॥

ज्ञानं यद् वस्तुजातस्य वस्तुतो मूल्यबोधकम् ।
आत्मनोऽनात्मनश्चापि भेदस्य प्रतिपादकम् ॥३६॥

स्वार्थबुद्ध्या न संपृक्ता हृदयाद्या प्रवर्तते ।
अद्वैतशालिनी भक्तिरयश्चुम्बकयोरिव ॥३७॥

अहिंसा परमो धर्मः सर्वभूतहितावहा ।
व्यक्तित्वभावना यस्यां सम्मानं लभतेऽखिला ॥३८॥

स्नेहविश्वासयोर्धाम ह्यन्योन्यस्य कृते पुनः ।
कष्टं सहिष्णु यन्मैत्र्यं तुल्यं च सुखदुःखयोः ॥३९॥

सतां तत्पावनं वृत्तं भूमण्डलमिदं यतः ।
दिव्यलोकायते नूनं सोऽयं मे निधिरव्ययः ॥४०॥

कर्तव्य की भावना से पवित्र, दम्भ और अहंकार से रहित, सब प्राणियों का हित करने वाला, धर्मानुकूल पवित्र आचरण;

वास्तव में वस्तुओं के मूल्य का बोधक और आत्मा तथा अनात्मा के भेद को बताने वाला ज्ञान;

स्वार्थ की बुद्धि से असंपृक्त, हृदय से प्रवृत्त होने वाली, लोहा और चुम्बक के सदृश अद्वैत-शालिनी अर्थात् अकृत्रिम भक्ति;

सब प्राणियों का हित करने वाली परम-धर्म-रूप अहिंसा, जिसमें व्यक्तित्व की समस्त भावना सम्मान पाती है;

स्नेह और विश्वास का स्थान, एक दूसरे के लिए कष्ट सहने वाला तथा सुख और दुःख में एक रूप में रहने वाला मित्रता का भाव;

यह जो सत्पुरुषों का पावन वृत्त है, जिसके कारण यह भूमण्डल दिव्य-लोक-सा दीखता है—

वही मेरी अक्षय निधि है !

[९]

चित्त की पूर्ण स्वस्थता

आधिव्याधिसमुद्वेग आलम्बनमनुत्तमम् ।
विश्वासाश्वासयोर्हानौ मन:संधारणं च यत् ॥४१॥

कृतघ्नतापिशाच्या वा मित्रद्रोहस्य रक्षस: ।
स्वार्थस्य दुष्टवृत्तेर्वा घाते त्राणाय यन्मतम् ॥४२॥

प्रलोभनस्थितौ यद्वा वैफल्ये समुपस्थिते ।
इष्टार्थस्य प्रहाणे वा परमं यत्परायणम् ॥४३॥

अभिमानेन दर्पेण पक्षपातेन वा पुन: ।
मूढानां दुष्टबुद्धीनां मार्गान्न च्यवते च यत् ॥४४॥

यदाश्रयेण तिष्ठन्त: सन्तश्चारित्रभूषणा: ।
निर्विकारा निरातङ्का: संतरन्त्यापदापगा: ॥४५॥

सर्वद्वन्द्वप्रसहने समर्थं निश्चलं दृढम् ।
चित्तस्य तादृशं स्वास्थ्यं सोऽयं मे निधिरव्यय: ॥४६॥

आधि (= मनोविकार) और व्याधि के आवेग के समय जो अद्वितीय आलम्बन है, विश्वास और आश्वासन की हानि में जो मन को शक्ति देता है;

पिशाची रूप कृतघ्नता के, राक्षस-रूप मित्रद्रोह के, तथा दुष्ट प्रवृत्तियों से युक्त स्वार्थ के आघात के समय जो रक्षा करता है;

प्रलोभन की स्थिति में, अथवा विफलता के उपस्थित होने पर, अथवा इष्ट पदार्थ के नष्ट हो जाने पर जो परम सहारा है;

दुष्ट-बुद्धि मूढ पुरुषों के अभिमान से, दर्प से, अथवा पक्षपात से जो अपने मार्ग से च्युत नहीं होता है;

जिसके आश्रय से रहने वाले, चारित्र्य ही भूषण है जिनका ऐसे सत्पुरुष, निर्विकार और निर्भय रहते हुए, आपत्ति की नदियों को पार कर जाते हैं;

समस्त द्वन्द्वों के सहने (या दवाने) में सशक्त, निश्चल और दृढ, चित्त की वैसी जो स्वस्थता है—

वही मेरी अक्षय निधि है !

[१०]

सौम्य मनःस्थिति

अभिमानेन दम्भेन दर्पेण परिवर्जिता ।
शान्ता न मायया स्पृष्टा संयमेन पुरस्कृता ।।४७।।

श्रद्धया च विवेकेन सत्यमार्गानुसारिणी ।
लोककल्याणबुद्धयैव ज्ञानोपार्जनकारिणी ।।४८।।

हितबुद्धया समस्तानां प्राणिनां या समन्विता ।
उत्तरोत्तरमुत्कृष्टचारित्र्यपरिपोषिणी ।।४९।।

नैराश्येन विनिर्मुक्ता यासौ सौम्या मनःस्थितिः ।
सन्तुष्टा च प्रसन्ना च सोऽयं मे निधिरव्ययः ।।५०।।

अभिमान से, दम्भ से और दर्प से रहित,
शान्त, छल-कपट से अस्पृष्ट, और संयम से युक्त,
श्रद्धा और विवेक के साथ सत्य मार्ग का अनुसरण करने वाली,
संसार के कल्याण की बुद्धि से ही ज्ञान का उपार्जन करने वाली,
समस्त प्राणियों के हित की बुद्धि से समन्वित,
उत्तरोत्तर उत्कृष्ट चारित्र्य को पुष्ट करने वाली,
नैराश्य से रहित, सन्तुष्ट और प्रसन्न,
जो सौम्य मनःस्थिति है—
वही मेरी अक्षय निधि है !

[११]

अनन्त प्रभा

अनन्ता या प्रभा नित्या सर्वस्यान्तः प्रकाशते ।
जगदेतत्समस्तं तु यस्या अंशेन भासते ॥५१॥
सौम्या सौम्यतराशेषसौम्येभ्यस्त्वतिसुन्दरी ।
स्रोतस्विनी सदानन्दवारिणा चिन्मयी च या ॥५२॥
कृतकृत्या जितात्मानो यस्यां मज्जन्ति योगिनः ।
निर्धूतकल्मषा नूनं सोऽयं मे निधिरव्ययः ॥५३॥

जो अनन्त तथा नित्य प्रभा सबके अन्दर प्रकाशित हो रही है,

जिसके अंश-मात्र से यह सारा जगत् भासित होता है,

जो स्वयं सौम्य और सौम्यतर है। और समस्त सौम्य एवं सुन्दर पदार्थों की अपेक्षा अति सुन्दरी है,

जो सर्वदा आनन्दरूपी जल के प्रवाह से युक्त नदी के समान है और चैतन्य वाली है,

जिसमें अपने को जीतने वाले, पाप से रहित, कृतकृत्य योगी लोग डुबकी लगाते हैं—

वही मेरी अक्षय निधि है !

[१२]

प्रेम और कारुण्य का धाम

प्राणिनां दुःखतप्तानां सततं दुःखनाशने ।
रतानां यत्सतां चित्ते प्रेमरूपेण भासते ॥५४॥
सत्यानुसंधानपरा लोकानां हितकाम्यया ।
सत्यरूपेण यन्नित्यं ज्ञानिनः पर्युपासते ॥५५॥

उद्वेगस्यावसादस्याशान्तेश्चित्तस्य धीमताम् ।
प्रतीकारार्थमुत्कृष्टममोघं साधनं च यत् ॥५६॥
सर्वप्रकाशकं तत्त्वं नित्यं विश्वनियन्तृ यत् ।
प्रेमकारुण्ययोर्धाम सोऽयं मे निधिरव्ययः ॥५७॥

दुःखों से संतप्त प्राणियों के दुःखों के नाश करने में सतत तत्पर सत्पुरुषों के चित्त में जो प्रेम के रूप में भासित होता है;

लोगों के हित की कामना से सत्य के अनुसंधान में तत्पर ज्ञानी लोग जिसकी नित्य सत्य के रूप में उपासना करते हैं;

मनीषियों के प्रति चित्त के उद्वेग, अवसाद और अशान्ति के प्रतीकार के लिए जो उत्कृष्ट और अमोघ साधन है;

सबका प्रकाशक, नित्य, विश्व का नियन्त्रण करने वाला और प्रेम तथा कारुण्य का धाम जो (मूल) तत्त्व है—

वही मेरी अक्षय निधि है !

[१३]

शाश्वत मूल तत्त्व

यदेतच्छाश्वतं तत्त्वं यतः सर्वं प्रवर्त्तते ।
यत्रैव च लयं याति येन सर्वमिदं ततम् ॥५८॥
यदुद्दिश्य प्रवर्त्तन्ते सर्वे धर्माः पृथक्पृथक् ।
सत्यं प्रेम तथा ज्ञानं यस्य नामान्तरं स्मृतम् ॥५९॥
द्रष्टृ विश्वस्य जगतो भोक्तृ यच्चापि केवलम् ।
तथापि साक्षिरूपेण निरपेक्षितया स्थितम् ॥६०॥
सच्चिदानन्दरूपं यत्कूटस्थमविचालि च ।
यत्राहं वस्तुतो वर्त्तेऽहन्तोपाधिविवर्जितः ॥६१॥

यच्चापि सर्वभूतानां जीवनं जीवनाश्रयः।
जीवनस्य च लक्ष्यं सत्तत्तद्रूपेण भासते ॥६२॥

अगम्यमप्रमेयं सत्स्वयमेवावभासते।
ज्योतिषामपि यज्ज्योतिः सोऽयं मे निधिरव्ययः ॥६३॥

वह जो शाश्वत तत्त्व है, जिससे सबकी प्रवृत्ति होती है, जिसमें सबका लय हो जाता है और जिससे यह सब व्याप्त है;

जिसको उद्देश्य करके सब धर्म पृथक्-पृथक् प्रवृत्त होते हैं; सत्य, प्रेम तथा ज्ञान जिसके नामान्तर माने जाते हैं;

जो केवल समस्त जगत् का द्रष्टा और भोक्ता है, तो भी जो एक साक्षी के रूप में निरपेक्ष होकर अवस्थित है;

जो सच्चिदानन्दरूप, कूटस्थ और अविचाली है; अहन्ता की उपाधि से रहित होने पर मैं वास्तव में जिसमें रहता हूँ;

जो सब प्राणियों का जीवन और जीवन का आश्रय है, और तत्तद्रूप में जीवन का लक्ष्य होता हुआ भासित होता है;

जो अगम्य और अप्रमेय होता हुआ स्वयं ही भासित होता है, ज्योतियों का जो ज्योति है—

वही मेरी अक्षय निधि है!

[१४]

विश्वव्यापी सांमनस्य

आदेशमनुवर्तन्ते यस्य सूर्यादयो ग्रहाः।
चराचरव्यवस्थेयं यस्याज्ञामनुवर्तते ॥६४॥

कार्यकारणसंबन्धा अनन्ता विश्वविस्तृताः।
गायन्ति सततं यस्य निःशब्दं गुणगौरवम् ॥६५॥

विश्वसंचालने व्यग्रा देवाः सर्वेऽप्यसंशयम्।
मूर्त्तिभावं समापन्ना यस्याज्ञैवेति मन्यताम् ॥६६॥

यदेतद्विश्वसंव्यापि सांमनस्यमृतं बृहत् ।
यशोरूपेण तद्यस्य च्छन्दोभिर्ऋषयो जगुः ॥६७॥

अथ किं बहुनोक्तेन यदतिक्रम्य संस्थितम् ।
दृश्यादृश्यमिदं विश्वं सोऽयं मे निधिरव्ययः ॥६८॥

सूर्यादि ग्रह जिसके आदेश का अनुवर्तन करते हैं;
यह चर और अचर की व्यवस्था जिसकी आज्ञा का पालन करती है;
विश्व में विस्तृत अनन्त कार्य और कारण के सम्बन्ध
जिसके गुण-गौरव का शब्दों के बिना गान करते हैं;
विश्व के संचालन में व्यस्त समस्त देव-गणों को निःसंदेह
मूर्तिभाव को प्राप्त हुई जिसकी आज्ञा ही माना जाना चाहिए;
यह जो विश्व भर में संव्याप्त सांमनस्य और बृहत् ऋत (= प्राकृतिक नियमों की व्यवस्था) है,
उसी को ऋषियों ने जिसके यश के रूप में छन्दों द्वारा गान किया था;
अथवा अधिक कहने से क्या ? जो दृश्य और अदृश्य
इस सारे विश्व का अतिक्रमण करके संस्थित है—
वही मेरी अक्षय निधि है !

॥ इति जीवनज्योतिषि 'सोऽयं मे निधिरव्ययो' नाम एकादशो रश्मिः ॥

द्वादशो रश्मिः

तत्त्व-मीमांसा

एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति । (ऋग्वेद १।१६४।४६)

सुपर्णं विप्राः कवयो वचोभिरेकं सन्तं बहुधा कल्पयन्ति ।

(ऋग्वेद १०।११४।५)

तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद्वायुस्तदु चन्द्रमाः ।

तदेव शुक्रं तद् ब्रह्म ता आपः स प्रजापतिः ।।

(यजुर्वेद ३२।१)



बारहवीं रश्मि

तत्त्व-मीमांसा

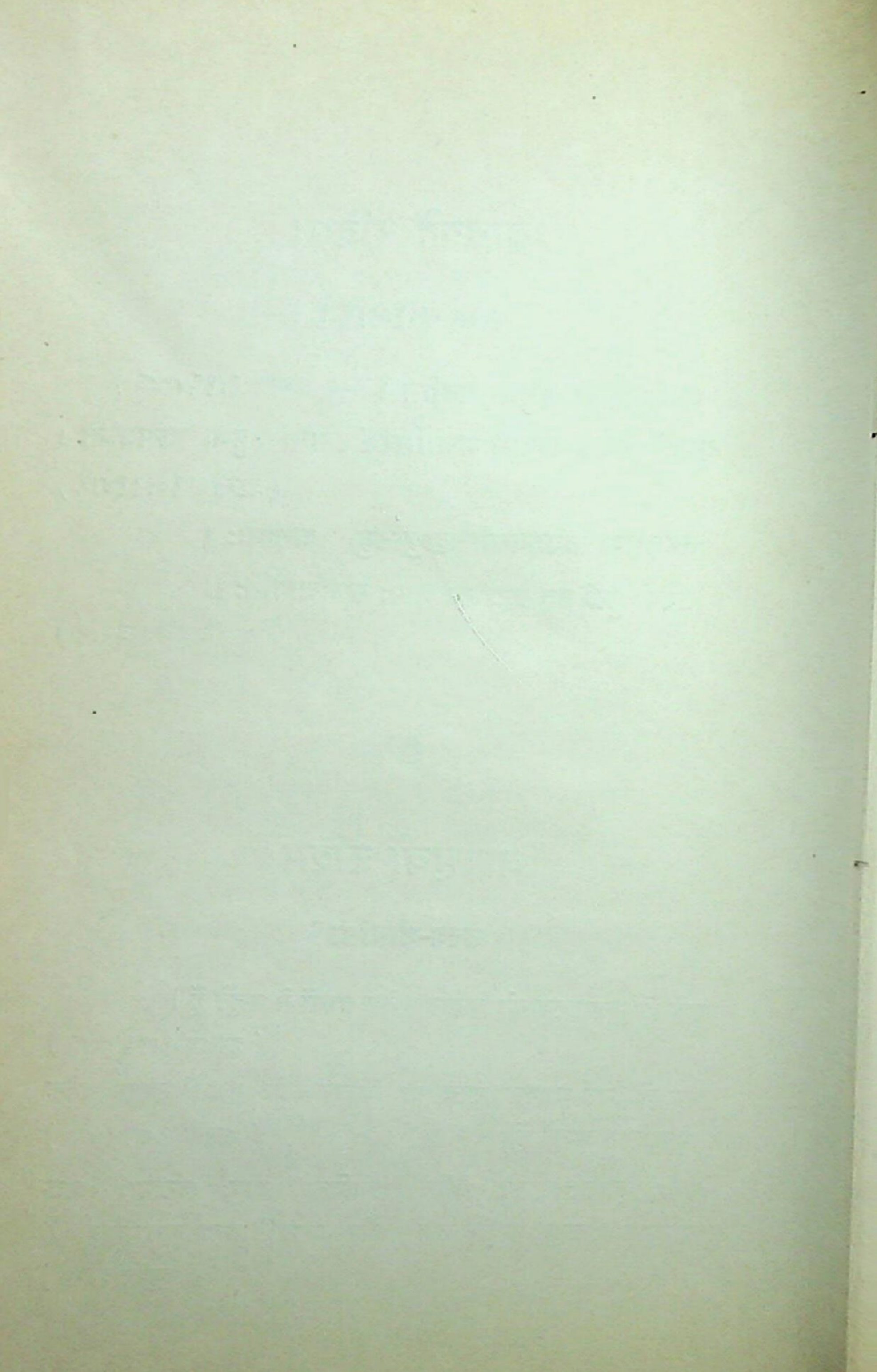
एक ही मूल-तत्त्व को विद्वान् अनेक नामों से कहते हैं ।

(ऋग्वेद १।१६४।४६)

एक ही सर्व-व्यापक तत्त्व को विद्वान् कवि वचनों द्वारा अनेक रूपों में कल्पित करते हैं । (ऋग्वेद १०।११४।५)

उसी मूलतत्त्व को अग्नि, आदित्य, वायु, चन्द्रमा, शुक्र (प्रकाशयुक्त), ब्रह्म, अप् (जल) और प्रजापति कहा जाता है ।

(यजुर्वेद ३२।१)



तत्त्वमीमांसा

नर उवाच

सांमनस्यस्य माहात्म्यं भवता प्रतिपादितम् ।
नूनं तत्परमं सत्यं विश्वविष्टम्भने क्षमम् ॥१॥
सांमनस्यप्रचाराय पृथिव्यां मानवेषु वै ।
यत्नशीला महात्मान इति कस्य तिरोहितम् ॥२॥
तथापि हन्त ! परितस्तदभावेन पीडितम् ।
जगदेतद्यतश्चित्तं सतां चेखिद्यते महत् ॥३॥
परस्परं विरोधस्य भीषणस्य समन्ततः ।
भावना प्रसृता घोरा नूनं दंहह्यते जगत् ॥४॥
तत्र यत्कारणं मुख्यं प्रतीकारश्च यो भवेत् ।
भूमौ शान्तेः प्रसारार्थं तद् भवान् वक्तुमर्हति ॥५॥

नर ने कहा

आप ने ऊपर सांमनस्य के माहात्म्य का प्रतिपादन किया है। निश्चय ही वह परम सत्य है और विश्व के विष्टम्भन (= ऐक्य भाव की स्थापना) में समर्थ है।

यह किससे छिपा है कि महात्मा-गण पृथिवी पर मनुष्यों में सांमनस्य के प्रचारार्थ यत्नशील रहते हैं।

तो भी यह दुःख की बात है कि चारों ओर उसके अभाव से जगत् पीडित है, जिससे सत्पुरुषों के चित्त को महान् खेद होता है।

चारों ओर फैली हुई परस्पर भीषण विरोध की घोर भावना जगत् को भस्मसात् कर रही है।

उसका जो मुख्य कारण है और जो उसका प्रतीकार हो उसे आप, पृथ्वी पर शान्ति के प्रसार के उद्देश्य से, कृपया कहिए।

नारायण उवाच

सम्प्रदायविरोधो वै अशान्तेः कारणं महत्।
परस्परासहिष्णुत्वं तस्मादेवोपजायते ॥६॥
मानवो मानवस्यैव तस्य दुर्भावनावशात्।
पापात्मा राक्षसो भूत्वा रक्तपाते प्रवर्तते ॥७॥
संप्रदायविरोधस्य प्रसृतस्य समन्ततः।
भीषणस्यास्य मूले यत्कारणं तदिहोच्यते ॥८॥
यथान्धा हस्तिविषये विवदन्ते परस्परम्।
तथैव मूलतत्त्वस्य लोकेऽज्ञानं प्रवर्तते ॥९॥
संप्रदायविरोधोऽसौ तदज्ञाननिमित्तकः।
मीमांसा मूलतत्त्वस्य तस्मादत्र विधीयते ॥१०॥
सांमनस्यकृते किं च तदज्ञाननिवृत्तये।
पापात्पापतरं यस्मादज्ञानान्नात्र विद्यते ॥११॥
अथापि मूलतत्त्वस्य विषये संशयाकुलः।
किंकर्तव्यविमूढात्मा पङ्के गौरिव सीदति ॥१२॥

श्री नारायण ने कहा

धार्मिक संप्रदायों का परस्पर विरोध अशान्ति का बड़ा कारण है। उससे ही परस्पर असहिष्णुता उत्पन्न होती है।

उसी की दुर्भावना के कारण मनुष्य पापात्मा राक्षस बनकर मनुष्य के रक्तपात में प्रवृत्त होता है। चारों ओर फैले हुए इस भीषण सांप्रदायिक विरोध के मूल में जो कारण है उसे यहाँ बतलाया जायगा।

जैसे अन्धे लोग एक हाथी के विषय में परस्पर विवाद करते हैं; उसी प्रकार मूल-तत्त्व के सम्बन्ध में संसार में अज्ञान फैला हुआ है।

यह जो संप्रदाय-विरोध है वह उसी (मूलतत्त्व-विषयक) अज्ञान के कारण है। इसी से यहाँ मूलतत्त्व के सम्बन्ध में मीमांसा की जा रही है।

परस्पर सांमनस्य के लिए तथा उक्त अज्ञान की निवृत्ति के लिए भी (उक्त मीमांसा की जा रही है); क्योंकि पाप-रूप अज्ञान से बढ़ कर दूसरी पाप-रूप वस्तु इस संसार में नहीं है।

किञ्च, मूल-तत्त्व के विषय में संशय से आकुल व्यक्ति किं-कर्तव्य-विमूढ (=अपने कर्तव्य को न समझता हुआ) होकर, दलदल में फँसी गौ के समान, दुःख पाता है।

[१]

मूलतत्त्व का विचार

"एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति" (ऋग्वेद १।१६४।४६)

अर्थात्, एक ही मूलतत्त्व को विद्वान् अनेक नामों से कहते हैं।

प्रायः प्रत्येक धर्म और सम्प्रदाय के लोग इस दृश्य जगत् के मूल में रहने वाले परम तत्त्व को स्वीकार करते हैं। उसके लिए वे अपनी-अपनी परम्परा या दार्शनिक दृष्टि के अनुसार भिन्न-भिन्न नाम देते हैं। इस नाम-भेद के

कारण ही वे प्रायः यह सोच नहीं सकते कि नाम-भेद और दृष्टि-भेद से वह मूलतत्त्व वास्तव में असंपृक्त है, और इसीलिए उनसे स्वीकृत मूलतत्त्व, नाम-भेद और दृष्टि-भेद के होने पर भी, वास्तव में एक ही है।

मूल-तत्त्व स्वयं सिद्ध है। उसको किसी ने बनाया नहीं है। नाम-भेद और दृष्टि-भेद का यही अर्थ हो सकता है कि हम सब उसके स्वरूप को समझना चाहते हैं। ऐसी दशा में नाम-भेद और दृष्टि-भेद को लेकर झगड़ने का कोई अर्थ ही नहीं रह जाता। पर धर्मों और संप्रदायों के इतिहास इस झगड़े से भरे पड़े हैं। इसीलिए मूलतत्त्व-मीमांसा की विशेष आवश्यकता है। इसी मीमांसा को लेकर नीचे के पद्य लिखे गये हैं—

यतो भूतानि जायन्ते यत्र तेषां लयो मतः।
यदाश्रयेण तिष्ठन्ति तत्त्वं तन्नित्यमव्ययम् ॥१३॥

समस्त सत्पदार्थ जिस तत्त्व से उत्पन्न होते हैं, जिसमें उनका लय होता हैं और जिसके आश्रय से वे वर्तमान रहते हैं, वह स्वयं नित्य और अव्यय अर्थात् क्षय-रहित है।

भाषासीमामतिक्रम्य ज्ञानगम्यं कथंचन।
स्वयम्भु, वस्तुतो नाम्ना रहितं तद्धि वर्तते ॥१४॥

वह मूल-तत्त्व भाषा की सीमा को अतिक्रमण करके रहता है, अर्थात् भाषा द्वारा उसके स्वरूप का वर्णन कठिन है। किसी प्रकार केवल ज्ञान की गति उस तक हो सकती है। वह स्वयंभू है, अर्थात् उसको किसी दूसरे ने उत्पन्न नहीं किया है। वास्तव में उसका कोई अपना नाम नहीं है।

तन्नामविषये मन्दास् तत्तद्रूढिवशान्मुधा।
विवदन्ते, तदाश्चर्यमुपहासकरं महत् ॥१५॥

उसी तत्त्व के नाम के विषय में मन्द-बुद्धि लोग, विभिन्न रूढियों के कारण, व्यर्थ में विवाद करते हैं। यह बड़े आश्चर्य और उपहास की बात है।

नियतो विषयो वाचोऽनियतो मनसस्, ततः।
ह्रसीयसी हि वागुक्ता मनसोऽपेक्षया श्रुतौ ॥१६॥

वाणी का विषय परिमित है और मन का अपरिमित। इसीलिए श्रुति[1] में मन की अपेक्षा वाणी को छोटा कहा गया है।

अभिप्राय यह है कि हमारे मन के भावों को वाणी प्रायः पूर्णतया प्रकट नहीं कर पाती है। इससे स्पष्ट है कि वाणी के क्षेत्र की अपेक्षा मन का क्षेत्र कहीं अधिक विस्तृत है।

> तत्त्वं स्वभावतः सिद्धं गुणग्रामनिकेतनम्।
> गुणमेकं समाश्रित्य पुनर्नाम प्रवर्तते ॥१७॥

वह मूल-तत्त्व स्वभाव से ही अनेकानेक गुणों का स्थान है। परन्तु (अन्वर्थ) नाम किसी एक गुण को लेकर ही प्रवृत्त होता है।

अभिप्राय यह है कि जितने भी अन्वर्थ नाम होते हैं वे सब किसी-न-किसी एक ही गुण को लेकर रखे जाते हैं। मूल तत्त्व में तो अनेकानेक गुण रहते हैं। इसलिए कोई अन्वर्थ नाम मूल-तत्त्व का ठीक-ठीक वर्णन नहीं कर सकता। इसी बात को नीचे स्पष्ट किया गया है।

> न विद्यते ततो नाम त्रिषु लोकेषु तादृशम्।
> तत्त्वोपवर्णने शक्तं साकल्येन भवेत्तु यत् ॥१८॥
> अन्वर्थवाचकं सर्वं नाम तत्त्वस्य विद्यते।
> नैव रूढं, ततस्तेन विशेषगुण उच्यते ॥१९॥

इसलिए तीनों लोकों में कोई ऐसा नाम नहीं है जो पूर्णतया मूलतत्त्व के स्वरूप के वर्णन में समर्थ हो। क्योंकि उस मूल-तत्त्व के जो भी नाम संसार में प्रसिद्ध हैं वे सब अन्वर्थ-वाचक ही हैं; अर्थात् किसी अर्थ-विशेष को लेकर ही वे प्रवृत्त हुए हैं। इसीलिए उन नामों से मूलतत्त्व के किसी-न-किसी विशेष गुण का ही अभिप्राय होता है। उनमें से कोई भी पूर्ण-रूप से मूलतत्त्व के सब गुणों को नहीं बतला सकता।

उसका कोई रूढ (= जिसमें अर्थ की अपेक्षा न हो) नाम तो है ही नहीं।

---

१. तु०—"वाग्वै मनसो ह्रसीयसी। अपरिमिततरमिव हि मनः। परिमिततरेव हि वाक्।" (शतपथ-ब्राह्मण १।४।४।७)। अर्थात्, मन की अपेक्षा वाणी छोटी है; क्योंकि मन का क्षेत्र अपरिमिततर जैसा है और वाणी का परिमिततर जैसा।

रुचिभेदाद्धियो भेदादथवा संप्रदायतः।
तत्त्वस्य बिषये दृष्टेर्भेदः समुपजायते ॥२०॥
दर्शनानि विभिन्नानि संप्रदायास्ततोऽपरे।
समुत्पन्नानि लोकेऽस्मिन् दृश्यन्ते यत्र तत्र वै ॥२१॥

मूलतत्त्व के विषय में जो अनेक दृष्टियाँ पायी जाती हैं, उनका कारण रुचि-भेद, बुद्धि-भेद अथवा संप्रदाय-भेद ही है।

संसार में जहाँ-तहाँ पाये जाने वाले विभिन्न दर्शनों और संप्रदायों की उत्पत्ति इन्हीं कारणों से हुई है।

परिधानीयवस्त्राणां भोज्यानां चैव निश्चितम्।
प्रकारेषु महान् भेदो देशभेदेन दृश्यते ॥२२॥
तत्तत्कारणसत्त्वेऽपि तत्र भेदे, न मौलिकः।
अभिप्रायो मनुष्याणां भेदमापद्यते क्वचित् ॥२३॥

विभिन्न देशों के पहनने के वस्त्रों और भोज्य पदार्थों के प्रकारों में महान् भेद पाया जाता है।

उक्त भेदों में विभिन्न देशों के जल-वायु आदि का भेद ही कारण होता है। तो भी, पहनने के वस्त्रों और भोज्य पदार्थों के संबन्ध में मनुष्यों के मौलिक अभिप्राय में कोई भेद नहीं होता। अर्थात्, संसार में सर्वत्र वस्त्र शीत आदि से बचाव के लिए ही पहने जाते हैं और भोजन शरीर-पुष्टि के लिए ही किया जाता है।

रुचकादिप्रकारेण भिन्नाकारानुपेयुषः।
सुवर्णस्य सुवर्णत्वं हीयते न कदाचन ॥२४॥

सुवर्ण के गले आदि के आभूषणों में सोना भिन्न-भिन्न आकारों को धारण कर लेता है। तो भी, उनमें सुवर्ण का सुवर्णत्व ज्यों का त्यों रहता है, उसमें कोई अन्तर नहीं पड़ता।

एवं सत्यपि दृष्टीनां विभेदे दर्शनादिषु।
तत्त्वं स्वरूपतः स्थायि कूटस्थं चैव वर्त्तते ॥२५॥

इसी प्रकार विभिन्न दर्शनों आदि में मूल-तत्त्व के विषय में विभिन्न दृष्टियों के पाये जाने पर भी, वह स्वरूप में स्थायी और कूटस्थ ही रहता है।

अभिप्राय यही है कि मूलतत्त्व के विषय में अनेक दृष्टियाँ भले ही हों, वह अपने रूप में सदा अविचल और स्थायी भाव से ही रहता है। उन दृष्टियों का उसके स्वरूप पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता।

एकस्यैव प्रमेयस्य परिभाषान्तरं यथा ।
क्रियते शास्त्रभेदेन तथा तत्त्वेऽपि दृश्यताम् ॥२६॥

सत्यं ब्रह्म परं धाम कर्म धम्मो प्रजापतिः ।
शक्तिर्माता शिवो विष्णू राम ओंकार एव च ॥२७॥

प्रेमेत्यादि पदं मूलतत्त्ववाचि न संशयः ।
तदेव तत्त्वं गीतायामहं शब्देन कथ्यते ॥२८॥

एक ही पदार्थ के लिए विभिन्न शास्त्रों में विभिन्न पारिभाषिक शब्द नियत कर लिये जाते हैं। मूलतत्त्व के विषय में भी ऐसा ही समझ लेना चाहिए।

सत्य, ब्रह्म, परमधाम, कर्म, धम्म, प्रजापति, शक्ति, माता, शिव, विष्णु, राम, ओम्, प्रेम इत्यादि सारे शब्द मूलतत्त्व के ही वाचक हैं; इसमें कोई संशय नहीं है। उसी मूलतत्त्व के लिए भगवद्गीता में 'अहम्' शब्द का प्रयोग किया गया है।

[२]

सर्वव्यापक तत्त्व

"स ओतः प्रोतश्च" (यजुर्वेद ३२।८)

अर्थात्, वह मूल-तत्त्व सर्वत्र ओत-प्रोत हो रहा है।

बहिरन्तश्च सर्वत्र महिमा तस्य भासते ।
चराचरस्य लोकस्य प्रवृत्तेरुद्भवो यतः ।२९॥

चराचर जगत् की प्रवृत्ति का उद्भव जिस मूल तत्त्व से हुआ है, उसकी महिमा बाहर और भीतर सर्वत्र भासित हो रही है।

अदृश्यमपि यत्तत्त्वं लौकिकानामगोचरम्।
तदेव परितः स्पष्टं विबुधानां प्रतीयते ॥३०॥

जिस परम-तत्त्व को साधारण लोग नहीं देख सकते, वह अदृश्य होते हुए भी ज्ञानियों को सर्वत्र स्पष्ट प्रतीत होता है।

[३]

परमात्म-तत्त्व

"एको वशी सर्वभूतान्तरात्मा
एकं रूपं बहुधा यः करोति।" (कठोपनिषद् २।२।१२)

अर्थात्, सर्व भूतों का अन्तरात्मा परमात्मा एक होते हुए भी अनेक रूपों में प्रतीत होता है।

पात्रभेदेन भिन्नाम्भः पिबन्नार्त्तः पिपासया।
यथा शान्तिमवाप्नोति नोक्तभेदेऽवसज्जते ॥३१॥

तथैव तत्त्वविद् विद्वान् नानारूपेण पूजिते।
परात्मतत्त्व एकस्मिन् शान्तिमाप्नोति नैष्ठिकीम् ॥३२॥

जैसे पिपासा से आकुल मनुष्य विभिन्न पात्रों से पानी पीकर अपनी प्यास को बुझा लेता है और इस बात की परवा नहीं करता कि किस पात्र से उसको पानी मिला है, इसी तरह तत्त्वज्ञानी एक ही परमात्म-तत्त्व में वास्तविक शान्ति को पाता है, भले ही संसार में लोग भिन्न-भिन्न रूपों में उसे पूजते हैं[१]।

---

१. तु० "बहुधाप्यागमैर्भिन्नाः पन्थानः सिद्धिहेतवः।
तत्रैव निपतन्त्योघा जाह्नवीया इवार्णवे ॥" (रघुवंश १०।२६)

[४]

मूलतत्त्व का साक्षात्कार

"नाशान्तो नासमाहितः" (कठोपनिषद् १।२।२३)

अर्थात्, अशान्त और असमाहित मनुष्य मूलतत्त्व का साक्षात्कार नहीं कर सकता ।

अन्तर्बहिश्च यत्तत्त्वं व्याप्तमानन्दरूपि तत् ।
पूर्णमेकरसं शान्तं यस्यान्तर्निवसाम्यहम् ॥३३॥

अन्दर और बाहर जो तत्त्व सर्वत्र व्याप्त है वह आनन्दमय, अपने में पूर्ण, एक रस और शान्त है । उसी के अन्दर मैं रहता हूँ ।

तथापि कियदाश्चर्यं यन्मोहेन समावृतम् ।
वर्तते तन्मदीयेन मेघै रविरिवांशुमान् ॥३४॥

तो भी बड़ा आश्चर्य है कि मेरे अपने ही मोह से वह तत्त्व, मेघों से प्रकाशमान सूर्य के समान, आवृत हो रहा है ।

स्वस्थेन शान्तचित्तेन प्रसन्नेन निरन्तरम् ।
शक्यतेऽनुभवस्तस्य कर्तुमेकाग्रबुद्धिना ॥३५॥

स्वस्थ, शान्तचित्त, निरन्तर प्रसन्न रहने वाला तथा एकाग्र बुद्धिवाला मनुष्य ही उस तत्त्व का अनुभव अथवा साक्षात्कार कर सकता है ।

[५]

दुर्दर्श मूलतत्त्व

स्वयं प्रकाशमानं यत्तत्त्वं तस्य परात्मनः ।
अनात्मनो विचाराणां गुहायां गूढमावृतम् ॥३६॥

परमात्मा का स्वयं प्रकाशमान स्वरूप हमारे ऐसे विचारों की गुफा में जिनका आत्मा से सम्बन्ध नहीं है गूढ़ रूप में छिपा हुआ है ।

तेषां सम्यङ्निरोधे तद् योगाभ्यासविधानतः।
स्वात्मनोऽभ्यन्तरे सद्यो ज्योतीरूपं समीक्ष्यते ॥३७॥

योगाभ्यास की विधि से उन आत्म-स्वरूप-विरोधी विचारों के सम्यक्तया निरुद्ध हो जाने पर परमात्मा का वह प्रकाशमान स्वरूप तत्काल अपने अन्दर दिखाई देने लगता है।

तत्त्वं तत् 'तत् त्वम्' इत्येवं श्रुत्या नैकत्र गीयते।
अत एवात्मतत्त्वज्ञैरात्मन्येवानुभूयते ॥३८॥

उसी तत्त्व का 'तू वही है' इस प्रकार उपनिषदों में अनेकत्र गान किया गया है। इसीलिए आत्म-तत्त्वज्ञानी उस तत्त्व का अपने अन्दर ही साक्षात्कार करते हैं।

ऊपर अपने अन्दर परमात्मा के दर्शन का कथन किया है। नीचे के पद्यों में अपने से बाहर बाह्य जगत् में भी उसके दर्शन के उपाय का प्रतिपादन करते हैं –

अथ चेत्तस्य तत्त्वस्य दर्शनं स्वात्मनो बहिः।
अभीप्सितं, तदाविष्टं जगदेतत्परात्मना ॥३९॥
चराचरात्मकं सर्वं विष्णुनेति विभाव्यताम्।
तद्दर्शनेन तद्रूपं प्रत्यक्षमनुभूयताम् ॥४०॥

पर यदि कोई अपने से बाहर बाह्य जगत् में ही परमात्मा के दर्शन करना चाहता है, तो उसको बराबर यही चिन्तन करना चाहिए कि इस चराचरात्मक समस्त विश्व में विष्णु[1] रूप से परमात्मा आविष्ट हो रहे हैं। इस प्रकार परमात्मा के शरीर-रूप अथवा विभूति-रूप इस बाह्य जगत् में भी परमात्मा का प्रत्यक्ष अनुभव किया जा सकता है।

अभिप्राय यह है कि यथाविधि अभ्यास और संयम से अपने अन्दर तो परमात्म-तत्त्व का अनुभव किया ही जा सकता है, परन्तु बाह्य जगत् में भी उस तत्त्व का साक्षात्कार असंभव नहीं है।

---

१. 'विष्णु' का अर्थ है 'सब जगत् में प्रविष्ट (व्यापक) परमात्मा'।

"रसोऽहमप्सु कौन्तेय प्रभास्मि शशिसूर्ययो:" (भगवद्‌गीता ७।८)

(अर्थात्, जल में रस और चन्द्र-सूर्य में प्रभा भगवान् के ही रूप हैं) इस गीता के कथन के अनुसार तत्त्वज्ञानी समस्त चराचर जगत् में परमात्म-तत्त्व का साक्षात् अनुभव कर सकता है।

[६]

जगद्धात्री महाशक्ति

"स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमाम्" (यजुर्वेद १३।४)

अर्थात्, वही परमात्मा पृथिवी और द्युलोक को धारण कर रहे हैं।

"य: सर्वज्ञः सर्वविद्" (मुण्डकोपनिषद् २।२)

अर्थात्, (वही परमात्मा) जो सर्वज्ञ और सर्वव्यापक हैं।

विश्व के धारण, पालन और व्यवस्था को करने वाली जगद्धात्री महाशक्ति के स्वरूप का वर्णन नीचे के पद्यों में किया गया है—

विश्वमेतद्यया शक्त्या धार्यते पाल्यते तथा।
नूनं सा प्रथमा बुद्धिश्चेतना चैव मन्यताम् ॥४१॥

तया सहेतुकं विश्वमाब्रह्माण्डं व्यवस्थितम्।
चाल्यते हितभावेन तामेवाहं समाश्रये ॥४२॥

जो शक्ति इस विश्व को धारण और पालन कर रही है उसको निश्चय ही आद्या बुद्धि और चेतना के रूप में मानना चाहिए।

उसी के द्वारा ब्रह्माण्ड-पर्यन्त सारा विश्व इस प्रकार व्यवस्थित है कि उसकी सारी व्यवस्था को हेतु-पुरस्सर समझा जा सकता है। वही उसको हित के भाव से चला रही है।

मैं उसी मौलिक आद्या शक्ति का आश्रय लेता हूँ।

अभिप्राय यह है कि विश्व को धारण करने वाली एक महाशक्ति है, यह तो तत्काल समझ में आ जाता है। साथ ही यह भी समझ लेना चाहिए कि उसका सारा कार्य हेतु-पुरस्सर है और प्राणियों की हित-भावना से संचालित है। इसमें किसको सन्देह हो सकता है कि विश्व की सारी व्यवस्था हेतु-पुरस्सर है। उदाहरणार्थ, यदि पृथिवी पर प्राणी हैं, तो उनके लिए वनस्पति और जल आदि की भी सृष्टि है। बच्चे के उत्पन्न होते ही माता के स्तनों में दूध आ जाता है। इसीलिए उस महाशक्ति को आद्या बुद्धि और चेतना के रूप में मानना आवश्यक हो जाता है। उक्त उदाहरणों से ही यह भी मानना पड़ता है कि वह महाशक्ति हित-भाव से काम करने वाली अर्थात् प्रेम और कारुण्य से भी युक्त है। इसीलिए हम उसको 'सर्वजगन्माता' भी कह सकते हैं।

उपर्युक्त विषय का ही वर्णन दूसरे शब्दों में नीचे के पद्य में किया गया है—

यस्याः शक्तेः प्रभावेण विश्वमेतद्व्यवस्थितम्।
वर्ततेऽभिन्नमर्यादं तामेवाहं समाश्रये ॥४३॥

जिस शक्ति के प्रभाव से यह सारा विश्व इस प्रकार व्यवस्थित है कि उसमें सब पदार्थों और नियमों की मर्यादा ठीक-ठीक नियत है, मैं उसी का आश्रय लेता हूँ।

[७]

प्रभामयी देवी

"तमेव भान्तमनुभाति सर्वम्" (कठोपनिषद् २।२।१५)

अर्थात्, उसी परमात्मा के प्रकाश से सब विश्व प्रकाशित है।

जगद्धात्री महाशक्ति का प्रभामयी देवी के रूप में वर्णन नीचे के पद्य में किया जाता है—

यासौ प्रभामयी देवी सर्वस्यान्तर्विराजते।
मोहान्धकारखिन्नस्त्वं तस्याः शरणमाप्नुहि ।।४४।।

मोहरूपी अन्धकार से खिन्न होने पर तू उस प्रभामयी देवी की शरण में जा, जो प्रत्येक प्राणी के, विशेषतः मनुष्य के, हृदय में विराजमान है।

व्याख्या

उपनिषदों और आरण्यक ग्रन्थों में "य एवं वेद स एवं भवति" (अर्थात्, जो ऐसी भावना करता है वह ऐसा हो जाता है) प्रायः ऐसे वचन आते हैं। भगवद्गीता में भी, 'मनुष्य पर अपनी भावनाओं का बड़ा प्रभाव पड़ता है' इस सिद्धान्त पर बल दिया गया है। आधुनिक मुहावरे में इसी सिद्धान्त को हम 'मनुष्य पर अपने आदर्शों का गहरा प्रभाव पड़ता है' इन शब्दों में भी कह सकते हैं। सारे मन्त्र-शास्त्र का रहस्य भी इसी सिद्धान्त में है।

इसलिए इसमें तनिक भी संदेह नहीं हो सकता कि मोह-रूपी अन्धकार से खिन्न व्यक्ति यदि सर्वशक्तियों के निधान भगवान् का, उस मूलतत्त्व का, प्रभामयी देवी के रूप में ध्यान और चिन्तन करेगा, तो उसे प्रकाश अवश्य ही मिलेगा। यही प्रभामयी देवी कवियों को स्फूर्त्ति देने वाली भगवती सरस्वती या शारदा हैं।

उपर्युक्त भावना-मूलक सिद्धान्त के आधार पर ही, इस प्रकरण में, परमतत्त्व परमात्मा के कुछ अन्य रूपों का वर्णन किया गया है। उस-उस रूप में ध्यान और चिन्तन को हम निश्चय ही 'सफल प्रयोग' कह सकते हैं।

[८]

स्नेहमयी माता की गोद में

जगद्धात्री महाशक्ति का स्नेहमयी माता के रूप में वर्णन—

यैषा सर्वमयी देवी मातृरूपेण वर्तते।
तस्याः क्रोडं समाश्रित्य वर्त्तेथास्त्वं गतव्यथः ।।४५।।

यह जो सर्वमयी देवी माता के रूप में सर्वत्र विद्यमान है, तू अपनी सारी व्यथाओं को छोड़ कर उसी की गोद में आश्रय लेकर रह।

जैसे बच्चा माता की गोद में जाते ही अपनी सारी व्यथाओं को भूल जाता है, उसी प्रकार मनुष्य को अपनी व्यथाओं को भूल कर 'मातृ-रूप परमात्मा की गोद में मैं बैठा हूँ' ऐसी भावना करनी चाहिए। निस्सन्देह इस भावना से मनुष्य के हृदय को एक अपूर्व सान्त्वना और शान्ति प्राप्त होगी।

संसार-सागर की यात्रा के लिए, अथवा आपत्ति-रूपी नदियों को पार करने के लिए, नौका के रूप में देवी महाशक्ति का वर्णन—

[९]

दैवी नौका

"दैवीं नावम्......आ रुहेमा स्वस्तये" (ऋग्वेद १०।६३।१०)

अर्थात्, हम कल्याण-प्राप्ति के लिए परमात्मा-रूपी नौका पर आरूढ हों।

संसारसागरे यात्रां कर्तुंकामोऽभयेन यः।
परात्मदेवतानौकामाश्रयेत् स प्रयत्नतः ।४६।।

जो मनुष्य निर्भय होकर संसाररूपी सागर की यात्रा करना चाहता है उसको प्रयत्न-पूर्वक परमात्मा-रूपी नौका का सहारा लेना चाहिए।

दैव्या नावोह्यमानोऽहं सुतरामापदापगाः।
असंशयं तरिष्यामि नात्र कार्या विचारणा ।।४७।।

परमात्मा-रूपी नौका से ले जाया जाता हुआ मैं निस्सन्देह आपत्ति-रूपी नदियों को सरलता से पार कर जाऊँगा, इस विषय में सोचने की आवश्यकता नहीं है।

[१०]

महती देवता

हृन्मन्दिर में प्रतिष्ठित देवता के रूप में वर्णन—

महती देवता यैषा हृन्मन्दिर उपस्थिता।
तां ध्यायेच्छ्रद्धयोपेतो य इच्छेच्छ्रेय आत्मनः ।।४८।।

जो मनुष्य अपना कल्याण चाहता है उसे चाहिए कि वह अपने हृदय-रूपी मन्दिर में यह जो महती देवता उपस्थित है उसका श्रद्धा के साथ ध्यान करे।

महती देवता येषा ह्यात्मनोऽभ्यन्तरे स्थिता ।
आत्मानमर्पयेत्तस्यै क्षेमार्थी यो भवेन्नरः ॥४९॥

जो मनुष्य कुशल चाहता है उसे चाहिए कि वह अपने को उस महती देवता के लिए अर्पण कर दे जो अपने भीतर स्थित है ।

[११]

परमतत्त्व की स्तुति

व्याप्य स्थितं त्रिभुवनं परितोऽप्रमेयं
पुण्यं परं परमनिर्वृतिधाम सत्यम् ।
पापापहं त्रिविधतापहरं वरेण्यं
शान्तं शिवं परमतत्त्वमहं नतोऽस्मि ॥५०॥

तीनों लोकों में पूर्णतः व्याप्त, अप्रमेय,
अत्यन्त पवित्र, परम आनन्द के स्थान, सत्यस्वरूप,
पापों को और तीनों प्रकार के दुःखों को दूर करने वाले, वरणीय,
शान्त, शिवस्वरूप परमतत्त्व को मैं नमस्कार करता हूँ ।

यस्यास्ति वाङ्मनसयोर्महिमा न गम्यो
लोकानतीत्य निखिलानपि संस्थितं यत् ।
भूत्वा यतो विलयमेति च यत्र विश्वं
तच्छाश्वतं किमपि तत्त्वमहं नतोऽस्मि ॥५१॥

जिसकी महिमा का पार वाणी और मन नहीं पा सकते,
जो समस्त लोकों को भी अतिक्रान्त करके स्थित है,
जिससे उत्पन्न होकर विश्व उसमें ही विलीन होता है,
उस अनिर्वचनीय शाश्वत तत्त्व को मैं नमस्कार करता हूँ ।

यच्छाश्वतं परमतत्त्वमतीन्द्रियं सल्-
लोकत्रयस्य परिचालनमातनोति ।
आनन्दधाम सततं जगतां प्रतिष्ठां
भक्त्या नतोऽस्मि करुणावरुणालयं तत् ।।५२।।

जो शाश्वत परमतत्त्व अतीन्द्रिय होता हुआ,
तीनों लोकों का परिचालन कर रहा है,
सतत आनन्द के स्थान और लोकों के आधार,
उस करुणा-सागर को मैं भक्ति-पूर्वक नमस्कार करता हूँ ।

[१२]

विश्व-संचालक परमात्म-तत्त्व

सृष्ट्वा जगन्ति निखिलानि पितामहो यो
विष्णुस्तथैव भुवनानि च पालयित्वा ।
मृत्युञ्जयस्तदुपसंहृतिकारणत्वाद्
योऽसौ स नोऽवतु सदा त्रिगुणः समन्तात् ।।५३।।

समस्त लोकों की सृष्टि करने से जो ब्रह्मा है,
लोकों का पालन करने से जो विष्णु है,
उनका संहार करने से जो शिव है,
वह त्रिगुण भगवान् सदा सर्वतः हमारी रक्षा करे !

विश्वं यदस्ति सचराचरमेव विष्टं
कालत्रयेऽपि परिणामदशानभिज्ञम् ।
भास्वन्ति येन निखिलानि जगन्त्यमूनि
तन्नः शिवं वितनुतां परमं हि धाम ।।५४।।

जो समस्त चराचर जगत् में व्याप्त हो रहा है,
जो तीनों कालों में सदा एक ही रूप में रहता है,

जिससे ये सारे जगत् प्रकाशमान हैं,
वह परमधाम हमारे लिए कल्याण का विस्तार करे !

भानुः शशी समुदितो नियमेन, चान्ये
लोका यदीयमनुशासनमाचरन्ति ।
ब्रह्माण्डभाण्डरचनाकुशलैकदेवः
पायात्स नोऽनवरतं दुरितादवद्यात् ॥५५॥

जिनके अनुशासन में सूर्य और चन्द्रमा नियम से उदित होते हैं

और अन्य लोक भी जिनके अनुशासन का अनुसरण करते हैं,

ब्रह्माण्ड-रूपी भाण्ड (=पात्र) की रचना में एकमात्र कुशल वे सर्व-लोककर्ता,

सर्वान्तर्यामी परमेश्वर कुत्सित पाप से सदा हमारी रक्षा करें !

तत्त्वं यदेतदतिशुद्धमचिन्त्यरूपं
शान्तं शिवं सकलविश्वविकासकेन्द्रम् ।
यन्नेति नेति श्रुतिसारवचोभिरेवं
व्याख्यायते किमपि तत्समुपाश्रयेऽहम् ॥५६॥

जो अत्यन्त शुद्ध, अचिन्त्य-रूप, शान्त, शिव-स्वरूप और सकल विश्व के विकास का केन्द्र है, जिसकी श्रुति के विशिष्ट वचन 'नेति नेति' (=यह भी नहीं, यह भी नहीं) कहकर व्याख्या करते हैं, उस अनिर्वचनीय परम-तत्त्व का मैं आश्रय लेता हूँ ।

॥ इति जीवनज्योतिषि तत्त्वमीमांसा नाम द्वादशो रश्मिः ॥

त्रयोदशो रश्मिः

अमृतस्य कला

यश्चायमस्मिन् मानुषे तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषोऽयमेव स योऽयमात्मा । इदममृतमिदं ब्रह्मेद ँ सर्वम् ।

(बृहदारण्यकोपनिषद् २।५।१३)

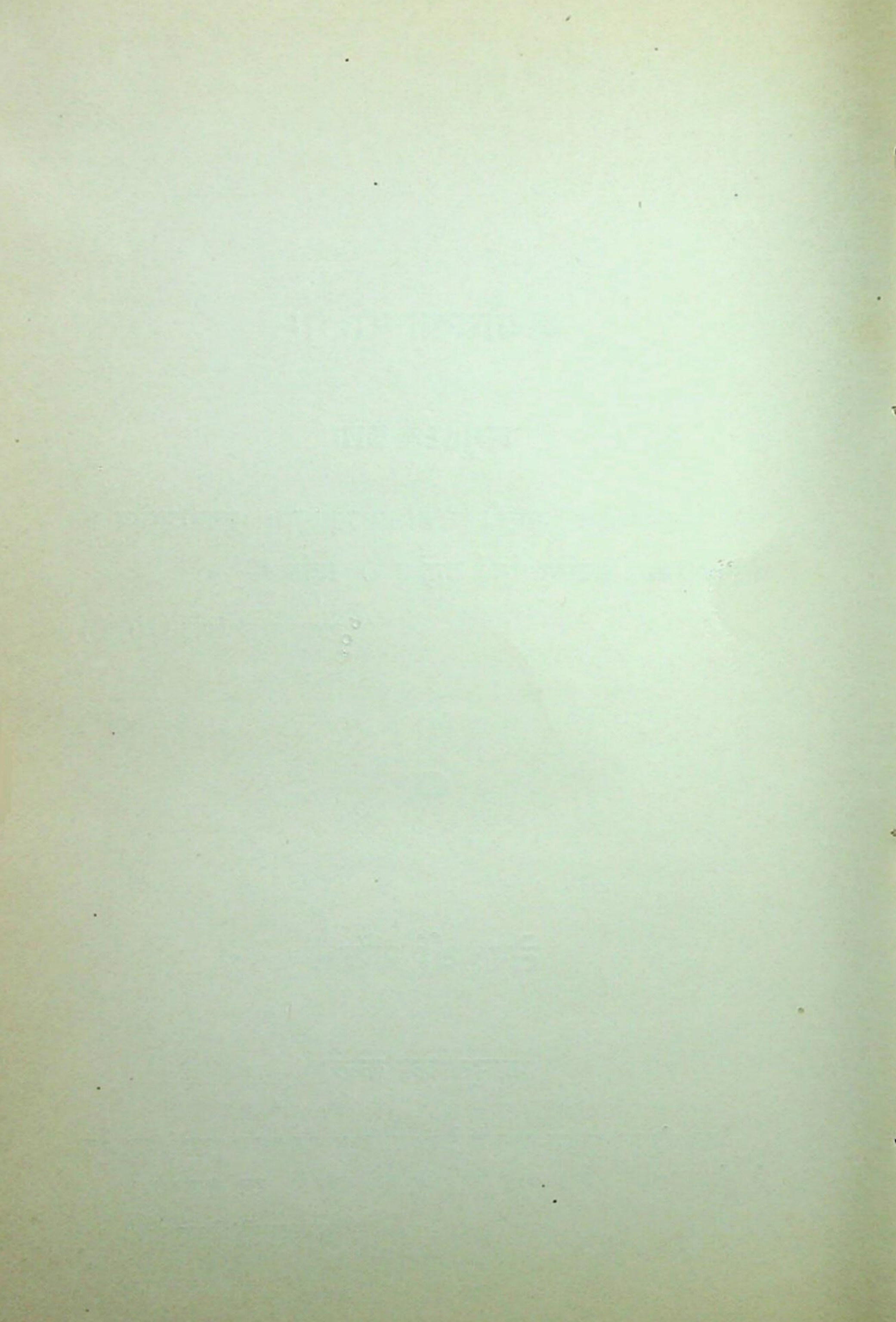


तेरहवीं रश्मि

अमृत की कला

यह जो इस मनुष्य-भाव में तेजोमय तथा अमृतमय पुरुष है वह यही है जो यह आत्मा है। यही अमृत है, यही ब्रह्म है, यही सब कुछ है।

(बृहदारण्यकोपनिषद् २।५।१३)



अमृत की कला

नर उवाच

मूलतत्त्वस्य मीमांसा व्याख्याता येयमद्भुता।
श्रुत्वा तामन्धतमसादज्ञानान्मुच्यते नरः॥ १॥

छायामाश्रित्य घर्मार्तैर्यथा शान्तिरवाप्यते।
तृषार्तैर्वा यथात्यन्तं शीतमम्भोऽभिनन्द्यते॥ २॥

तथैवाज्ञानमूढानां मोहध्वान्तनिर्वर्तिनी।
व्याख्येयं सर्वलोकानामभिनन्द्या भविष्यति॥ ३॥

तथापि कापि जिज्ञासा हृदयोन्माथिनी भृशम्।
आत्मस्वरूपमाश्रित्य भगवञ्जायते मम॥ ४॥

कोऽहं किं च स्वरूपं मे किं लक्ष्यं जीवनस्य वा।
मूलतत्त्वेन संबन्धः कीदृशो विद्यते मम?॥ ५॥

इत्येवं विविधैः प्रश्नैः संशयाकुलमानसः।
वर्तेऽहं तत्समाधानं कृपया कर्तुमर्हसि॥ ६॥

नर ने कहा

मूलतत्त्व की जो यह अद्भुत मीमांसा आपने की है, उसको सुनकर घोर अन्धकार रूप अज्ञान से मनुष्य छूट जाता है।

धूप से आर्त मनुष्य जैसे छाया का आश्रय लेकर शान्ति को प्राप्त कर लेते हैं, अथवा प्यास से आर्त मनुष्य जैसे ठंडे जल का अभिनन्दन करते हैं—

वैसे ही जो अज्ञान से मूढ हैं उनके मोहरूपी अन्धकार को हटाने वाली यह व्याख्या सब लोगों के लिए अभिनन्दनीय होगी ।

तो भी, हे भगवन् ! आत्मा के स्वरूप के सम्बन्ध में हृदय को अत्यन्त व्याकुल कर देने वाली कोई जिज्ञासा मुझे हो रही है ।

मैं कौन हूँ ? मेरा स्वरूप क्या है ? अथवा जीवन का लक्ष्य क्या है ? मूलतत्त्व के साथ मेरा कैसा सम्बन्ध है ?

इस प्रकार विविध प्रश्नों को लेकर मेरा मन संशय से व्याकुल हो रहा है । आप कृपया उनका समाधान कीजिए ।

नारायण उवाच

श्रुत्वैतां जिज्ञासां वत्सात्यन्तं प्रसन्नोऽहम् ।
प्रयते तामपनेतुं जिज्ञासोर्भूमिकां श्रित्वा ॥ ७ ॥
अध्यात्मपद्धतिरियं विज्ञानामभिमता लोके ।
तामाश्रित्य ततोऽहं वक्ष्ये त्वां तत्समाधानम् ॥ ८ ॥

श्री नारायण ने कहा

हे वत्स ! इस जिज्ञासा को सुनकर मैं अत्यन्त प्रसन्न हूँ । एक जिज्ञासु की भूमिका का आश्रय लेकर मैं उस जिज्ञासा को दूर करने का प्रयत्न करता हूँ ।

(व्याकरण-सम्बन्धी) उत्तम पुरुष का आश्रय लेकर चलने वाली यह अध्यात्म-पद्धति[1] लोक में विज्ञ पुरुषों को अभिमत है । इसलिए उसी का आश्रय लेकर मैं तुमसे उपर्युक्त जिज्ञासा का समाधान कहूँगा ।

---

१. 'आध्यात्मिकी वृत्ति' अथवा 'अध्यात्मपद्धति' पर प्रथम रश्मि के ४९ और ५० संख्या के पद्यों के हिन्दी अनुवाद पर पाद-टिप्पणी देखिए ।

[१]

अमृत की दिव्य कला[1]

अमृतस्य कला दिव्या सर्वस्यान्तर्विराजते।
प्रत्यक्षापि बुधानां सा पामराणां न गोचरा ॥९॥

अमृत की दिव्य कला सबके अन्दर विराजती है। ज्ञानी उसका प्रत्यक्ष अनुभव करते हैं, पर अज्ञानी उसको नहीं देख पाते।

तयैव सुखकृत्सर्वं शान्तिदायि प्रतीयते।
तयैव दुःखमध्येऽपि सुखं पश्यति मानवः ॥१०॥

संसार में पदार्थों से मनुष्य को जो सुख और शान्ति प्राप्त होते हैं उसका कारण वही अमृत-कला है। उसी के कारण दुःखों के बीच में भी मनुष्य सुख को देख सकता है।

इसका स्पष्टीकरण अगले तीन पद्यों में किया गया है—

नानासंतापसंतप्ताः कोटिं कष्टस्य वा गताः।
वियुक्ता धनधान्याद्यैर्बन्धुबान्धववर्जिताः ॥११॥
इन्द्रियेणेन्द्रियैर्वापि विकलाश्च, निराकृताः।
आशावन्तस्तथापीह दृश्यन्ते मानवास्तया ॥१२॥

नाना संतापों से संतप्त, घोर कष्टों को प्राप्त, धन-धान्य आदि से वियुक्त, बन्धु-बान्धवों से रहित, एक या अनेक चक्षु आदि इन्द्रियों से हीन अथवा विकृत, तथा अनादर को प्राप्त मनुष्य भी इस संसार में उसी अमृत-कला के कारण आशा से युक्त दिखायी देते हैं।

---

१. तु० "अमृतस्य पूर्णां तामु कलां विचक्षते" (तैत्तिरीय आरण्यक ३।११।५)। दे० इसी रश्मि के मुखपृष्ठ पर बृहदारण्यकोपनिषद् २।५।१३।

दुःखिनोऽप्यानने येयं रेखा हासस्य दृश्यते ।
कदाचित्, कारणं तस्याः सैवामृतकला मता ॥१३॥

दुःखों में ग्रस्त मनुष्य के मुख पर भी जो हास की रेखा कभी-कभी दीख पड़ती है, उसका कारण भी वही अमृत-कला मानी गयी है ।

राज्यादिसंपदं त्यक्त्वा प्रसन्नाः कष्टसन्ततीः ।
स्वीकुर्वन्ति महात्मानो हेतुस्तत्रापि सा कला ॥१४॥

महात्मा लोग राज्यादि की संपत्ति को छोड़ कर प्रसन्नता-पूर्वक कष्ट-सन्ततिओं को जो स्वीकार करते हैं, उसका हेतु भी वही अमृत-कला है ।

यशसाक्रान्तलोकानां शूराणां शौर्यकर्मसु ।
गम्भीरशान्तमूर्त्तौ वा लोकोत्तरमहात्मनाम् ॥१५॥
निर्दोषभावरम्येषु बालानामाननेषु वा ।
मातुर्वात्सल्यभावे वा स्नेहार्द्रेऽपत्यवर्धने ॥१६॥
पत्न्या अकृत्रिमे पुण्ये प्रेम्णि भर्तृकृतेऽथवा ।
विबुधा द्रष्टुमर्हन्ति साक्षात्तामसृतां कलाम् ॥१७॥

मनीषी लोग, यश से लोकों को आक्रान्त करने वाले शूर-वीरों के वीरता के कामों में, अथवा लोकोत्तर महात्माओं की गम्भीर और शान्त मूर्ति में, अथवा निर्दोष-भाव से रमणीय बालकों के मुखों पर, अथवा स्नेह से आर्द्र तथा सन्तान के वर्धन में हेतुभूत माता के वात्सल्य-भाव में, अथवा अपने पति के प्रति पत्नी के स्वाभाविक पवित्र प्रेम में, उस अमृत-कला को साक्षात् देख सकते हैं ।

सा मेऽमृतकला शुभ्रा, साहं सा वस्तुतोऽनघा ।
चराचरस्य लोकस्य प्रकाशं तनुते सदा ॥१८॥

वह मेरी अमृत-कला सब प्रकार की मलिनता से रहित और स्वच्छ है । वह मैं ही हूँ । वह वास्तव में पाप से रहित है, और इस चराचर जगत् को सदा प्रकाशित करती है ।

सुखदुःखे तिरस्कृत्य सदानन्दमयस्थितौ ।
संस्थिता, ज्योतिषां ज्योतिः, सर्वकामदुघा स्मृता ॥१९॥

सुख और दुःख को हटाकर सर्वदा आनन्दमय स्थिति में संस्थित और सूर्य आदि ज्योतियों की भी ज्योति-रूप वह अमृत-कला मनुष्य की समस्त सत्कामनाओं को पूर्ण करनेवाली कही गयी है ।

अमृतस्राविणी सा मे, सततं मार्गदर्शिनी ।
भूयाद्, भयेन निर्मुक्ते पदे संस्थापयेच्च माम् ॥२०॥

सैषा स्थितिः सदा मे स्याज्जाग्रतः स्वपतोऽपि वा ।
समाधिसंस्थितस्याथ कार्यव्यग्रस्य वा सतः ॥२१॥

वह अमृत-कला मेरे ऊपर अमृत का स्रवण करने वाली और साथ ही सदा सन्मार्ग को दिखाने वाली हो, और मुझे भय से रहित स्थिति में संस्थापित करे !

जागते हुए अथवा सोते हुए, समाधि में स्थित होने पर अथवा सांसारिक कार्यों में व्यस्त रहने पर भी मेरी सर्वदा यही मानसिक स्थिति रहे !

तदेवं निर्भयः शान्त आत्मन्येवात्मना स्थितः ।
योगेनान्ते तनुं त्यक्त्वा ब्रह्मनिर्वाणमाप्नुयाम् ॥२२॥

एषाशीराशिषां श्रेष्ठा मम जीवनसङ्गिनी ।
वर्ततेऽप्यनुवर्तेत सर्वदेति मदीप्सितम् ॥२३॥

सो इस प्रकार निर्भय, शान्त, तथा केवल आत्म-भाव में स्थित होकर, जीवन के अन्त में योग-द्वारा शरीर को छोड़कर, मैं ब्रह्म-निर्वाण को प्राप्त करूँ !

जीवन की आकांक्षाओं में यह सर्वोत्कृष्ट आकांक्षा मेरे जीवन की अब तक सगिनी रही हैं; आगे भी यह सदा मेरे साथ रहे, यही मैं चाहता हूं !

[२]

किसी का अपमान न करो

"यदात्मतत्त्वेन तु ब्रह्मतत्त्वं दीपोपमेनेह युक्तः प्रपश्येत् ।"

(श्वेताश्वतरोपनिषद् २।१५)

अर्थात्, जब योगी प्रदीप के समान वर्तमान आत्मतत्त्व से ब्रह्मतत्त्व का साक्षात्कार करता है तभी ... ।

जीवन के सम्बन्ध में आध्यात्मिक समष्टि-दृष्टि से युक्त ब्रह्मविद् मनीषी की ओर से नीचे के पद्य कहे गये हैं—

सर्वेऽमी प्राणिनः साक्षान्मानवास्तु विशेषतः ।
प्रदीपा इव भासन्ते दीपिता ब्रह्मतेजसा ॥२४॥

इधर-उधर घूमने वाले ये समस्त प्राणी, मनुष्य तो विशेष कर, ब्रह्म के तेज से भासित प्रदीपों के समान प्रतीत होते हैं ।

भास्वरं तन्महत्तेजो ब्रह्मणो नः समन्ततः ।
चैतन्यरूपतापन्नं प्राणिमात्रे प्रकाशते ॥२५॥

ब्रह्म का प्रकाश-स्वरूप वह महान् तेज ही चैतन्य रूप में हमारे चारों ओर प्रत्येक प्राणी में प्रकाशित हो रहा हैं ।[1]

अत एव च सर्वेऽपि प्राणिनो गौरवास्पदम् ।
न कश्चिदवमन्तव्य आत्मश्रेयोऽभिकाङ्क्षिणा ॥२६॥

इसीलिए सभी प्राणी हमारे गौरव के पात्र हैं। जो अपना कल्याण चाहता है उसके लिए आवश्यक है कि वह किसी भी प्राणी का अपमान न करे, अर्थात् किसी को तुच्छ न समझे ।

---

१. तु० 'ये पुरुषे ब्रह्म विदुस्ते विदुः परमेष्ठिनम्" (अथर्व० १०।७।१७) । अर्थात्, ब्रह्म को वे ही जानते हैं जो मनुष्य में ब्रह्म को देखते हैं ।

[३]

आत्मा की ब्राह्मी स्थिति

द्वैविध्यमात्मनः प्राहुरात्मज्ञा ये मनीषिणः।
एकोऽहंकारसंमूढः स्वरूपे संस्थितोऽपरः ॥२७॥

आत्मा के तत्त्व को जानने वाले मनीषियों का कहना है कि आत्मा की दो अवस्थायें होती हैं। एक अवस्था में वह अहंकार के कारण अपने को भूला हुआ रहता है, और दूसरी अवस्था में वह स्वरूप में स्थित होता है।

पूर्वः स्वभावतोऽल्पज्ञो मन्दशक्तिश्च दुःखभाक्।
द्वितीयोऽनन्तशक्तीनां केन्द्रमानन्द एव च ॥२८॥

इनमें से पहली अवस्था में रहने वाला स्वभाव से अल्पज्ञ, अल्पशक्ति और दुःखों में ग्रस्त होता है।

दूसरी अवस्था में रहने वाला, अर्थात् स्वरूप में स्थित आत्मा, अनन्त-शक्तियों का केन्द्र और आनन्दरूप ही होता है।

ततोऽहंकारपाशांस्त्वं छित्वा स्वातन्त्र्यमाप्नुहि।
स्वाराज्यमात्मनः स्वास्थ्यं यासौ ब्राह्मी स्थितिर्मता ॥२९॥

इसलिए तुझको चाहिए कि तू आत्मा को बाँधने वाले अहंकार के फाँसों को काट कर स्वतन्त्रता को प्राप्त करे। उसी स्वतन्त्रता को आत्मा का स्वराज्य तथा आत्मा का स्वास्थ्य या स्वरूप-स्थिति समझना चाहिए। इसी को ब्राह्मी स्थिति माना जाता है।

[४]

आनन्द का निर्मल स्रोत

यथा हि सलिलं सद्यो निम्नमेवानुधावति।
वह्नेर्यथा स्वभावेन गतिरूर्ध्वं सदा भवेत् ॥३०॥

एवं स्वभावतः सर्वे जीवाः शाश्वतमव्ययम् ।
आनन्दस्य परं स्रोतो गन्तुकामा न संशयः ॥३१॥

तवैवान्तस्तु तत् स्रोतः सततं वर्ततेऽनघम् ।
भ्रातरेतद्विजानीहि तद्धि ते लक्ष्यमुत्तमम् ॥३२॥

जैसे जल सद्यः नीचे की ओर ही दौड़ता है,
जैसे अग्नि की गति स्वभाव से सदा ऊपर की ओर होती है,
इसी प्रकार सब जीव स्वभाव से शाश्वत तथा अव्यय,
आनन्द के मूल स्रोत की ओर जाना चाहते हैं; इसमें संदेह नहीं है ।
तुम्हारे अन्दर ही वह निर्मल स्रोत सदा वर्तमान है,
भाई ! यह समझ लो । वही तुम्हारा परम लक्ष्य है ।

[५]

उत्कृष्ट रहस्य

अन्तस्ते वर्तते स्रोतः शक्तेः केन्द्रं तथैव च ।
तथ्यमेतद्विजानीहि रहस्यं ह्येतदुत्तमम् ॥३३॥

शक्ति का स्रोत और केन्द्र तेरे ही अन्तर वर्तमान है ।
इसको सत्य समझो । यही उत्कृष्ट रहस्य है ।

[६]

आत्मा का स्वरूप

न्यूनताभावनामूलो दुःखस्यानुभवो यतः ।
तत आत्मा स्वभावेन पूर्णोऽस्तीति श्रुतेर्वचः ॥३४॥

सुखेप्साप्रेरितो मर्त्यो यत्र तत्रानुधावति ।
आनन्दरूप आत्मायमिति तस्माच्छ्रुतेर्वचः ॥३५॥

जरामृत्युभयेनार्ता मानवा दुःखकातराः ।
आत्मामृतस्वभावोऽयमिति तस्माच्छ्रुतेर्वचः ॥३६॥
रागद्वेषमहाव्याधित्रस्ताः प्रायेण मानवाः ।
वस्तुत आत्मनोऽद्वैतमिति तस्माच्छ्रुतेर्वचः ॥३७॥
अवसादेन लोकोऽयं पङ्के गौरिव सीदति ।
प्रसादस्रोत आत्मायमिति तस्माच्छ्रुतेर्वचः ॥३८॥

यतः दुःख के अनुभव के मूल में न्यूनता की भावना है । इसीलिए श्रुति का यह कहना है कि आत्मा स्वभाव से पूर्ण है ।[1]

सुख की इच्छा से प्रेरित होकर मनुष्य जहाँ तहाँ दौड़ता रहता है । इसीलिए श्रुति का यह कहना है कि यह आत्मा आनन्द-स्वरूप है ।[2]

जरा और मृत्यु के भय से आर्त मनुष्य दुःख से कातर हैं । इसीलिए श्रुति का यह कथन है कि यह आत्मा अमृत-स्वभाव है ।[3]

मनुष्य प्रायेण राग-द्वेष की महाव्याधि से त्रस्त हैं । इसीलिए श्रुति का यह वचन है कि वास्तव में आत्मा का स्वरूप अद्वैत है ।[4]

लोक अवसाद से इसी तरह दुःख पाता है जैसे दलदल में गौ । इसीलिए श्रुति का कथन है कि यह आत्मा प्रसाद (=प्रसन्नता) का स्रोत है ।[5]

यतस्तत्तत्समस्याभिरुद्विग्नं सकलं जगत् ।
आत्मानमिह जानीथा जन्मनीति श्रुतेर्वचः ॥३९॥

यतः समस्त जगत् तत्तत् समस्याओं से उद्विग्न है, इसीलिए श्रुति का कथन है कि इसी जन्म में आत्मा (अपने) को तुम जान लो ।[6]

---

१. तु० "पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते" (बृहदारण्यकोपनिषद् ५।१।१)

२. तु० "आनन्द आत्मा ।" (तैत्तिरीयोपनिषद् २।५।१)

३. तु० "अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषोऽन्तरात्मा···तं विद्याच्छुक्रममृतम् ।" (कठोपनिषद् २।३।१७)

४. तु० "यस्मिन्त्सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद्विजानतः ।
तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः ।।" (ईशावास्योपनिषद् ७)

५. तु० "आनन्दरूपममृतं यद्विभाति ।" (मुण्डकोपनिषद् २।२।७)

६. तु० "इह चेदवेदीदथ सत्यमस्ति । न चेदिहावेदीन्महती विनष्टिः ।।" (केनोपनिषद् २।५)

[७]

शान्ति का उपाय

"सर्वंॐ शान्तिः। शान्तिरेव शान्तिः" (यजुर्वेद ३६।१७)

अर्थात्, हमारे लिए सब कुछ शान्ति-दायक हो ! हमारे लिए सर्वत्र सर्वदा शान्ति ही शान्ति हो !

मनुष्य को शान्ति के लिए प्रयत्न करना चाहिए। पर शान्ति का मार्ग अकर्मण्यता में नहीं है, किन्तु अन्तरात्मा के अनुकूल कार्य करने में है—इसका प्रतिपादन नीचे के दो पद्यों में किया गया है—

आयुषः पश्चिमे भाग आत्मनो भूतिमिच्छता।
संत्यज्य व्यग्रतां सर्वां मनःशान्त्यै प्रयत्यताम् ॥४०॥
मनःप्रसादनार्थाय यत्कार्यमुपयुज्यते।
अन्तःसाक्ष्येण संजुष्टं सुधिया तद्विधीयताम् ॥४१॥

जो मनुष्य अपना कल्याण चाहता है उसे जीवन के अन्तिम भाग में सारी व्यग्रता को छोड़कर मन की शान्ति के लिए प्रयत्न करना चाहिए।

बुद्धिमान् मनुष्य को वही काम करना चाहिए जिसकी मन की प्रसन्नता के लिए उपयोगिता हो और जिसमें अन्तरात्मा के साक्ष्य की अनुकूलता हो।

अभिप्राय यह है कि जो आत्मिक शान्ति चाहता है उसे वही काम करना चाहिए जिससे उसके मन में कोई मैल या क्षोभ पैदा न हो, और साथ ही जो उसकी अन्तरात्मा के अनुकूल भी हो।

[८]

जीवन की कृतार्थता

"तद्विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः" (ऋग्वेद १।२२।२०)

अर्थात्, विद्वान् ही जीवन के चरम-लक्ष्य-रूप भगवान् के परम पद को सदा देखते हैं।

जीवनस्य पराध्येऽर्धे संस्थितोऽहं विलोकये।
विरजं शाश्वतं दिव्यं तद्विष्णोः परमं पदम् ॥४२॥

जीवन के उत्तरार्ध या उत्कृष्ट भाग में खड़ा हुआ मैं सर्वत्र ओत-प्रोत भगवान् के उस परम पद को देख रहा हूँ जो परम उज्ज्वल, शाश्वत और दिव्य-स्वरूप है।

अभिप्राय यह है कि जैसे कोई किसी ऊँचे स्थान पर खड़ा होकर पर्वत के उज्ज्वल शिखर को देख सकता है, इसी प्रकार जीवन के अनुभवों से समृद्ध विद्वान् जीवन के अन्तिम भाग में सर्वत्र ओत-प्रोत भगवान् की महिमा को स्पष्ट अनुभव कर सकता है।

भुक्त्वा नानाविधान् भोगान् दृष्ट्वा दृश्यान्यनेकधा।
निरस्तविषयव्रातः परमार्थं विचिन्तये ॥४३॥

नाना प्रकार के सांसारिक भोगों को भोग कर, अनेक प्रकार के दृश्यों को देखकर, अब मैं बाह्य विषयों के आकर्षण को हटाकर परमार्थ अथवा जीवन के वास्तविक लक्ष्य का चिन्तन करता हूँ।

संव्याप्य संस्थितं विश्वमानन्दैकनिकेतनम्।
संपश्यन्ननिशं मन्ये जीवनस्य कृतार्थताम् ॥४४॥

समस्त विश्व में जो ओत-प्रोत हैं और आनन्द के जो एकमात्र निकेतन हैं उन भगवान् को बराबर देखते हुए मैं अब अपने जीवन को कृतकृत्य मानता हूँ।

अतिक्रम्येन्द्रियाध्वानं स्वस्था विश्रान्तचेतसः।
उपास्महेऽनिशं भक्त्या सर्वस्यार्त्तिहरं हरिम् ॥४५॥

इन्द्रियों के मार्ग को समाप्त कर के, स्वस्थ और शान्त-चित्त होकर, अब हम भक्ति-पूर्वक सबके कष्टों को दूर करने वाले भगवान् की बराबर उपासना करते हैं।

अभिप्राय यह है कि जैसे कोई किसी सवारी से देव-दर्शन के लिए जाय और जहाँ तक सवारी जा सकती है वहाँ पहुँच कर सवारी को छोड़ दे और मार्ग-श्रम को दूर कर स्वस्थ होकर देवता की उपासना में लग जाय, इसी प्रकार इन्द्रियरूपी घोड़ों की सहायता से जीवन की सांसारिक यात्रा को समाप्त करके मनुष्य को अन्त में जीवन के परम लक्ष्य रूप भगवान् के भजन और चिन्तन में लग जाना चाहिए।

[९]

मनुष्य-जन्म दुर्लभ है

दुर्लभं मानुषं जन्मामूल्य एकोऽपि तत्क्षणः ।
तथापि काकिणीतुल्यं तद्व्ययं कुर्वते जनाः ॥४६॥

मनुष्य का जन्म दुर्लभ है । उसका एक क्षण भी अमूल्य है । तो भी, बड़ा आश्चर्य है, मनुष्य कौड़ियों के समान उसका व्यय करते हैं !

[१०]

जीवन की महान् परीक्षा

नीचे के पद्यों में जीवन की महान् परीक्षा का साङ्गोपाङ्ग वर्णन किया गया है ।

प्राणप्रयाणकालो यः परीक्षायाः क्षणो महान् ।
तदर्थं यत्नमातिष्ठेद् यावज्जीवं सुधीर्नरः ॥४७॥

प्राणों के प्रयाण का समय महान् परीक्षा का अवसर होता है । बुद्धिमान् मनुष्य को चाहिए कि वह जीवन भर उसके लिए यत्न करे ।

यावन्त्यपि हि कर्माणि बुद्धया कुर्वन्ति मानवाः ।
पाठ्य-पुस्तकरूपाणि तान्येवमवधार्यताम् ॥४८॥

मनुष्य अपने जीवन में बुद्धि-पूर्वक जितने भी काम करते हैं उनको ही उक्त परीक्षा की पाठ्य-पुस्तक समझना चाहिए ।

जीवनस्य परीक्षायामुत्तीर्णानां मनीषिणाम् ।
उत्तरोत्तरमुत्कृष्टप्रगतिर्जायते ध्रुवम् ॥४९॥

विचार-शील मनुष्य ही जीवन की परीक्षा में उत्तीर्ण होते हैं, और इस उत्तीर्णता से निश्चय ही उनकी उत्तरोत्तर उत्कृष्ट प्रगति होती है ।

ततश्च जीवनेऽनास्था प्रमादोऽनवधानता ।
आत्मतत्त्वविदो नैव कदाचिदुपपद्यते ॥५०॥

इसीलिए जो आत्मा के स्वरूप को जानता है वह जीवन के विषय में अनास्था; प्रमाद या असावधानी कभी नहीं कर सकता ।

प्रत्येकं कर्मणश्चिन्ता विवेकेन ततः स्मृता ।
स्वचारित्र्यसमीक्षाया उपयोगस्ततो महान् ॥५१॥

इसीलिए शास्त्रों में कहा गया है कि मनुष्य को जीवन में प्रत्येक कर्म विवेक-पूर्वक सोच-समझकर करना चाहिए। इसीलिए जीवन में अपने चरित्र की समीक्षा अथवा आत्म-परीक्षण का बड़ा भारी उपयोग है ।

प्रकृतेर्नियमा नित्याः साक्ष्यं चैवान्तरात्मनः ।
सतामाचरणं शास्त्रं तत्रैते गुरवः स्मृताः ॥५२॥

जीवन की परीक्षा की तैयारी में निम्नलिखित चार गुरु कहे गये हैं—(१) प्रकृति के स्वाभाविक नित्य नियम, (२) अन्तरात्मा का साक्ष्य, (३) सत्पुरुषों का आचरण, और (४) शास्त्र अथवा सत्साहित्य ।

गृह्णन्नथाचरंस्तेषामुपदेशानतन्द्रितः ।
योगी वै कथ्यते, यस्माद् "योगः कर्मसु कौशलम्[1]" ॥५३॥

उपर्युक्त चार गुरुओं के उपदेशों को तत्परता के साथ जो ग्रहण करता है और तदनुकूल आचरण करता है उसी को वास्तव में योगी कहा गया है, क्योंकि कर्मों के करने में कुशलता को ही योग कहते हैं ।

योगेनैतादृशेनेह ये भवन्त्यात्मदर्शिनः ।
धीरास्त एव कीर्त्यन्ते "योगेनान्ते तनुत्यजः[2]" ॥५४॥

इस प्रकार के कर्म-योग द्वारा जो आत्मा के (या अपने) वास्तविक स्वरूप को जान लेते हैं, ऐसे ही बुद्धिमानों के विषय में कहा जाता है कि वे जीवन के अन्तिम समय खिन्न नहीं होते और प्रसन्नता-पूर्वक योग-द्वारा अपने शरीर को छोड़ देते हैं ।

---

१. तु० "योगः कर्मसु कौशलम्" (भगवद्गीता २।५०) ।
२. तु० "योगेनान्ते तनुत्यजाम्" (रघुवंश १।८) । तथा, "प्रयाणकालेऽपि च मां ते विदुर्युक्तचेतसः" । (भगवद्गीता ७।३०)

तदेतज्जीवनस्याहुर्विज्ञा मुख्यं प्रयोजनम् ।
तल्लाभे तस्य साफल्यमलाभे व्यर्थता श्रुता ॥५५॥

विज्ञ लोग कहते हैं कि जीवन की परीक्षा में उत्तीर्ण होना ही जीवन का मुख्य प्रयोजन है। उस प्रयोजन की सिद्धि में ही जीवन की सफलता, और सिद्धि न होने में ही उसकी व्यर्थता वेदादि शास्त्रों में कही गयी है।

ततः स्वकर्मपरमा अन्तकाले परीक्षिताः ।
प्रसन्नचेतसोऽमूढाः प्रयान्ति परमं पदम् ॥५६॥

इसलिए जो मनुष्य अपने कर्तव्य के पालन में सावधानता के साथ तत्पर रहते हैं वे ही जीवन के अन्तिम समय परीक्षित होकर प्रसन्नचित्त परमपद को प्राप्त होते हैं।

[११]

जीवन का शाश्वत लक्ष्य

यदा सर्वेऽपि संबन्धा जगतोऽस्य लयोन्मुखाः ।
जायन्ते, जायते सन्ध्यासान्निध्यं जीवनस्य ते ॥५७॥

क्रमशः शिथिलावस्था गात्राणामुपचीयते ।
स्वभावतो यदा प्राज्ञो वैराग्यमुपसेवते ॥५८॥

बाह्यमाकर्षणं सर्वं नीरसं प्रतिभासते ।
प्रख्यातिकामना र्यहि मिथ्यादृष्टिः प्रतीयते ॥५९॥

बलादिव यदोन्मेषस्तत्त्वबुद्ध्याः प्रबुध्यते ।
भ्रातस्तदोन्मना मा भूस्तत्त्वचिन्तापरो भव ॥६०॥

नैराश्यं दूरतस्त्यक्त्वा निखिलानर्थकारणम् ।
सर्वेषामपि सत्त्वानां हितचिन्तापरो भव ॥६१॥

'लोकोऽयमेव, न परो' बुद्धिरेषाल्पमेधसाम् ।
तां त्यक्त्वा शाश्वतं लक्ष्यं जीवनस्येति भावय ॥६२॥

अन्ते सफलयात्रायाः सन्तोषं लभते नरः।
तथा जीवनयात्रायाः साफल्ये तोषमाप्नुहि ॥६३॥
यदेतच्छाश्वतं तथ्यं यतः सर्वं प्रवर्तते।
यत्रैव च लयं याति तत् त्वं नित्यं समाश्रय ॥६४॥

जब इस जगत् के सब संबन्ध लयोन्मुख हो जाते हैं, जब तेरे जीवन की संध्या का सान्निध्य (= सामीप्य) आ जाता है,

शरीरावयवों की शिथिल अवस्था क्रमशः बढ़ती जाती है, जब प्राज्ञ व्यक्ति स्वभाव से वैराग्य का सेवन करने लगता है,

जब बाह्य जगत् के सब आकर्षण नीरस प्रतीत होने लगते हैं, जब प्रसिद्धि की कामना मिथ्या-दृष्टि प्रतीत होती है,

जब तात्त्विक बुद्धि का उन्मेष मानो बल-पूर्वक होने लगता है, भाई ! उस समय उन्मनीभाव का आश्रय न लेते हुए तत्त्व-चिन्तन में तत्पर हो जाओ !

निखिल अनर्थों के कारण नैराश्य को दूर से ही छोड़कर, समस्त प्राणियों के हित-चिन्तन में लग जाओ !

इस लोक के अतिरिक्त परलोक नहीं है—अल्पबुद्धि लोगों का ही यह विचार है। उसको छोड़कर, जीवन का शाश्वत लक्ष्य है--ऐसी भावना करो !

सफल यात्रा के अन्त में मनुष्य को संतोष होता है। इसी तरह जीवन-यात्रा की सफलता में संतोष को प्राप्त करो !

वह जो शाश्वत तथ्य है, जिससे सब-कुछ प्रवृत्त होता है और जिसमें विलीन हो जाता है, उसी का तुम नित्य आश्रय लो !

[१२]

परमात्मा की प्रेरणा

"अग्ने नय सुपथा" (यजुर्वेद ४०।१६)।

अर्थात्, प्रकाशमान देव ! हमको ठीक मार्ग से ले चलिए।

इदं श्रेयो न वा श्रेय इत्यान्दोलनदोलितः।
नियन्तुर्जगतां पत्युरालम्बनमहं श्रये ॥६५॥

'यह मार्ग ठीक (=कल्याण-प्रद) है अथवा नहीं ?' इस प्रकार के संघर्ष-रूपी झूले से दोलायमान मैं सर्व-नियन्ता विश्वपति परमात्मा के ही आलम्बन का सहारा लेता हूँ।

अद्य यावज्जगत्यस्मिन् स्वेच्छया जीवनं गतम्।
भविष्येऽभिलषामीशो भूयान्मे मार्गदर्शकः ॥६६॥

इस जगत् में आज तक मेरा जीवन स्वेच्छा से व्यतीत हुआ है। मैं चाहता हूँ कि भविष्य में भगवान् ही मेरे मार्ग-दर्शक हों !

तस्या देव्या महाशक्तेर्हस्त आत्मानमादधे।
ब्रह्माण्डस्तम्बपर्यन्तं यया संचाल्यते जगत् ॥६७॥

मैं अपने को उस महाशक्ति देवी के अर्पण करता हूँ जिसके द्वारा ब्रह्माण्ड से तृण-समूह-पर्यन्त यह सारा जगत् संचालित हो रहा है।

॥ इति जीवनज्योतिषि 'अमृतस्य कला' नाम त्रयोदशो रश्मिः ॥

चतुर्दशो रश्मिः

अध्यात्म-योगः

तं दुर्दर्शं गूढमनुप्रविष्टं गुहाहितं गह्वरेष्ठं पुराणम्।
अध्यात्मयोगाधिगमेन देवं मत्वा धीरो हर्षशोकौ जहाति ।।

(कठोपनिषद् १।२।१२)

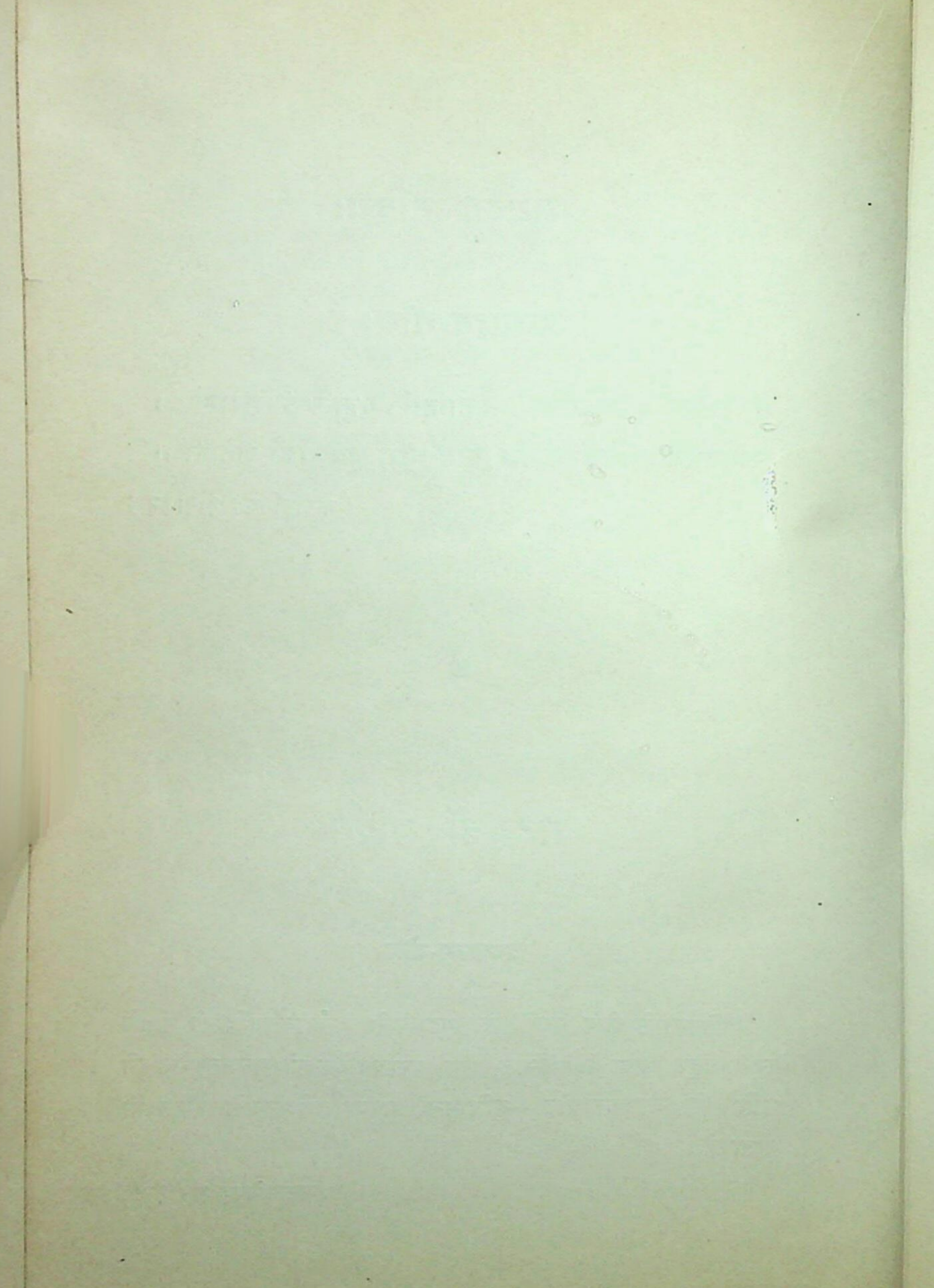


चौदहवीं रश्मि

अध्यात्म-योग

कठिनता से दीख पड़ने वाले, गूढरूप से वर्तमान, बुद्धि की गुहामें स्थित, गहन स्थान में संस्थित, उस पुरातन देव को अध्यात्मयोग की प्राप्ति द्वारा जानकर धीर (बुद्धिमान्) मनुष्य हर्ष-शोक से रहित हो जाता है।

(कठोपनिषद् १।२।१२)



अध्यात्म-योग

नर उवाच

अमृतस्य कला यासौ सर्वस्यान्तर्विराजते।
कूटस्थममृतं यच्च विश्वं व्याप्यावतिष्ठते ॥ १ ॥

साक्षात्त्वमस्य तत्त्वस्य येनोपायेन जायते।
ज्योतिष्मती विशोका च स्थितिर्येनोपलभ्यते ॥ २ ॥

भगवंस्त्वं हि तत्त्वज्ञः प्रश्रयावनतोऽस्म्यहम्।
सविस्तरमुपायं तं ततो मां वक्तुमर्हसि ॥ ३ ॥

नर ने कहा

जो वह अमृत की कला सबके अन्दर विराजमान है; और जो कूटस्थ अमृत तत्त्व समस्त विश्व को व्याप्त करके अवस्थित है;

उस तत्त्व का साक्षात्कार जिस उपाय से होता है; जिसके द्वारा ज्योतिष्मती विशोका स्थिति[1] की उपलब्धि होती है;

भगवन् ! आप उस तत्त्व के ज्ञाता हैं; मैं विनय से अवनत हूँ, इसलिए कृपया उस उपाय को विस्तार के साथ मुझे बतलाइए।

---

१. दे० "विशोका वा ज्योतिष्मती" (योगसूत्र १।३६)

नारायण उवाच

धन्योऽसि वत्स येनेयं जिज्ञासाद्य तवोदिता ।
रहस्यं जीवनस्यास्य नूनं तामवलम्बते ॥ ४ ॥

अध्यात्मयोग इत्याहुस्तमुपायं मनीषिणः ।
मुच्यते हर्षशोकाभ्यां मानवोऽध्यात्मयोगतः ॥ ५ ॥

तं दुर्दर्शं गूढमनुप्रविष्टं देवं मत्वा हर्षशोकौ जहाति ।
अध्यात्मयोगाधिगमेन विद्वान् श्रौतं वचः स्पष्टमिदं ब्रवीति ॥ ६ ॥

तस्यैवाध्यात्मयोगस्य स्वरूपं सप्रयोजनम् ।
सोपपत्ति विधानं च किञ्चिदत्र निगद्यते ॥ ७ ॥

श्री नारायण ने कहा

हे वत्स ! तुम धन्य हो जिससे आज यह जिज्ञासा तुम्हारे मन में उदित हुई है । इस जीवन का रहस्य निश्चय ही उस जिज्ञासा पर अवलम्बित है ।

उस उपाय को मनीषी लोग अध्यात्म-योग कहते हैं । अध्यात्म-योग के द्वारा मनुष्य हर्ष और शोक से मुक्त हो जाता है ।

'विद्वान् अध्यात्म-योग की प्राप्ति से उस देव को जानकर, जिसका दर्शन दुष्कर है और जो गूढ रूप से सर्वत्र व्याप्त हो रहा है, हर्ष और शोक को पार कर जाता है'—श्रुति के वचन[1] ने स्पष्टतया यह बात कही है ।

उसी अध्यात्म-योग का प्रयोजन के सहित स्वरूप और उपपत्ति के साथ विधान संक्षेप में यहाँ कहा जाता है ।

---

१. दे० इस रश्मि के मुखपृष्ठ पर उद्धृत कठोपनिषद् १।२।१२

[१]

आत्मा की गुहा

"यदा पञ्चावतिष्ठन्ते ज्ञानानि मनसा सह।
बुद्धिश्च न विचेष्टते तामाहुः परमां गतिम् ॥"

(कठोपनिषद् २।३।१०)

अर्थात्, जब पाँचों ज्ञानेन्द्रियाँ मन के साथ निश्चल हो जाती हैं, और बुद्धि भी चेष्टा नहीं करती है, उसे (समाधि की) परम अवस्था कहते हैं।

नीचे अध्यात्म-योग की प्राप्ति की ओर जो बढ़ना चाहता है, उसके मन की अवस्था का वर्णन करते हैं—

बुद्धेर्नट्या विलासेभ्य उपराममुपेयुषः।
भावानां नटरूपाणां नाट्येन श्रान्तचेतसः ॥ ८ ॥

सुखदुःखक्षयो यत्र सर्ववृत्तिलयस्तथा।
आनन्दैकरसे तत्र समाधावुत्कता मम ॥ ९ ॥

बुद्धि-रूपी नटी के विलासों से उपरत होकर, तथा नट-रूपी भावों के नाट्य से श्रान्त-चित्त होकर, सुख-दुःख दोनों का जिसमें अभाव है, मन की सारी वृत्तियों की जिसमें समाप्ति हो जाती है, और जिसमें केवल एक आनन्द-रस का प्रवाह रहता है, ऐसी समाधि के लिए मैं उत्सुक हो रहा हूँ।

इतस्ततो निरुद्देशं यथोन्मत्तः प्रधावति।
वृत्तिभिर्नीयमानस्य तथा चित्तस्य मे स्थितिः ॥१०॥

जैसे एक उन्मत्त मनुष्य बिना किसी उद्देश्य के इधर-उधर दौड़ता है, वृत्तियों से इधर-उधर भटकने वाले मेरे मन की वैसी ही स्थिति हो रही है।

निरर्थकं व्ययं दृष्ट्वानन्तस्यापि निधेर्यथा।
श्रेष्ठिनोऽपि स्वकीयस्य चिन्ता समुपजायते ॥११॥
एवं वृत्तिप्रवाहैस्तु क्षीयमाणात्मसंपदः।
ममापि जायते चिन्ता चित्तस्वास्थ्यविनाशिनी ॥१२॥

जैसे एक महाधनी सेठ को भी अपनी अनन्त निधि के निरर्थक व्यय को देखकर चिन्ता हो जाती है, इसी प्रकार अपनी आत्मा की संपत्ति के नाश को देखते हुए मुझे भी चित्त की शान्ति को नष्ट करने वाली चिन्ता हो रही है।

आत्मानमात्मना पश्यन् गुहायामात्मनः स्थितः।
विश्रान्तिमुपगच्छेयमित्यौत्सुक्यमतीव मे ॥१३॥

इसलिए मुझे तीव्र उत्सुकता हो रही है कि मैं आत्मा की गुफा में स्थित होकर केवल अपने को अपने से देखता हुआ विश्रान्ति को प्राप्त करूँ।

[२]

समाधि का स्वरूप

नीचे आत्मा की विशुद्धस्वस्थता रूप समाधि के स्वरूप का सामान्य रूप से वर्णन करते हैं—

निद्रायाश्च समाधेश्च विद्यते महदन्तरम्।
निद्रायां तमउद्रेकाच्चैतन्यमभिभूयते ॥१४॥
समाधावथ चैतन्यं स्वरूपावस्थितं मतम्।
वृत्तीनामुपरोधेन स्वास्थ्यं तन्महदात्मनः ॥१५॥

निद्रा और समाधि में बड़ा अन्तर है। निद्रावस्था में तमोगुण की अत्यधिकता से चैतन्य बहुत कुछ दब जाता है।

समाधि की अवस्था में चित्त-वृत्तियों के उपरोध के कारण चैतन्य अपने स्वरूप में स्थित रहता है। इसी को आत्मा की विशुद्ध स्वस्थता समझना चाहिए।[1]

---

१. तु० "योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः। तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्। वृत्तिसारूप्यमितरत्र" (योगसूत्र १।२-४)।

[३]

आत्मस्वरूप का साक्षात्कार

अध्यात्म-योग के मार्ग के पथिक को क्रमशः अपने स्वरूप का ज्ञान कैसे होता है, इसकी व्याख्या नीचे के पद्यों में की गयी है--

वृत्तयो निस्सरन्त्योऽमूः स्फुलिङ्गा इव वह्नितः ।
आत्मनोऽनारतं शक्तिं विक्षिपन्ति समन्ततः ॥१६॥
तासां जाते निरोधे तु क्रमशोऽध्यात्मचेतसः ।
आत्मनः स्वं महत्तेजः स्थिररूपेण भासते ॥१७॥

अग्नि से निकलती हुई चिनगारियों के समान, आत्मा से निकलती हुई वृत्तियाँ उसकी शक्ति को सब ओर बखेरती रहती हैं ।

जिस मनुष्य का चित्त आत्मा की ओर झुक चुका है, उसकी वृत्तियों के क्रमशः निरुद्ध हो जाने पर आत्मा का अपना महान् तेजस्वी स्वरूप स्थिर रूप से भासित होने लगता है ।

[४]

प्रतिदिन शान्ति का अनुभव

योगाभ्यास से मनुष्य प्रतिदिन शान्ति का अनुभव कर सकता है, यह नीचे के पद्यों में बतलाया गया है--

देशदेशान्तरं गत्वा दृष्ट्वा दृश्यान्यनेकधा ।
निजनीडं समायाति विश्रान्त्यै विहगो यथा ॥१८॥
लोकयात्राप्रवृत्तोऽपि कामं कार्यवशात्तथा ।
आत्मनोऽन्तः प्रविष्टस्त्वं प्रत्यहं शान्तिमाप्नुहि ॥१९॥

जैसे पक्षी प्रातःकाल के अनन्तर देश-देशान्तरों में जाकर और अनेक प्रकार के दृश्यों को देखकर विश्राम के लिए सायंकाल अपने घोंसले में आ जाता है; इसी प्रकार अयि मानव ! भले ही तुझे विशेष कार्य से सांसारिक जीवन में प्रवृत्त होना पड़े, तो भी तू प्रतिदिन अपने अन्दर प्रविष्ट होकर, अर्थात् एकाग्र-चित्त होकर, आध्यात्मिक साधना द्वारा शान्ति का अनुभव कर सकता है ।

[५]

वास्तविक लाभ और हानि

नित्यं प्रातः समुत्थाय नरश्चरितमात्मनः ।
जीवनप्रगतिं चैव शान्तचित्तो विभावयेत् ॥२०॥
लाभाकाङ्क्षी जनः सर्वो वर्तते नात्र संशयः ।
दृश्यते हानिहानाय यत्नशीलस्तथैव सः ॥२१॥
एवं को वस्तुतो लाभो हानिर्वा विद्यते मम ।
इत्येतत्प्रथमं सर्वैश् चिन्तनीयं प्रयत्नतः ॥२२॥
लाभहान्योः स्वरूपं ये जानते ते मनीषिणः ।
मन्दा ये तदविज्ञाय वर्तन्ते कष्टसन्ततौ ॥२३।

मनुष्य को चाहिए कि वह नित्य प्रातः उठकर शान्तचित्त होकर अपने चरित तथा अपने जीवन की प्रगति पर विचार करे ।

इसमें संदेह नहीं कि संसार में सब कोई लाभ का इच्छुक है, और उसे कोई हानि न हो जाय इसके लिए यत्नशील दिखाई देता है ।

इस प्रकार वास्तव में मेरा क्या लाभ और क्या हानि है ?—सबको प्रयत्न-पूर्वक इसी बात की चिन्ता करनी चाहिए ।

मनीषी वे ही हैं जो (अपने वास्तविक) लाभ और हानि के स्वरूप को जानते हैं । जो मन्द अथवा जड-बुद्धि हैं वे अपने हानि-लाभ को न जानकर कष्टों की परम्परा में पड़े रहते हैं ।

[६]

अन्धकार के उस पार

"तमसो मा ज्योतिर्गमय" (बृहदारण्यकोपनिषद् १।३।२८)

अर्थात्, भगवन् ! मुझे अन्धकार से प्रकाश की ओर ले चलिए !

अध्यात्म-मार्ग में प्रवृत्त मनुष्य की ईश्वर के प्रति स्वाभाविक प्रार्थना का वर्णन नीचे के पद्यों में किया गया है—

प्रार्थये तमहं देवं लोकानां प्रेरणाप्रदम् ।
दुरितं दूरतो गच्छेच्छश्वच्छान्तिरुपैतु माम् ॥२४॥
तेजस्तिमिरयोर्द्वन्द्वमनिशं जीवने स्थितम् ।
तत एव समुद्विग्नो मानवः खिन्नमानसः ॥२५॥
एतदेव महद् दुःखं प्रश्न एष महांस्तथा ।
कथमस्य परं पारं यायामिति कदर्थितः ॥२६॥
प्रार्थये परमात्मानं श्रद्धाविश्वासतत्परः ।
तमसोऽस्य परं पारं ज्योतिर्गमय मामिति ॥२७॥

लोक-लोकान्तरों के प्रेरक उस परम देव से मैं प्रार्थना करता हूँ कि मुझसे पाप दूर चला जावे और शान्ति सदा मुझे प्राप्त हो !

प्रकाश और अन्धकार का द्वन्द्व जीवन में निरन्तर वर्तमान रहता है । उसी से उद्विग्न होकर मनुष्य खिन्न-मनस्क रहता है ।

यही बड़ा भारी दुःख है, यही बड़ा प्रश्न है ।

उक्त स्थिति के परले पार मैं कैसे पहुँच सकता हूँ ? इस प्रकार दुःख से आतुर हुआ मैं श्रद्धा और विश्वास में तत्पर होकर परमात्मा से प्रार्थना करता हूँ कि इस अज्ञान-अन्धकार के परले पार जो प्रकाश है उसे आप मुझे प्राप्त कराइए !

[७]

ध्यानावस्था का वर्णन

प्रकाशात्सहसा कश्चिदन्धकारं गतो यथा ।
विस्पष्टं नैव गृह्णाति पदार्थान्नात्र संशयः ॥२८॥

क्षणं दृष्टेर्निरोधश्चेत्प्रथमं क्रियते तदा ।
पदार्था अन्धकारेऽपि यान्ति विस्पष्टतां स्वतः ।।२६।।

एवमेव बहिर्वृत्तौ चित्तमुन्मुखतां गतम् ।
कर्तुमध्यात्मसंलग्नं सहसा नैव शक्यते ।।३०।।

तस्माद् ध्यानोन्मुखो नित्यं तावन्निर्विषयं मनः ।
कृत्वा सर्वप्रयत्नेन ततो ध्यानरतो भवेत् ।।३१।।

तस्यां स्थितौ स्थितस्यैव यतमानस्य योगिनः ।
अध्यात्मं भान्ति ते भावाः स्पष्टं दिव्यरसाश्रयाः ।।३२।।

जैसे कोई व्यक्ति प्रकाश से सहसा अँधेरे में जाने पर, निःसन्देह पदार्थों को स्पष्टतया नहीं देख पाता है––

पर क्षण भर के लिए दृष्टि का यदि प्रथम निरोध कर लिया जाता है तो अन्धकार में भी पदार्थ विस्पष्ट हो जाते हैं ।

इसी प्रकार बाह्य वृत्ति में उन्मुखता को प्राप्त चित्त सहसा अध्यात्म में संलग्न नहीं किया जा सकता है ।

इसलिए जो व्यक्ति ध्यान करना चाहता है उस पूरे प्रयत्न से पहले अपने मन को निर्विषय करके तब ध्यान में रत होना चाहिए ।

उस स्थिति में स्थित हो जाने पर ही योग-मार्ग में यत्नशील योगी को दिव्य रसों से युक्त पदार्थों का अध्यात्म दृष्टि से स्पष्ट भान होता है ।

अध्यात्म-योग के मार्ग में जो विघ्न-बाधाएँ अथवा चित्त की अशान्ति उपस्थित होती है उनकी निवृत्ति के उपायों[1] का वर्णन नीचे किया गया है––

---

१. देखिए––"ततः प्रत्यक्चेतनाधिगमोऽप्यन्तरायाभावश्च ।", "तत्प्रतिषेधार्थमेकतत्त्वाभ्यासः ।", "विशोका वा ज्योतिष्मती ।", "निर्विचारवैशारद्येऽध्यात्मप्रसादः ।", "ऋतम्भरा तत्र प्रज्ञा ।"
(योगसूत्र १।२६, ३२, ३६, ४७, ४८)

[८]

आत्मा का शुभ्र रूप

मोहान्धकारसंक्षुब्धा चित्तवृत्तिर्यदा भवेत् ।
रूपं तदात्मनः शुभ्रं तन्निवृत्त्यै समाश्रयेत् ॥३३॥

जब चित्त की वृत्ति मोह के अन्धकार से संक्षुब्ध हो, उस समय मनुष्य को उसकी निवृत्ति के लिए आत्मा के शुभ्र अथवा विशुद्ध निर्मल स्वरूप का आश्रय लेना चाहिए ।

[९]

कामकामी को शान्ति कहाँ ?

स्वल्पेऽपि कारणे हर्षमुद्वेगं मोहमेव वा ।
भजमानो विमूढात्मा कामकामी न शान्तिभाक् ॥३४॥

विषयों की कामनाओं से ग्रस्त मनुष्य, जो अपने वास्तविक स्वरूप को नहीं जानता, थोड़े-से कारण से भी हर्ष, उद्वेग अथवा मोह को प्राप्त हो जाता है और इसी कारण उसको शान्ति नहीं प्राप्त होती ।

तरङ्गैरुह्यमानस्य विवशस्य कथा यथा ।
तथा भावतरङ्गौघैर्विक्षिप्तानां कथा नृणाम् ॥३५॥

किसी बड़ी नदी की जोरदार तरङ्गों में विवश होकर बहने वाले मनुष्य की जैसी दयनीय दशा होती है, वैसी ही दशा उन लोगों की होती है जो अपने स्वरूप में स्थित न रह सकने के कारण भावरूपी तरङ्गों के प्रवाहों से इधर उधर फेंके जाते हैं ।

ये पुनर्वशिनो धीराः स्वरूपे समवस्थिताः ।
साक्षिरूपेण भावानां त ईक्षन्ते गमागमौ ॥३६॥

परन्तु जो धीर मनुष्य स्वरूप में स्थित रहते हुए अपनी वृत्तियों को अपने वश में रखते हैं, वे भावों के आने और जाने को (अर्थात् उनके आविर्भाव और तिरोभाव को) एक साक्षी के समान ही तटस्थ भाव से देखते हैं, अर्थात् उनके कारण हर्ष, उद्वेग और मोह से प्रभावित नहीं होते ।

तरङ्गिणीस्तरीतुं यः कलां जानाति तत्त्वतः।
क्रीडन्निवाभयः शान्तो नद्याः पारमुपैति सः ॥३७॥

जो मनुष्य नदियों के तैरने की कला से वस्तुतः परिचित है वह किसी भी नदी को निर्भय तथा बिना घबड़ाहट के, मानो खेलता हुआ, पार कर जाता है।

[१०]

ब्रह्म-प्राप्ति का द्वार

ब्रह्म-ज्ञान का एक-मात्र साधन निर्मल, सात्त्विक और प्रसन्न चित्त ही है। इसी का प्रतिपादन नीचे के दो पद्यों में किया गया है—

विरजं वितमस्कं च प्रसन्नं यद्धि मानसम्।
तदेव वस्तुतो द्वारं ब्रह्मकोशस्य दृष्टये ॥३८॥

रजोगुण और तमोगुण के विकारों से रहित और प्रसाद-गुण से युक्त जो मन है, वही वास्तव में ब्रह्म-रूपी कोश को देखने का द्वार है। यही नहीं, अपि तु—

विशुद्धसच्चिदानन्दरूपं यद् ब्रह्मणो मतम्।
प्रसन्नं निर्मलं चित्तं प्रमाणं तत्र केवलम् ॥३९॥

यह जो माना जाता है कि विशुद्ध सत्, चित् और आनन्द ही ब्रह्म का रूप है, इसको सिद्ध करने के लिए प्रसन्न और निर्मल चित्त ही एकमात्र प्रमाण है। अर्थात् ऐसे चित्त के बिना ब्रह्म के स्वरूप को कोई समझ ही नहीं सकता।[1]

---

१. तु० "नैवासौ चक्षुषा ग्राह्यो न च शिष्टैरपीन्द्रियैः।
मनसा तु प्रसन्नेन गृह्यते सूक्ष्मदर्शिभिः॥"

[११]

मानस यज्ञ

मानस-यज्ञ का बड़ा हृदयग्राही वर्णन नीचे के पद्यों में दिया जाता है—

श्रद्धावेदिमुपाश्रित्य प्रत्यहं नियतात्मना ।
ओंकारधुक्षणेनैव प्रज्ञानाग्निः समिध्यताम् ॥४०॥

श्रद्धा रूपी वेदि का आश्रय लेकर प्रतिदिन संयतात्मा मनुष्य को ओंकार के धुक्षण (=धौंकना) से प्रज्ञान की अग्नि को प्रदीप्त करना चाहिए ।

समिद्धेऽग्नौ ततो मन्त्रैः शब्दातीतैर्मनोमयैः ।
पापौघो भस्मतां नेयो योगयुक्तेन चेतसा ॥४१॥

प्रज्ञान-रूपी अग्नि के प्रदीप्त हो जाने पर योगयुक्त चित्त से, शब्दरहित केवल मनोमय (अर्थात् विचार-रूपी) मन्त्रों द्वारा, (समिधाओं आदि के स्थानीय) पापों के समूह को भस्म करना चाहिए ।

तस्याग्नेर्दर्पणेनैव रूपं तद् यत्परात्मनः ।
दर्शं दर्शं सदानन्दस्रोतसि स्नानमाचरेत् ॥४२॥

साथ ही उस प्रज्ञान-रूपी अग्नि को दर्पण बनाकर उसमें अन्तरात्मा (या परमात्मा) के रूप को बार-बार देखकर सदा बहने वाला जो आनन्द का स्रोत है उसमें स्नान करे (अर्थात् मग्न हो जावे) ।

वस्तुतोऽवभृथस्नानमेतदाहुर्मनीषिणः ।
स एष मानसो यज्ञ-श्रेष्ठोऽनन्तफलः स्मृतः ॥४३॥

मनीषी इसी स्नान को वास्तविक अवभृथस्नान (=यज्ञान्त-स्नान) कहते हैं । सो यह मानस-यज्ञ सब यज्ञों में श्रेष्ठ और अनन्त फल को देनेवाला कहा गया है ।

व्याख्या

इस प्रकरण में प्रसिद्ध याज्ञिक प्रक्रिया के आश्रय से मानस-यज्ञ (अथवा भावना-यज्ञ) के स्वरूप और महत्त्व को समझाने का यत्न किया गया है ।

मानस यज्ञ में श्रद्धा की वेदि पर ओंकार के धुक्षण से प्रज्ञान की अग्नि को प्रदीप्त किया जाता है ।

प्रज्ञानाग्नि में भावनामय मन्त्रों से एकाग्र-चित्त साधक अपने पापों की आहुति देकर उनको भस्मसात् करता है ।

साथ ही, प्रज्ञानाग्नि से वह दर्पण का काम भी इस अर्थ में लेता है कि उसमें अन्तरात्मा के स्वरूप को बराबर देखता है और इससे जो आनन्द-स्रोत बहता है उसमें मग्न होकर मानो स्नान भी करता है।

इससे याज्ञिक-अग्नि की अपेक्षा प्रज्ञानाग्नि की विशेषता स्पष्ट है।

यज्ञान्त में स्नान की विधि है। मानस-यज्ञ में भी आनन्द-स्रोत में स्नान ऊपर बतलाया है।

दूसरे यज्ञों का फल सान्त होता है। परन्तु मानस-यज्ञ का फल अनन्त होता है, जिसको अमृतत्व कहते हैं। इसी लिए मानस-यज्ञ सब यज्ञों में श्रेष्ठ कहा गया है।

———

ऊपर ओंकार का उल्लेख आया है। अतः नीचे ओंकार की महिमा का वर्णन प्रस्तुत किया जाता है—

[१२]

ओंकार की महिमा

शास्त्रों में ओंकार के अद्भुत माहात्म्य का वर्णन किया गया है, उस माहात्म्य को अतिशयोक्ति न समझना चाहिए। उसका आधार, निश्चय ही, ऋषि-मुनियों का अपना अनुभव था। उस माहात्म्य को पढ़कर यही मानना पड़ेगा कि एक सच्चे श्रद्धालु के लिए ओंकार ऐसा चिन्तामणि है जिसके द्वारा मनुष्य सब कुछ प्राप्त कर सकता है—"एतद्ध्येवाक्षरं ज्ञात्वा यो यदिच्छति तस्य तत्" (कठोपनिषद् १।२।१६), अर्थात्, ओंकार को जानकर कोई भी जिस पदार्थ को वह चाहता है उसको पा सकता है।

छान्दोग्य-उपनिषद्, माण्डूक्य-उपनिषद्, कठ-उपनिषद्, श्वेताश्वतर-उपनिषद्, भगवद्गीता, मनुस्मृति आदि में अनेकानेक स्थलों में ओंकार का वर्णन है। उससे स्पष्ट है कि ओंकार ब्रह्म-प्राप्ति का एक अद्वितीय साधन है।

पातञ्जल-योगसूत्रों में कहा गया है कि परमेश्वर का मुख्य वाचक शब्द ओंकार ही है और ओंकार के जप और अर्थ के चिन्तन से अध्यात्म-मार्ग पर चलने वाला सरलता से एकाग्रता तथा अन्तर्-मुखता को प्राप्त कर सकता है और उसके मार्गमें आने वाले सब प्रकार के विघ्न स्वयं नष्ट हो जाते हैं (दे० "तस्य वाचकः प्रणवः। तज्जपस्तदर्थभावनम्। ततः प्रत्यक्चेतनाधिगमोऽप्यन्तरायाभावश्च।" योगसूत्र १।२७-२९)।

इसी ओंकार का एक आकर्षक, साथ ही वास्तविक वर्णन, माहात्म्य के रूप में, हम नीचे देते हैं। निश्चय ही जिज्ञासु लोगों को वह अत्यन्त प्रिय लगेगा। साथ ही हम आशा करते हैं कि पाठक इसको, कविता के रूप में नहीं, किन्तु आध्यात्मिक भावना के रूप में ही पढ़ेंगे और प्रत्येक विचार-धारा को अपने मन में सजीव देखने का यत्न करेंगे।

१. (ओंकार का दोला के संगीत रूप में वर्णन)

प्रेमकारुण्ययोर्धाम तत्त्वं विश्वनियामकम्।
यत्, तेन निर्मितामेतां तेनैवान्दोलितां तथा ॥४४॥

श्वासप्रश्वासयोर्दोलामारूढो मोदनिर्भरम्।
गायाम्योंकारसंगीतं मधुरं मधुराक्षरम् ॥४५॥

प्रेम और कारुण्य के स्थान तथा सारे विश्व के नियन्ता भगवान् ने श्वास और प्रश्वास की दो डोरियों वाली एक दोला (झूला) मेरे लिये बनायी है और स्वयं ही उस दोला को आन्दोलित कर रहे हैं! उन्हीं के द्वारा मैं उस दोला में बैठा हुआ आनन्द-विभोर होकर मीठे स्वर में मधुराक्षर ओंकार-रूपी संगीत को गा रहा हूँ। ठीक उसी तरह, जैसे कोई बालक अपने पिता द्वारा झूले में बिठाया और झुलाया जाकर आनन्द में मग्न होकर गीत गाता है।

२. (माता को बुलाने के लिए बच्चे के आह्वान के रूप में वर्णन)

यासौ सर्वजगन्माता सर्वदेवनमस्कृता।
ऋषिभिर्मुनिभिर्गीता सर्वशास्त्रोपवर्णिता ॥४६॥

नानासंतापसंत्रस्तस् तस्या आह्वानमुत्तमम् ।
ओंकारसाश्रये नित्यं भक्तिप्रवणमानसः ।।४७।।

समस्त देवताओं से नमस्कृत, ऋषियों और मुनियों से गायी-गयी, तथा सब शास्त्रों से वर्णन की हुई जो सारे जगत् की माता है, ओंकार उसके आह्वान का, अपनी ओर आकृष्ट करने का, उत्कृष्ट साधन है। अनेकानेक सन्तापों से त्रस्त होकर मैं भक्ति-प्रवण होता हुआ सर्वदा उसी ओंकार का आश्रय लेता हूँ।

अभिप्राय यह है कि डरे हुए बच्चे की तरह मैं भी नाना सन्तापों से डरा हुआ ओंकार द्वारा ही विश्व की माता को बुलाना चाहता हूँ। उनके बुलाने के लिए यही सर्वोत्तम आह्वान है।

३. (भगवत्पद की प्राप्ति के लिए सोपान के रूप मे वर्णन)

योगिनामपि दुर्गम्यं भक्तानामपि दुर्लभम् ।
ज्ञानिनामपि दुश्चिन्त्यं जगतः प्रभवाप्ययम् ।।४८।।
कूटस्थं शाश्वतं दिव्यं विष्णोर्यत् परमं पदम् ।
ओमित्युद्गीथिनः प्राहुस्तस्य सोपानमद्भुतम् ।।४९।।

ओम् का गान करने वाले आचार्यों का कहना है कि ओंकार ही उस कूटस्थ, शाश्वत और दिव्य भगवत्पद की प्राप्ति के लिए एक अद्भुत सीढ़ी है, जो योगियों के लिए भी दुर्गम्य है, भक्तों के लिए भी दुर्लभ है, ज्ञानियों के लिए भी दुश्चिन्त्य है, जहाँ से जगत् की उत्पत्ति होती है और जिसमें उसका प्रलय होता है।

४ (आत्मरक्षार्थं कवच के रूप में वर्णन)

आन्तराणामरातीनां विजयव्रतधारिणाम् ।
भवबन्धविनाशार्थं मुनीनां धर्मचारिणाम् ।।५०।।

ओंकारं परमं प्राहुराश्रयं तद्विदो बुधाः।
तमेनं सुदृढं मन्ये "ब्रह्म वर्म ममान्तरम्" ॥५१॥

काम, क्रोध, मद, मत्सर आदि आभ्यन्तर शत्रुओं को विजय करने का व्रत लेने वाले, और भव-बन्ध अर्थात् सांसारिक जीवन की त्रुटियों और अपूर्णताओं की निवृत्ति के लिए धर्माचरण में रत मुनियों का ओंकार ही एकमात्र उत्कृष्ट सहारा होता है, ओंकार के तत्त्व को जानने वालों का ऐसा मत है। उसी ओंकार को मैं अपना ब्रह्म-रूप में सुदृढ़ आध्यात्मिक कवच समझता हूँ।

"ब्रह्म वर्म ममान्तरम्" यह अथर्ववेद (१।१९।४) का मन्त्र है। उसी की ओंकार-परक व्याख्या यहाँ की गयी है। अभिप्राय यह है कि ईश्वर-भक्त के लिए ओंकार ही एक सुदृढ कवच का काम करता है।

५-९. (सुगन्धित पुष्प, परम ज्योतिः, अमृत, परमौषध तथा ब्रह्मास्त्र के रूप में वर्णन)

ज्ञानविज्ञानवृक्षस्य सुगन्धि कुसुमं शुभम्।
ज्योतिषामपि यज्ज्योतिरात्मनो भोज्यममृतम् ॥५२॥

नानासन्तापतप्तानां यच्चाप्यौषधमुत्तमम्।
पापौघं भस्मसात् कर्तुं ब्रह्मास्त्रं ब्रह्मवादिनाम् ॥५३॥

ओंकार ज्ञानविज्ञान-रूपी वृक्ष का सुन्दर सुगन्धित पुष्प है। अर्थात्, जैसे किसी फूलने वाले पौदे का उत्कृष्ट सौन्दर्यमय सारांश पुष्प-रूप में विकसित होता है, इसी तरह समस्त ज्ञान और विज्ञान का अन्तिम निचोड़ या परम ध्येय या पर्यवसान ओंकार है।

ओंकार समस्त प्रकाशमय पदार्थों का भी प्रकाश है।

ओंकार ही वास्तव में आत्मा का अमृतमय भोज्य है। अभिप्राय यह है कि मनुष्यमात्र में अपने को पूर्णता की ओर ले जाने की जो भूख है उसकी सदा के लिए तृप्ति ओम् से ही हो सकती है।

नानाविध सन्तापों से संतप्त प्राणियों के लिए ओंकार ही सर्वोत्तम अचूक औषध है।

मनुष्य के अन्दर जो पापों की राशि घर किये हुए है उसको आमूल भस्मसात् करने के लिए ओंकार को ही ब्रह्मज्ञानी लोग अत्यन्त शक्तिशाली ब्रह्मास्त्र समझते हैं।

१०. (सर्व-देवात्मक सर्वत्र व्यापक मूल-तत्त्व के रूप में वर्णन)

सर्वदेवात्मकं शान्तं तत्त्वमेकरसायनम् ।
अथवा बहुनोक्तेन कोऽर्थं, एवं विचिन्त्यताम् ॥५४॥
त्रिलोक्यामपि यत्किञ्चित् तदादाय समन्ततः ।
तिष्ठन्तं प्रणवं ध्यायन् ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥५५॥

समस्त देव जिसके अंग हैं ऐसा, सदा एक स्वरूप में रहने वाला (अथवा अद्वितीय रसायन-भूत), शान्त तत्त्व ओंकार ही है।

अथवा अधिक कहने से क्या लाभ है; यही समझना चाहिए कि तीनों लोकों में जो कुछ भी विद्यमान है उस सब को अपने में लेकर जो स्थित है, उसी ओंकार का ध्यान करता हुआ मनुष्य ब्रह्मभाव को प्राप्त कर सकता है।

(उपर्युक्त ओंकार-माहात्म्य के माहात्म्य का वर्णन)

एतदोंकारमाहात्म्यं प्रातः प्रातः पठन्नरः ।
सावधानेन मनसा शान्त एकान्तसंस्थितः ॥५६॥
गुरूपदिष्टमार्गेण प्रव्रजन् ब्रह्मणोऽध्वनि ।
प्रणवस्य जपेनार्थभावनेन च नित्यशः ॥५७॥
उत्तरोत्तरमुत्कृष्टं स्थानं प्राप्य, परं पदम् ।
अक्षय्यममृतं दिव्यं लब्ध्वा तिष्ठत्यनामयम् ॥५८॥

उपर्युक्त ओंकार-माहात्म्य का एकान्त में बैठकर प्रत्येक दिन प्रातःकाल शान्तचित्त और सावधान होकर जो मनुष्य पाठ करता है, वह गुरु द्वारा बतलाये हुए मार्ग से ब्रह्मप्राप्ति की ओर चलता हुआ नित्य अर्थविचार के साथ ओंकार के जप से क्रमशः आध्यात्मिक उन्नति करता हुआ निश्चय ही अन्त में अक्षय्य, अमृत, अनामय (सब पीडाओं से रहित) आनन्दमय परमपद को प्राप्त कर सकता है।

(उपसंहार)

स एष सरलो मार्गः सर्वकण्टकवर्जितः।
अत एव सदा सद्भिः सम्प्रदायैः समर्हितः ॥५९॥

ओंकार-उपासना का उपरि-निर्दिष्ट मार्ग सीधा-सादा है। इसमें किसी प्रकार के कण्टकों या विघ्न-बाधाओं या जटिलताओं का डर नहीं है। इसी लिए समस्त सत् सम्प्रदाय इस मार्ग का आदर करते हैं।

कहने की आवश्यकता नहीं है कि वैदिक मार्ग की तरह जैन बौद्ध आदि सम्प्रदाय भी ओंकार के माहात्म्य को मानते हैं।

[१३]

योगसाधन का महत्त्व

जन्मजन्मान्तरीयस्य कर्मव्रातस्य संक्षये।
लोकलोकान्तरीयस्य वस्तुनस्तत्त्वनिर्णये ॥६०॥

या सत्या या परा शान्तिस्तस्याः संपादने महत्।
कारणं योग आम्नातः सोऽयं मे निधिरव्ययः ॥६१॥

जन्म-जन्मान्तर के संचित सकाम कर्मकलाप के नाश करने में,
लोक-लोकान्तर के पदार्थों के स्वरूप के निर्णय करने में, तथा
जो सत्य तथा उत्कृष्ट शान्ति है उसकी प्राप्ति में,
योग-साधन को विशिष्ट कारण कहा गया है—
वह मेरी अक्षय निधि है !

॥ इति जीवनज्योतिषि अध्यात्मयोगो नाम चतुर्दशो रश्मिः ॥

पञ्चदशो रश्मिः

व्यष्टिसमष्टि-सामञ्जस्यम्

यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्नेवानुपश्यति ।
सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न वि चिकित्सति ।।

(यजुर्वेद ४०।६)

पन्द्रहवीं रश्मि

व्यष्टि और समष्टि का सामञ्जस्य

जो समस्त भूतों को, प्राणियों को, अपने में ही देखता है और सब भूतों में अपने को देखता है, उसके मन में इस आत्म-ज्ञान की प्राप्ति के कारण किसी प्रकार की उलझन नहीं रहती। (यजुर्वेद ४०।६)

व्यष्टि-समष्टि-सामञ्जस्य

नर उवाच

व्याख्यामध्यात्मयोगस्य श्रुत्वेमामस्तकल्मषम् ।
नूनं मन्येऽहमात्मानं लब्धसर्वमनोरथम् ॥१॥
उपायेन हि सिध्यन्ति कार्याणि न मनोरथैः ।
विदुषामेष आघोषो मार्गस्थो नावसीदति ॥२॥
नूनमध्यात्मतत्त्वानामधिगत्यै मनीषिणः ।
अध्यात्मयोगसंपत्तेः कारणत्वं प्रचक्षते ॥३॥
परमत्र प्रश्न एको गहनः समुदेति तत्समाधानम् ।
भगवानर्हति कर्तुं तस्मादस्म्यागतः शरणम् ॥४॥
व्यष्टेश्चैव समष्टेश्च दृष्टी द्वे जगतो मते ।
तारतम्यं तयोः कीदृक् ? तद्भवान् वक्तुमर्हति ॥५॥

नर ने कहा

अध्यात्म-योग की उक्त व्याख्या को सुनकर मैं अपने को निश्चय ही निष्पाप और सब मनोरथों को पा लेने वाला मानता हूँ ।

कार्य उपाय द्वारा ही सिद्ध होते हैं । विद्वानों का यह आघोष है कि ठीक मार्ग पर स्थित (= चलने वाला) व्यक्ति अवसाद को नहीं प्राप्त होता ।

अध्यात्म-तत्त्वों की प्राप्ति अथवा ज्ञान के लिए मनीषी निश्चित रूप से अध्यात्म-योग की संपत्ति की कारणता बतलाते हैं ।

पर इस विषय में एक गहन प्रश्न उपस्थित होता है । उसका समाधान भगवन् ! आप ही कर सकते हैं । इसीलिए मैं आपकी शरण में आया हूँ ।

जगत् के संबन्ध में व्यष्टि और समष्टि की दो दृष्टियाँ मानी गयी हैं । कृपया आप यह बतलाइए कि उन दोनों दृष्टियों में परस्पर कैसा तारतम्य है ।

नारायण उवाच

प्रश्न एष महान् वत्स! नूनमध्यात्मवर्त्मनि।
वच्म्यहं तत्समाधानं समाहितमनाः शृणु ॥६॥
"एकः प्रजायते जन्तुरेक एव प्रलीयते।
एकोऽनुभुङ्क्ते सुकृतमेक एव च दुष्कृतम्" ॥७॥
व्यष्टेरेतादृशी दृष्टिः पारम्पर्यक्रमागता।
बन्धमोक्षप्रवादोऽपि तामाश्रित्यैव तिष्ठति ॥८॥
समष्टिदृष्टिमपर आतिष्ठन्ते मनीषिणः।
कल्याणार्थाय संनद्धास्तप्तानां प्राणिनां हि ये ॥९॥
"कामये दुःखतप्तानां प्राणिनामार्त्तिनाशनम्।"
एतादृशी मतिस्तेषां स्वार्थमुत्सृज्य वर्तते ॥१०॥
परस्परं विरुद्धे ते इति साधारणी मतिः।
तदत्र विषये तथ्यं सुप्रसन्नो वदाम्यहम् ॥११॥

श्री नारायण ने कहा

वत्स! अध्यात्म-मार्ग में सचमुच यह महान् प्रश्न है। मैं उसका समाधान कहता हूँ; तुम सावधान मन से सुनो!

"प्राणी इकेला ही जन्म लेता है और इकेला ही मृत्यु को प्राप्त हो जाता है। इकेला ही सुकृत (= पुण्य) और दुष्कृत (= पाप) के फल का उपभोग करता है।"

व्यष्टि को लेकर ऐसी ही दृष्टि परम्परा से प्राप्त हुई है। बन्ध और मोक्ष का सिद्धान्त भी उसी दृष्टि को लेकर स्थित है।

परन्तु दुःखों से तप्त प्राणियों के कल्याण के लिए जो मनीषी संनद्ध हैं, वे समष्टि-दृष्टि का सिद्धान्त मानते हैं।

"मैं दुःख से संतप्त प्राणियों की व्यथा को नाश करने की कामना करता हूँ"[1] किसी स्वार्थ के बिना उनकी ऐसी ही मान्यता होती है।

साधारणतया यही समझा जाता है कि उक्त दोनों दृष्टियाँ परस्पर में विरुद्ध हैं। सो इस विषय में जो तथ्य है उसे मैं प्रसन्नता-पूर्वक कहता हूँ।

---

१. तु० श्रीमद्भागवत ९।२१।१२ तथा ८।७।४४।

[१]

व्यष्टि और समष्टि

व्यष्टेश्चैव समष्टेश्च दृष्टी द्वे जगतो मते ।
प्रथमा तत्र मन्दानां द्वितीया तत्त्वदर्शिनाम् ॥१२॥

व्यष्टि की दृष्टि और समष्टि की दृष्टि, इस प्रकार जगत् के संबन्ध में दो दृष्टियाँ मानी गयी हैं । इनमें से पहली मन्द-बुद्धियों की है, और दूसरी तत्त्वदर्शियों की ।

दुःखानां मूलमाख्यातो व्यष्टिभावो महर्षिभिः ।
समष्टावेकतानत्वे तदभावोऽवतिष्ठते ॥१३॥

महर्षियों ने कहा है कि व्यष्टि-भाव दुःखों का मूल है और दुःखों का अभाव समष्टि के साथ एकतानता अथवा तादात्म्य में रहता है ।

अल्पं यन्मर्त्यमित्युक्तं सुखं तत्र न विद्यते ।
"यो वै भूमा तदमृतं" तत्सुखं मन्यते श्रुतौ ॥१४॥
व्यष्टिरल्पं समष्टिस्तु भूमशब्दार्थवाचिनी ।
समष्टावाश्रिता व्यष्टिः समष्ट्यास्ते नियन्त्रिता ॥१५॥

जो अल्प है, परिमित है, वह मर्त्य है, मरणशील है । उसमें सुख नहीं रहता । जो वास्तव में भूमा (विशाल या अपरिमित) है, वह अमृत (शाश्वत) है । श्रुति में उसी को वास्तव में सुख-स्वरूप माना गया है ।[1]

व्यष्टि अल्प है और समष्टि को ही भूमा इस शब्द से कहा जाता है । व्यष्टि समष्टि पर आश्रित होती है और उससे नियन्त्रित रहती है ।

---

१. तु० "यो वै भूमा तत्सुखम् । नाल्पे सुखमस्ति ।
भूमैव सुखम् । भूमा त्वेव विजिज्ञासितव्यः । ......यो वै
भूमा तदमृतम् । अथ यदल्पं तन्मर्त्यम् ।"
(छान्दोग्योपनिषद् ७।२३-२४)
"पुरुष एवेदं विश्वम्" (मुण्डकोपनिषद् २।१।१०)

व्याख्या

समस्त उपलभ्यमान पदार्थों को व्यष्टि और समष्टि के दो रूपों में हम देख सकते हैं। भिन्न भिन्न व्यक्तियों को व्यष्टि समझना चाहिए। एक ही तरह की व्यष्टियों के समस्त (देशभेद तथा कालभेद से) समुदाय में एकत्व की भावना को ही समष्टि-दृष्टि कह सकते हैं। एक एक ग्राम, ग्राम की व्यष्टि है। भूत, भविष्य और वर्तमान के समस्त ग्राम, एकत्व की भावना के साथ में, ग्राम की समष्टि है। व्यष्टियाँ नाश को प्राप्त होती रहती हैं। समष्टि सदा रहती है–और कालान्तर में व्यष्टियों को जन्म देती है। साधारण बुद्धि के मनुष्य के लिए व्यष्टि का ही महत्त्व होता है; वह समष्टि को समझता ही नहीं। पर तत्त्वदर्शी की तृप्ति विनशन-शील व्यष्टियों से नहीं होती। वह अनेकों में एकत्व की और अनित्यों में नित्य की खोज करना चाहता है। समष्टि ही ऐसी वस्तु है। व्यष्टियाँ विनशन-शील और अस्थिर होने के कारण स्वभावतः दुःख का मूल होती हैं। उस दुःख का अभाव समष्टि-भावना में ही हो सकता है। व्यष्टि-रूप हम सब जीवात्माओं की समष्टि परमात्मा के रूप में ही समझी जा सकती है, व्यष्टि के अस्तित्व का मूल उसकी समष्टि में होता है। इसी लिए उसके जीवन का सार्थक्य समष्टि के साथ उसके सामञ्जस्य में ही है। यही मनुष्य के जीवन के सार्थक्य का रहस्य है। व्यष्टि को समष्टि के लिए अपनी बलि देनी पड़ती है। इसी की व्याख्या नीचे के पद्यों में की गयी है—

[२]

समष्टि और ब्रह्म

प्रकृत्यैव जनाः सर्वे गाने वाद्ये च सस्पृहाः।
ग्राम्यो वापि बुधो वापि बालो वा वृद्ध एव वा ॥१६॥
प्रवर्तते स्वभावेन गाने वाद्येऽप्यशिक्षितः।
मौलिके कारणे तत्र मीमांसायां हि नो मतम् ॥१७॥

स्वभाव से ही सब मनुष्य गाने-बजाने को पसन्द करते हैं। गँवार हो, बुद्धिमान् हो, बालक हो, या वृद्ध हो, बिना सिखाया हुआ भी, स्वभाव से गाना और बजाना चाहता है। इसका मौलिक कारण क्या है? यह एक विचारणीय विषय है। इस विषय में हमारा जो मत है वह यह है—

व्यष्टेर्यद्वर्तनं तत्र वैषम्येण पदं कृतम् ।
समष्टौ सामरस्यं तु नूनं तस्याः स्वभावजम् ॥१८॥
व्यष्टौ व्याकुलता तस्माद्वैषम्यादेवं जायते ।
आनन्दैकरसो रूपं समष्टेर्मन्यते पुनः ॥१९॥

व्यष्टि स्वभाव से ही परिवर्तन-शील या विनशन-शील होती है, इसलिए उसमें विषमता अवश्य रहती है । समष्टि अपने रूप में स्थिर रहती है, इसी लिए उसमें समरसता अथवा एकरूपता स्वाभाविक होती है ।

व्यष्टि-रूप मर्त्यों में जो व्याकुलता, आकुलता या व्यग्रता पायी जाती है उसका कारण उपर्युक्त विषमता ही है ।

एकरसता या सामरस्य से रहने वाली समष्टि में तो एकमात्र आनन्द-रस का ही प्रवाह बहता है ।

व्यष्टिरूपा वयं मर्त्याः समष्टिर्ब्रह्मणः पदम् ।
ब्रह्मणा तेन सायुज्यं सदास्माकमभीप्सितम् ॥२०॥

हम सब मर्त्य व्यष्टिरूप हैं । सब व्यष्टियों की समष्टि ब्रह्म का पद है । इसी लिए हम सब ब्रह्म के साथ सायुज्य को सदा चाहते हैं । हम सब नित्य शाश्वत आनन्द को चाहते हैं; यही तो दूसरे शब्दों में ब्रह्म-सायुज्य कहा जाता है ।[1]

गाने वाद्ये प्रवृत्तस्य व्यष्टेर्भानं विलीयते ।
समष्टौ, तेन दृश्यन्ते मानवास्तत्र सस्पृहाः ॥२१॥

ऊपर के व्यष्टि और समष्टि के विमर्श की दृष्टि से हम कह सकते हैं कि गाने-बजाने में जो मनुष्य प्रवृत्त होता है उसको उस समय के लिए अपनेपन का

---

१. तु० "स ईश्वरो व्यष्टिसमष्टिरूपो व्यक्तस्वभावोऽप्रकटस्वभावः ।" (विष्णु-पुराण ६।५।८६); तथा "ब्रह्मैवेदं विश्वमिदं वरिष्ठम्" (मुण्डकोपनिषद् २।२।११); तथा "यदिदं सकलं विश्वं नानारूपं प्रतीतमज्ञानात् । तत्सर्वं ब्रह्मैव प्रत्यस्ताशेषभावनादोषम् ॥" (विवेकचूडामणि २२९); तथा "यस्मिन्सर्वं यतः सर्वं यः सर्वं सर्वतश्च यः । यश्च सर्वमयो नित्यं तस्मै सर्वात्मने नमः ॥" (भीष्मस्तवराज १०१) ।

भान नहीं रहता; दूसरे शब्दों में व्यष्टि की व्यष्टित्व-भावना उस समय के लिए समष्टि की सामरस्य की धारा में विलीन हो जाती है। यही कारण है कि सब मनुष्य गाने-बजाने को पसन्द करते हैं।[1]

[३]

ब्रह्म-निर्वाण

कोऽहं कुतः समायातः कुत्र गन्तास्मि चान्ततः।
परम्परागता एते प्रश्ना अद्याप्यवस्थिताः ॥ २॥

मैं कौन हूँ? कहाँ से आया हूँ? और अन्त में कहा जाऊँगा? ये प्रश्न प्राचीन काल से चले आ रहे हैं और आज भी अवस्थित हैं, अर्थात् इनका समाधान नहीं हुआ है।

तैर्थिकानां विवादस्य बाहुल्यं तत्र विद्यते।
बुद्धेः प्ररोचना सा स्यात् तद्विलासोऽपि वा भवेत् ॥२३॥
परं नैकान्तिकं ज्ञानमस्पृष्टं संशयेन यत्।
न चापि मानसी तुष्टिस्तत उत्पद्यते नृणाम् ॥२४॥

उक्त प्रश्नों के सम्बन्ध में विभिन्न संप्रदायों के प्रवर्तकों के विवादों का बाहुल्य प्राचीन ग्रंथों में पाया जाता है। उसको हम बुद्धि का प्रदर्शन या विलास ही कह सकते हैं।

क्योंकि, वास्तव में उस विवाद से न तो मनुष्यों को ऐसा निर्णयात्मक ज्ञान ही होता है जिसमें संशय की गंध भी न हो, और न उनके मन को संतोष ही होता है।

---

१. तु० "तस्मादु हैतद्यः सर्वः कृत्स्नो मन्यते गायति वैव गीते वा रमते।" (शतपथब्राह्मण ६।१।१।१५); तथा "गीतिज्ञानं शिवप्राप्तेः सुतरां कारणं भवेत्। गीतिज्ञानेन योगः स्याद् योगादेव शिवैक्यता।" (सूतसंहिता ४।२।३।११४)।

एवं भवतु मा वा भूदन्त:साक्ष्येण मे मतम् ।
मदीया व्यष्टिरेषा या समष्ट्या सा नियन्त्रिता ।२५।।
तयानुप्राणिता नित्यं विद्यते नात्र संशयः ।
कल्याणं च तया तस्याः सामञ्जस्येन वर्तते ।।२६।।

उक्त विषय में ऐसी बात हो या न हो, मैं तो अपने अन्त:साक्ष्य के आधार पर यही मानता हूँ कि मेरी जो यह व्यष्टि है वह निस्संदेह समष्टि से नियन्त्रित है तथा सदा उसी से अनुप्राणित रहती है, और यह कि मेरी व्यष्टि का कल्याण समष्टि के साथ उसके सामञ्जस्य में ही है ।

तद्वै ब्रह्मपदं प्रोक्तमद्वैतं शाश्वतं परम् ।
तदेतत्तत्त्वतो ज्ञात्वा ब्रह्मनिर्वाणमश्नुते ।।२७।।

इसी सामञ्जस्य को उत्कृष्ट ब्रह्म-पद कहा गया है । वह द्वैत की भावना से रहित है और शाश्वत है ।

इस रहस्य को तात्त्विक दृष्टि से जानने वाला ब्रह्म-निर्वाण अथवा ब्रह्म-सायुज्य को पा लेता है ।

[४]

व्यष्टि और समष्टि का सामञ्जस्य

भूतानामुद्दिधीर्षैव सृष्टेरस्या असंशयम् ।
कारणं करुणामूला स्वयंभूपरमात्मनः ।।२८।।

सहानुभूतिरेतस्मात् प्रेम तद्वदकृत्रिमम् ।
प्राणिनः प्रति सर्वेषां परमो धर्म इष्यते ।।२९।।

अभिप्रायस्य संसिद्धिरेवं तस्य परात्मनः ।
स्वात्मनश्च स्वभावो यः सोऽपि साफल्यमश्नुते ।।३०।।

'वर्तध्वं मानवा यूयं सांमनस्येन सर्वथा' ।
इममेवार्थमुत्कृष्टं श्रुतिर्ब्रूते पुनः पुनः ।।३१।।

"सं गच्छध्वं सं वदध्वं सं वो मनांसि जानताम् ।
देवा भागं यथा पूर्वे संजानाना उपासते ॥"३२॥
श्रुतिरेषा निगूढार्था यद् ब्रूते सूक्ष्मया गिरा ।
तद्धि लोकहितार्थाय किंचिद्व्याख्यानमर्हति ॥३३॥
परात्मनो विभूतिस्ते देवाः संज्ञानतत्पराः ।
विश्वस्य निखिलं कार्यं सांमनस्येन कुर्वते ॥३४॥
व्यष्टीनामन्ततो नूनं समष्टेरुद्भवो मतः ।
समष्टेर्जायते व्यष्टिस्तस्यामेव प्रलीयते ॥३५॥
व्यष्टीनां जीवनं तस्माद्व्यापारः स्थितिरेव च ।
यथा सरसि मीनानां समष्टावाश्रितं तथा ॥३६॥
समष्टया तेन व्यष्टीनां किञ्च तासां परस्परम् ।
सामञ्जस्यं समुत्कृष्टं परमं लक्ष्यमुच्यते ॥३७॥
समष्टयाः कार्यकरणे व्यष्टीनामेकतानता ।
धर्मस्य वस्तुतो मूलमाहुस्तस्मान्मनीषिणः ॥३८॥
तस्यामेव स्थितौ तिष्ठन्नद्वैतं स्वपरार्थयोः ।
तत्त्वतो मन्यते विद्वानजिह्मेनैव चेतसा ॥३९॥

इसमें सन्देह नहीं कि स्वयम्भू परमात्मा की करुणा-मूलक प्राणियों के उद्धार की इच्छा ही इस सृष्टि का कारण है ।

इसी लिए प्राणियों के प्रति सबकी सहानुभूति तथा अकृत्रिम प्रेम परमधर्म माना जाता है ।

इस प्रकार उस परमात्मा के (उद्दिधीर्षा-रूप) अभिप्राय की सिद्धि होती है और अपनी आत्मा का जो स्वभाव है वह भी सफल हो जाता है ।

"अयि मनुष्यो ! तुम परस्पर सर्वथा सांमनस्य अथवा प्रेम और सद्भाव से बर्ताव करो"—इसी उत्कृष्ट अर्थ को श्रुति[1] बार-बार कहती है ।

---

१. तु० "सहृदयं सांमनस्यमविद्वेषं कृणोमि वः ।
अन्यो अन्यमभि हर्यत वत्सं जातमिवाघ्न्या ॥" (अथर्ववेद ३।३०।१)

"सं गच्छध्वं सं वदध्वं सं वो मनांसि जानताम् ।
देवा भागं यथापूर्वे संजानाना उपासते ।" (ऋग्वेद १०।१९१।२) ।

(अर्थात्, हे मनुष्यो ! जैसे सनातन से विद्यमान, दिव्य शक्तियों से संपन्न सूर्य, चन्द्र, वायु, अग्नि आदि देव परस्पर अविरोध भाव से, मानो प्रेम से, अपने-अपने कार्य को करते हैं; ऐसे ही तुम भी समष्टिभावना से प्रेरित होकर एक साथ कार्यों में प्रवृत्त होओ, ऐकमत्य से रहो और परस्पर सद्भावना से बरतो ।)

गूढ अर्थ वाली यह श्रुति सूक्ष्म (= संक्षिप्त) शब्दों द्वारा जो कुछ कहती है, लोक-हित की दृष्टि से उसके कुछ व्याख्यान की आवश्यकता है ।

ऐकमत्य में तत्पर, परमात्मा के विभूतिरूप (अग्नि, वायु आदि वैदिक) देवगण विश्व के समस्त कार्य को सांमनस्य (=पारस्परिक सद्भावना) से करते हैं ।

अन्ततोगत्वा व्यष्टियों का उद्भव निश्चय-पूर्वक समष्टि से माना गया है । व्यष्टि समष्टि से ही उत्पन्न होती है और उसी में विलीन हो जाती है ।

इस लिए व्यष्टियों का जीवन, व्यापार और स्थिति, तालाब में मछलियों के (जीवन आदि के) समान, समष्टि पर ही निर्भर रहते हैं ।

उक्त कारण से समष्टि के साथ व्यष्टियों का तथा उन (= व्यष्टियों) का भी परस्पर उत्कृष्ट सामञ्जस्य (=अविरोध से एकीभाव) परम लक्ष्य कहा जाता है ।

इस लिए मनीषी लोग समष्टि के कार्य के करने में व्यष्टियों की एकतानता (= अत्यन्त तत्परता) को वास्तव में धर्म का मूल कहते हैं ।

उसी स्थिति में स्थित हुआ विद्वान्, निर्मायिक अथवा निष्कपट भाव से, स्वार्थ और परार्थ के समन्वय में वस्तुतः अद्वैत को मानता है । अर्थात्, एक तत्त्वविद् मनीषी की दृष्टि में सच्चा स्वार्थ परार्थ के साधन में ही रहता है । इसी लिए उसकी दृष्टि से स्वार्थ और परार्थ में अद्वैत है ।

[५]

जीवन में आनन्द का रहस्य

आनन्दो जीवने तेषां समष्ट्या ये सहासते ।
व्यष्ट्या सह वर्तनं नूनं दुःखानां मुख्यकारणम् ॥४०॥

प्रायेण मानवाः सर्वे व्यष्टावासक्तचेतसः।
दिवानिशमसंतुष्टा दृश्यन्ते खिन्नमानसाः ॥४१॥
तत्तत्कार्येषु संसक्ता येषामन्तो न विद्यते।
तदर्थमेव जीवन्तः स्वरूपाद् दूर आसते ॥४२॥
तत्तत्कार्येष्वसंसक्ताः स्थितप्रज्ञा मनीषिणः।
आत्मन्येवात्मना तुष्टा नूनं ब्रह्मण्यवस्थिताः ॥४३॥

जो समष्टि के आदर्श को लेकर जीवन-यात्रा करते हैं, उनके जीवन में आनन्द रहता है। केवल व्यष्टि के साथ रहना, दुःखों का प्रधान कारण है।

प्रायेण सब मनुष्य व्यष्टिभाव में ही चित्त को लगाये रखते हैं और अत एव दिन-रात असन्तुष्ट और खिन्न मन वाले देखने में आते हैं।

वैयक्तिक कार्यों में ही, जिनका अन्त नहीं है, संसक्त रहते हुए और उन की पूर्ति के लिए ही जीवन-यापन करते हुए वे अपने वास्तविक (आध्यात्मिक) स्वरूप से दूर ही रहते हैं (=अर्थात् अपने स्वरूप को नहीं पहचानते)।

(परन्तु) वैयक्तिक कार्यों में असंसक्त स्थित-प्रज्ञ मनीषी अपने को अपने स्वरूप में ही संतुष्ट रखते हैं। उनको वास्तव में ब्रह्म में अवस्थित समझना चाहिए।

[६]

सब व्यष्टियों का परम कारण

आश्रयः सर्वशक्तीनां द्वन्द्वातीतं निरञ्जनम्।
यत्तत्कारणमव्यक्तं शाश्वतं पदमव्ययम् ॥४४॥
अन्ततः सर्वव्यष्टीनां परमं कारणं मतम्।
यस्मात्परतरं नास्ति तदहं नित्यमाश्रये ॥४५॥

जो मूल तत्त्व समस्त शक्तियों का आश्रय,
और सृष्टि का अव्यक्त कारण है;
द्वन्द्वों से परे, अर्थात् सर्वदा एक-रस, विशुद्ध,
जो ध्रुव अविनाशी पद है;

अन्ततोगत्वा समस्त व्यष्टियों का जो परम कारण है;

और जिससे परे कुछ नहीं है;

मैं सदा उसी का आश्रय लेता हूँ।[1]

ऊपरकी रचनाओं में बतलाया गया है कि व्यष्टिभाव दुःखों का मूल है और समष्टि के साथ तादात्म्य के अनुभव में ही वास्तविक आनन्द का रहस्य छिपा हुआ है। आगे की रचनाओं में समष्टि के आदर्श को लेकर जीवन-यात्रा करने वाले उन ब्रह्मनिष्ठ मनीषियों की, जिन्होंने रागद्वेषादि शत्रुओं का समूल उन्मूलन कर दिया है और जिनकी दृष्टि में स्वार्थ और परार्थ में वास्तविक अद्वैत की भावना स्थित हो चुकी है, परम आनन्द तथा शान्ति की स्थिति का वर्णन किया गया है—

[७]

आनन्द का स्रोत हमारे अन्दर है

जीवने कश्चिदानन्दः सर्वस्यापि स्वभावतः।
'मा न भूवं नु भूयासम्' इति सर्वोऽभिवाञ्छति ॥४६॥

स्वाभाविकं तमानन्दं सुषुप्तौ शैशवे तथा।
अनुभूयापि विस्मृत्य प्रायो वर्तामहे वयम् ॥४७॥

कारणं किं भवेत्तत्र प्रतीकारश्च को भवेत्।
जीवनस्य महान् प्रश्नस्तत्समाधानमुच्यते ॥४८॥

सर्वस्यापि जनस्यान्तर् "मध्व उत्स" इति श्रुतिः।
आनन्दानुभवस्तस्मात् स्रोतस एव जायते ॥४९॥

लभन्ते तत्र चेत्स्थानं रागद्वेषादिशत्रवः।
आनन्दस्रोतसस्तस्य रोधः संजायते तदा ॥५०॥

---

१. तु० भगवद्गीता ८।२१।

कर्तव्यं प्रथमं तत्र सावधानेन भूयताम् ।
पदं येन न लभ्येत शत्रुभिस्तैर्दुरात्मभिः ॥५१॥
सद्विचारप्रवाहेणोन्मूलनं कर्तुमर्हति ।
विद्वान् रोधस्य शत्रूणामपि नैवात्र संशयः ॥५२॥
तस्माद्विवेकिनो धीराः सावधानाः प्रयत्नतः ।
शत्रूनुन्मूल्य तान् नित्यमानन्दमुपभुञ्जते ॥५३॥

सब किसी को स्वभाव से जीवन में (=जीने मात्र में) आनन्दानुभव होता है । सब कोई चाहता है 'मैं जीता रहूँ, ऐसा न हो कि मैं न रहूँ ।'[1]

सुषुप्ति और शैशव में उस स्वाभाविक आनन्द का अनुभव करके भी, हम प्रायः उसको विस्मृत करके जीवन-यात्रा करते हैं ।

उसका क्या कारण है और उसका प्रतीकार क्या है ? जीवन का यह महान् प्रश्न है । उसका समाधान नीचे कहा जाता है ।

श्रुति कहती है कि प्रत्येक मनुष्य के अन्दर आनन्द का स्रोत विद्यमान है ।[2] उसी स्रोत से (सब किसी को) आनन्द का अनुभव होता है ।

(परन्तु) यदि मनुष्य के अन्दर राग द्वेष आदि शत्रु स्थान पा लेते हैं, तब उस आनन्द-स्रोत का अवरोध हो जाता है ।

इस संबन्ध में प्रथम कर्तव्य यही है कि मनुष्य सावधान रहे, जिससे उपर्युक्त दुष्टात्मा शत्रु उसके अन्दर स्थान न पा सकें ।

(किञ्च,) सद्विचारों के प्रवाह (=सातत्य) से विद्वान् (उपर्युक्त) शत्रुओं द्वारा किये गये अवरोध का उन्मूलन भी कर सकता है; इसमें कोई संदेह नहीं है ।

इसलिए धीर विवेकी मनुष्य प्रयत्न-पूर्वक सावधान रहते हुए उन शत्रुओं का उन्मूलन करके सर्वदा आनन्द का उपभोग करते हैं ।

---

१. तु० "सर्वस्य प्राणिन इयमाशीर्नित्या भवति मा न भूवं भूयासमिति ।" (योगसूत्र-व्यासभाष्य २।९)

२. दे० " विष्णोः पदे परमे मध्व उत्सः" (ऋग्वेद १।१५४।५)

[८]

अहन्ता का आवरण

शिवरूपं स्वयंज्योतिर्यत्तत्त्वं परं मतम् ।
अहन्तायाः पृथक्त्वेऽपि भाव्यमानमहन्तया ।।५४।।

प्रतीकरूपिणी तस्मादहन्ता तस्य विद्यते ।
तयैवाव्रियते तत्त्वं वारिवाहैरिवांशुमान् ।।५५।।

समष्टिव्यष्टिरूपेण तस्या द्वैविध्यमिष्यते ।
विश्वं तदीयकार्यं च तया सर्वं विधीयते ।।५६।।

समष्टिबुद्धया ब्रह्मा सन् विश्वसृष्टिं करोति सा ।
व्यष्टिदृष्टयापि व्यक्तीनां तां तां सृष्टिं करोति सा ।।५७।।

अहन्तावरणं तस्माद् भित्त्वा विगतकल्मषः ।
योगी युञ्जन्सदात्मानं स्वीये रूपेऽवतिष्ठते ।।५८।।

वह जो परम तत्त्व है, वह शिव-स्वरूप और स्वयं प्रकाशमान माना गया है । अहन्ता से पृथक् होते हुए भी, वह अहन्ता से भाव्यमान (= प्रतीयमान) होता है ।

इसलिए अहन्ता उसकी प्रतीक के रूप में विद्यमान है । मेघों से सूर्य के समान, अहन्ता से ही वह परम तत्त्व आवृत हो रहा है ।

उस (अहन्ता) का समष्टि और व्यष्टि रूप से द्वैविध्य माना जाता है । विश्व की सृष्टि तथा उसका सब कार्य उसी के द्वारा किया जाता है ।

समष्टि-बुद्धि के रूप में वह ब्रह्मा होती हुई विश्व की सृष्टि करती है । व्यष्टि-दृष्टि से तत्तद् व्यक्तियों की जो सृष्टि (=व्यापार) है उसको भी वही करती है ।

इस लिए योगाभ्यास में सदा तत्पर रहने वाला योगी, अहन्ता के आवरण को भेदकर (=हटाकर) और कल्मष (=पाप) से रहित होकर, (अन्तमें) अपने रूप में अवस्थित हो जाता है ।

[९]

शोकातीत अवस्था

"मत्वा धीरो न शोचति" (कठोपनिषद् २।१।४)

अर्थात्, आत्मा को जानकर बुद्धिमान् मनुष्य शोकातीत अवस्था को प्राप्त कर लेता है।

निधानं सर्वशक्तीनां तेजोरूपं सनातनम्।
अनन्तं विभुमात्मानं मत्वा धीरो न शोचति ॥५६॥

समस्त शक्तियों के आश्रय, तेज:स्वरूप, शाश्वत, अनन्त और व्यापक आत्मा को जानकर बुद्धिमान् मनुष्य शोकातीत अवस्था को पा लेता है।

बहिरन्तश्च यत्तत्त्वं जगत्संव्याप्य संस्थितम्।
तदभिन्नतयात्मानं मत्वा धीरो न शोचति ॥६०॥

जो मूलतत्त्व जगत् को बाहर और भीतर सर्वत्र व्याप्त किये हुए है, उसके साथ अभिन्न रूप से अपने को जानकर, बुद्धिमान् मनुष्य शोकातीत अवस्था को पा लेता है।

[१०]

परतत्त्व की उपासना

चराचरस्य लोकस्य साक्षिभूतं निरञ्जनम्।
अनन्तमनवच्छिन्नं दिक्कालाद्यैः स्वयंभुवम् ॥६१॥
हृदयाधिष्ठितं तत्त्वं विरजं निष्कलं महत्।
उपास्महेऽनिशं भक्त्यानन्दस्रोतस्यवस्थिताः ॥६२॥

आनन्द-स्रोत के समीप में बैठे हुए हम भक्ति-पुरस्सर निरन्तर हृदय में अधिष्ठित उस महान् आत्म-तत्त्व की उपासना करते हैं, जो समस्त चराचर जगत् का साक्षी है, जो पाप से रहित, अनन्त, दिशा काल आदि से अखण्डित और स्वयंभू है, तथा जो निर्मल और निष्कल है।

[११]

समस्त व्यष्टियों का सर्वस्व मूलतत्त्व

येनेदं विश्वमापूर्णं यच्च प्राणा इव स्थितम् ।
सर्वस्वं सर्वव्यष्टीनां तत्तत्त्वं समुपास्महे ।।६३।।
यतोऽहं यच्च मे शक्तेः स्रोतः शाश्वतमव्ययम् ।
सर्वदा जागरूकं च तत्तत्त्वं समुपास्महे ।।६४।।
खिन्नस्तत्तदवस्थाभिर्बाह्याभिरवशो भवन् ।
यतो लभे समाश्वासं तत्तत्त्वं समुपास्महे ।।६५।।

जिससे यह विश्व आपूर्ण है,
जिसकी स्थिति प्राणों के समान है,
जो सब व्यष्टियों का सर्वस्व है,
उसी (मूल-) तत्त्व की हम उपासना करते हैं ।
जिससे मैं हूँ, और जो मेरी शक्ति का
शाश्वत तथा अविनाशी स्रोत है,
और जो सर्वदा जागरूक है,
उसी (मूल-) तत्त्व की हम उपासना करते हैं ।
तत्तद् बाह्य अवस्थाओं से खिन्न
तथा विवश होता हुआ मैं
जिससे आश्वास पाता हूँ,
उसी (मूल-) तत्त्व की हम उपासना करते हैं ।

[१२]

शाश्वत तत्त्व

यदेतच्छाश्वतं तत्त्वं यतः सर्वं प्रवर्तते ।
यच्चापि सर्वशक्तीनां स्रोतोभूतं नतोऽस्मि तत् ।।६६।।
येयं शान्तिरनन्ता वै विश्वस्यान्तर्विराजते ।
या नूनं सर्ववस्तूनामन्तःसारमिव स्थिता ।।६७।।

शोभासंपत्तिरूपेण व्याप्तामेतज्जगत्त्रयम् ।
गायन्ति वाक्प्रबन्धैर्यां कवयः क्रान्तदर्शिनः ॥६८॥
योगिनो यां प्रपश्यन्ति ध्याननिर्धूतकल्मषाः ।
मानसे दर्पणे भायात् सेत्याशीर्मे निरन्तरम् ॥६९॥

यह जो शाश्वत तत्त्व है, जिससे सबकी प्रवृत्ति होती है,
और जो सब शक्तियों का स्रोतः स्वरूप है, मेरा उसी को नमस्कार है ।
यह जो अनन्त शान्ति निश्चय रूप से विश्व के अन्दर विराजमान है,
जो वास्तव में समस्त वस्तुओं के मानो अन्तःसार रूप में स्थित है,
जो इस त्रिलोकी में शोभा-संपत्ति के रूप में व्याप्त है,
जिसका क्रान्तदर्शी कवि-जन अपनी रचनाओं द्वारा गान करते हैं,
ध्यान से जिन्होंने अपने पापों का नाश कर दिया है—
ऐसे योगि-जन जिसका दर्शन करते हैं,
वह मेरे मानस-दर्पण में प्रकाशमान हो—
यही मेरी सतत अभिलाषा है ।

॥ इति जीवनज्योतिषि 'व्यष्टिसमष्टयोः
सामञ्जस्यं' नाम पञ्चदशो रश्मिः ॥

षोडशो रश्मिः

प्रज्ञाप्रसादः

ज्ञानप्रसादेन विशुद्धसत्त्वस्
ततस्तु तं पश्यते निष्कलं ध्यायमानः ।

(मुण्डकोपनिषद् ३।१।८)

प्रज्ञाप्रासादमारुह्य अशोच्यः शोचतो जनान् ।
भूमिष्ठानिव शैलस्थः सर्वान् प्राज्ञोऽनुपश्यति ॥

(योगसूत्रव्यासभाष्य १।४७)

●

सोलहवीं रश्मि

प्रज्ञा-प्रसाद

ज्ञान के प्रसाद से विशुद्ध-चित्त होकर ही मनुष्य [illegible] द्वारा निष्कल (निरवयव) परम तत्त्व के साक्षात्कार में समर्थ होता है ।

(मुण्डकोपनिषद् ३।१।८)

ज्ञानी प्रज्ञा के प्रासाद के ऊपर पहुँचकर स्वयं शोकरहित हो जाता है । वह उस स्थिति को न पहुँचे हुए लोगों को ऐसे देखता है जैसे पर्वत-शिखर पर स्थित व्यक्ति नीचे भूमि पर स्थित लोगों को देखता है ।

(योगसूत्र-व्यासभाष्य १।४७)

प्रज्ञा - प्रसाद

नर उवाच

व्यष्टेश्चैव समष्टेश्च दृष्टयोर्यद्धि विवेचनम् ।
व्याख्यातं हृदयस्पर्शिसरण्या वै तदद्भुतम् ॥ १ ॥
सामञ्जस्येन यद् व्यष्टेः समष्ट्या सह नर्तनम् ।
तद्धि ब्रह्मपदं प्रोक्तं सा वै ब्राह्मी स्थितिर्मता ॥ २ ॥
तस्यां स्थितौ स्थितानां यत्स्वरूपं चिन्तनं तथा ।
विस्तरेण समाख्याहि भगवन् ! प्रणतोऽस्म्यहम् ॥ ३ ॥

नर ने कहा

व्यष्टि और समष्टि की दृष्टियों का जो विवेचन हृदय-स्पर्शी सरणि से (ऊपर) कहा गया है वह निश्चय ही अद्भुत है ।

व्यष्टि का समष्टि के साथ सामञ्जस्य रूप से जो रहना है, उसी को ब्रह्म-पद (अथवा ब्रह्मलोक) कहा गया है, वही ब्राह्मी स्थिति मानी गयी है ।

उस स्थिति में स्थित लोगों का जैसा स्वरूप और चिन्तन होता है, भगवन् ! उसकी विस्तार से व्याख्या कीजिए । मैं आप को प्रणाम करता हूँ ।

नारायण उवाच

धन्योऽसि कृतकृत्योऽसि यत्त्वया दृष्टिरद्भुता ।
लब्धेयं जायते यस्यां जीवनस्य कृतार्थता ॥ ४ ॥
व्यष्टेश्चैव समष्टेश्च सत्यत्वमुभयोरपि ।
जगदेतद् यथा सत्यं जीवनं चापि तादृशम् ॥ ५ ॥
जीवनस्य समस्या या सर्वस्य पुरतः स्थिता ।
सापि सत्या ततस्तस्याः समाधानमभीप्सितम् ॥ ६ ॥

एषु सत्येषु यत्सत्यं विश्वं व्याप्य व्यवस्थितम् ।
यतः प्रवर्तते सर्वं तद्वै ब्रह्मपदं स्मृतम् ॥ ७ ॥
वैषम्यस्य पथा यद्धि सौषम्यमधिगम्यते ।
तदेव विश्वसंव्यापिसामरस्यपदाभिधम् ॥ ८ ॥
अहन्तायाः स्वरूपेण जाते प्रथम उद्गमे ।
क्रमशो यस्य विश्रान्तिर्ब्रह्मभावनमिष्यते ॥ ९ ॥
धर्माः सर्वे प्रवर्तन्ते यतो निःसंशयं यथा ।
सूर्यादेव प्रवर्त्तेत रश्मिजालं समन्ततः ॥१०॥
यदेतत्पापकं किञ्चित्तमोरूपं हि यत्स्मृतम् ।
वैषम्यमनृतं तद्धि साम्यावस्थातिरस्कृतम् ॥११॥
तदेव दुःखमाम्नातं वस्तुतस्तत्त्वदर्शिभिः ।
भूमानमधिगम्यैव ततो मुक्तिरवाप्यते ॥१२॥
भूमा ब्रह्म परा शान्तिः साम्यावस्थैकतानता ।
सामरस्यं परानन्दः सर्वेऽनर्थान्तरा इमे ॥ .३॥
विज्ञायैतत्सर्वं विशुद्धसत्त्वोऽनहंवादी ।
प्रज्ञाप्रसादधुर्यो जीवन्नेवामृतो भवति ॥१४॥
जीवत एवामृतत्वमिति त्वं वत्स! विजानीहि ।
तदन्यथास्तीति केचिदज्ञानतमोऽवलीढास्ते ॥१५॥
रहस्यं परमं ह्येतद् येषामन्तः प्रकाशते ।
अध्यात्मदर्शनं तेषामधः किञ्चित्प्रतन्यते ॥१६॥

श्री नारायण ने कहा

तुम धन्य हो, तुम कृतकृत्य हो, क्योंकि तुमने यह अद्भुत दृष्टि पा ली है, जिसके पा लेने पर जीवन की कृतार्थता हो जाती है।

व्यष्टि और समष्टि दोनों सत्य हैं। जैसे यह जगत् सत्य है, उसी के समान जीवन भी सत्य है।

जीवन की समस्या, जो सबके सामने उपस्थित है, वह भी सत्य है। इसीलिए उसका समाधान सब चाहते हैं।

इन सत्यों में जो सत्य[1] विश्व को व्याप्त करके व्यवस्थित है, जिससे सबकी प्रवृत्ति होती है, उसी को ब्रह्म-पद कहा गया है।

वैषम्य के मार्ग से जिस सौषम्य की प्राप्ति की जाती है, उसीको 'विश्व-व्यापी सामरस्य' इस पद से कहा जाता है।

अहन्ता के स्वरूप से प्रथम उद्गम होने पर क्रमशः जिसकी विश्रान्ति ब्रह्म-भावन के रूप में होती है,

निःसंशय रूप में जिससे सब धर्म प्रवृत्त होते हैं, जैसे सूर्य से चारों ओर रश्मियों के समूह की प्रवृत्ति होती है।

यह जो कुछ पाप-रूप में वर्तमान है, जिसे (वास्तव में) अन्धकार-रूप ही माना गया है, वैषम्य और अनृत वही है और वह साम्यावस्था से तिरस्कृत है, अर्थात् उससे उलटा है।

तत्त्वदर्शियों ने वास्तव में उसी को 'दुःख' शब्द से कहा है। उस दुःख से मुक्ति भूमा[1] की प्राप्ति से ही होती है।

भूमा, ब्रह्म, पराशान्ति, साम्यावस्था[2], एकतानता, सामरस्य और परानन्द ये सब समानार्थक हैं। अर्थात् ये सब शब्द एक ही तत्त्व के द्योतक हैं।

यह सब जानकर विशुद्ध-सत्त्व व्यक्ति, जो अहंवादी नहीं है, प्रज्ञा-प्रसाद से संपन्न होते हुए जीते जी ही अमृतत्त्व को प्राप्त हो जाता है।

जीते जी को ही अमृतत्व की प्राप्ति होती है, ऐसा हे वत्स! तुम जानो। कुछ लोग कहते हैं कि ऐसा नहीं है। वे अज्ञानरूपी अन्धकार से ग्रस्त हैं।

यह परम रहस्य जिनके अन्तःकरण में प्रकाशित है, उन्हीं के अध्यात्म-दर्शन का कथन कुछ विस्तार से नीचे किया जाता है।

---

१. तु० "सत्यस्य सत्यम्" (बृहदारण्यकोपनिषद् २।१।२०)

२. तु० "इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः। निर्दोषं हि समं ब्रह्म" (भगवद्गीता ५।१९)

[१]

परम तत्त्व की अनुभूति

निर्मलं शाश्वतं शान्तमवाङ्मनसगोचरम् ।
विद्यते यन्महत्तेजस्तन्मे नित्यं प्रकाशताम् ॥१७॥
व्यापि सर्वत्र लोकेषु त्रिषु कालेषु सर्वथा ।
अन्तर्यामि च यत्तत्त्वं तन्मे नित्यं प्रसीदतात् ॥१८॥
निधानं यद्धि शक्तीनां सर्वासामन्ततो मतम् ।
आत्मरूपेण सर्वेषां भाति यत्तदुपास्महे ॥१९॥
चराचरमभिव्याप्य तदतीत्य च संस्थितम् ।
अनन्तमनवच्छिन्नं यत्तत्त्वं तदुपास्महे ॥२०॥

जो निर्मल, शाश्वत, शान्त, वाणी और मन का अगोचर, महान् तेज स्वयम्भू रूप से विद्यमान है, वह मेरे लिए सदा प्रकाशित रहे !

जो मूल-तत्त्व सब लोकों और तीनों कालों में व्याप्त है, जो सारे विश्व का अन्तर्यामी रूप से नियमन कर रहा है, वह मेरे लिए नित्य प्रकाशित रहे !

अन्ततोगत्वा जो समस्त शक्तियों का एक मात्र निधान है और जो आत्मरूप से सबको प्रतीत हो रहा है, उसी परम तत्त्व की हम उपासना करते हैं ।

चर-अचर जगत् को व्याप्त करके और उसको भी अतिक्रमण करके जो स्थित है, उसी अनन्त और अनवच्छिन्न परम तत्त्व की हम उपासना करते हैं ।

[२]

मनुष्य का महान् मोह

प्राप्तुं सुखं हि मनुजा जगति भ्रमन्त :
क्लेशान् बहूननुभवन्ति न चाप्नुवन्ति ।
स्रोत: सुखस्य सलिलेन परिप्लुतं तत्
स्वान्तस्तले प्रवहतीति न जानते ते ॥२१॥

सुख पाने के लिए मनुष्य संसार में घूमते हुए अनेक क्लेशों को सहते हैं, पर सुख को नहीं पाते। वे यह नहीं जानते कि सुख-रूपी जल से लबालब भरा हुआ स्रोत स्वयं उनके अन्दर बह रहा है।

आत्मतत्त्व का विवेचन

हमारे वास्तविक उत्थान का मूल आत्म-परीक्षणमें निहित है। इसीलिए हमारा अपना वास्तविक स्वरूप क्या है? इसी प्रश्न का उत्तर नीचे की ३ से ६ तक की रचनाओं में अनेक प्रकार से दिया गया है :—

[३]

अपना आनन्दमय स्वरूप

आत्म-तत्त्व के स्वरूप के विषय में विवेकी और अविवेकी मनुष्यों की दृष्टियों का वर्णन नीचे के पद्यों में किया गया है :—

शक्तेर्धाम स्वयंज्योतिः कूटस्थं सर्वसाक्षि च।
सर्वदानन्दरूपं तद् आत्मतत्त्वं विवेकिनाम् ॥२२॥

जो विवेकी हैं उनके लिए वह आत्म-तत्त्व शक्ति का धाम, स्वयं प्रकाशमान, सर्वदा एकरूप में रहने वाला, सब का साक्षी और सदा आनन्द-स्वरूप है।

संमूढं सर्वदा मग्नं समुद्वेगविषादयोः।
अस्थिरं स्थितिवात्याभिस्तत्त्वं तदविवेकिनाम् ॥२३॥

पर जो अविवेकी हैं उनके लिए वही आत्म-तत्त्व मोह में पड़ा हुआ, उद्वेग और विषाद में डूबा हुआ और परिवर्तनशील परिस्थितियों की आँधियों से अस्थिर अथवा चञ्चल रहता है।

[४]

प्रकाशस्वरूप आत्मतत्त्व

आत्मनो यस्य कामाय सर्वे कामा अवस्थिताः।
यस्यार्थे तत्तदर्थानामर्थना संप्रवर्तते ॥२४॥

घोरैः परिश्रमैः कृत्वा नानायत्नान् दिवानिशम् ।
यच्चाप्यतेऽपि तद् यस्य भोक्तृत्वे पर्यवस्यति ॥२५॥
आत्मनस्तस्य विस्मृत्य स्वरूपं गौरवं तथा ।
क्रोडीकृत्यात्मनो हीनभावनां विचरन्ति ये ।२६॥
तथ्यातथ्यविवेकेन हीनाः कृपणबुद्धयः ।
अन्धे तमसि मग्नास्ते श्रुतावात्महनो मताः ॥२७॥
ज्योतिषामपि यज्ज्योतिरात्मतत्त्वं मनीषिणाम् ।
तदेवाज्ञानमूढैर्हा ! प्रत्यक्षं सन्न दृश्यते ! ॥२८॥
चैतन्यं यद्धि ते रूपं भास्वतोऽपि प्रभास्वरम् ।
विद्यते तत्र मोहस्य स्थितेरेव न संभवः ॥२९॥
मोहचैतन्ययोर्नित्यं भेदः स्वाभाविको मतः ।
तेजस्तिमिरयोर्भावाभावयोरथवा यथा ॥३०॥

जिस आत्मा की कामना के लिए सारी कामनाएँ हुआ करती हैं,
जिस आत्मा के लिए विभिन्न पदार्थों की माँग हुआ करती है,
दिन-रात घोर परिश्रमों के साथ अनेक प्रकार के यत्नों को करके
प्राप्त हुई प्रत्येक वस्तु का सार्थक्य जिस आत्मा के भोक्तृत्व में रहता है,
उस आत्मा के स्वरूप और गौरव को भुलाकर,
तथा अपनी हीन-भावना को हृदय से पकड़कर जो विचरते हैं,
सत्यासत्य के विवेक से हीन, अनुदार बुद्धि रखने वाले,
तथा घोर अन्धकार में निमग्न, उन लोगों को श्रुति में आत्मघाती कहा गया है[1] ।

जो आत्मतत्त्व मनीषियों के लिए ज्योतियों का भी ज्योति है,
खेद है ! वही अज्ञान से मूढ व्यक्तियों को प्रत्यक्ष होता हुआ भी नहीं दिखाई देता !

तेरा यह चैतन्य-रूप सूर्य से भी अधिक प्रकाश वाला है;
उसके विषय में मोह की स्थिति हो ही नहीं सकती !
मोह और चैतन्य में परस्पर जो भेद है वह सदा स्वाभाविक माना गया है;
वह भेद ऐसा ही है जैसा प्रकाश और अन्धकार में अथवा भाव और अभाव में ।

---

१. देखिए ईशावास्योपनिषद् ३ ।

[५]

आत्मतत्त्व की स्थिरता

चञ्चले तु जगत्यस्मिन्नेक आत्मैव निश्चलः ।
तत्र चञ्चलभावानां कृते ते विभ्रमः कुतः ? ॥३१॥

जीवनेऽस्मिन्नवस्थानां भेदः स्वाभाविकस्तथा ।
बाहुल्येनानिवार्योऽपि दृश्यते नात्र संशयः ॥३२॥

कृते तासामवस्थानां हर्षः शोकोऽथ खिन्नता ।
अभिमानोऽथवा गर्वो युज्यते नैव नैव हि ॥३३॥

इस अस्थिर स्वभाव वाले जगत् में केवल एक आत्मा ही निश्चल है। ऐसी अवस्था में अस्थिर पदार्थों के सम्बन्ध में तुझे विभ्रम क्यों है ?

इस जीवन में अवस्थाओं में परिवर्तन का होना स्वाभाविक है और प्रायेण वह अनिवार्य भी होता है, इसमें कोई सन्देह नहीं है।

इसलिए उन अवस्थाओं के सम्बन्ध में हर्ष, शोक, खेद, अभिमान अथवा गर्व का करना किसी प्रकार युक्त नहीं है।

[६]

महात्माओं का स्वभाव

आत्म-तत्त्व को समझने वाले महात्मा अपने निश्चयों पर पत्थरों की चट्टानों के समान दृढ रहते हैं; इसी सिद्धान्त का प्रतिपादन नीचे के पद्यों में किया गया है :—

जीवनेऽस्मिन्नवस्थानामागमोऽपाय एव च ।
स्वभावतः समायाति सर्वस्यापीति निश्चयः ॥३४॥

तत्त्वमेकं परं तत्र कूटस्थत्वेन वर्तते ।
तदेव शरणं गत्वा शान्तिमृच्छति मानवः ॥३५॥

इस जीवन में निश्चय ही सब किसी के साथ सुख-दुःखादि की अवस्थाओं का आना-जाना स्वभाव से ही होता रहता है। पर उन अवस्थाओं में भी एक आत्म-तत्त्व अविचल रूप में (कूटस्थभाव में) बराबर वर्तमान रहता है। उसी की शरण में जाकर, उसी के साथ अपने तादात्म्य को समझ कर, मनुष्य शान्ति को पाता है।

हर्षेण वा विषादेन स्वरूपाद्विच्युतो नरः ।
वात्यावेगेन संक्षुब्धवृक्षावलिसमो मतः ॥३६॥

शिलासंघातसंकाशाः सुस्थिरा दृढनिश्चयाः ।
सत्त्ववन्तो महात्मानः शोभन्ते क्षोभवर्जिताः ॥३७॥

हर्ष अथवा विषाद के कारण जो मनुष्य अपने स्वरूप से विच्युत हो जाता है वह आँधी के वेग से अत्यन्त चञ्चल वृक्षावली के समान है।

परन्तु सत्त्वशील महात्मा लोग पत्थरों की चट्टानों के समान सुस्थिर, दृढ-निश्चय और सदा क्षोभ से रहित होते हुए शोभायमान रहते हैं।

[७]

दृश्य हमारे लिए है

दृश्य और द्रष्टा के बीच में द्रष्टा का ही प्राधान्य होता है, इसी सिद्धान्त को नीचे के पद्यों में समझाया गया है :—

गतागतत्वाद् दृश्यानामस्थिराणां स्वभावतः ।
एकोऽहं निश्चलो द्रष्टा वर्ते नैवात्र संशयः ॥३८॥

अतो मदर्थं दृश्यानि न त्वदर्थं ममास्तिता ।
ततस्तत्कारणात्क्षोभः सर्वथा न ममोचितः ॥३९॥

अस्थिरमेतत्सकलं दृश्यं यद्भासते परितः।
द्रष्टृत्वेनाचलं हि जानीयास्त्वत्त्वमात्मानम् ॥४०॥

दृश्य आने-जाने वाले होने से स्वभाव से ही अस्थिर होते हैं। मैं अकेला उनको देखने वाला निश्चल रहता हूँ; इसमें सन्देह नहीं है।

अतः दृश्य मेरे लिए हैं; मेरा अस्तित्व दृश्यों के लिए नहीं है। इसीलिए दृश्यों के कारण मुझे क्षोभ हो, यह किसी प्रकार उचित नहीं है।

यह सारा दृश्य (जगत्), जो हमारे चारो ओर भासित हो रहा है, अस्थिर है। (पर) तुम आत्म-तत्त्व को, यतः वह द्रष्टा है, निश्चय रूप से अचल जानो।

[८]

आत्म-स्वरूप में संस्थिति

अहंकारेण निर्मुक्तं तत्त्वं यच्छुद्धमव्ययम्।
तत् त्वं भ्रातर्न जानीषे तत् त्वं तत्ते महद्धनम् ॥४१॥

यस्याभीप्साजिहासाभ्यां व्याप्तमेतज्जगत्त्रयम्।
सार्थक्यं लभते नूनं यस्यैवेक्षणमात्रतः ॥४२॥

महत्त्वममहत्त्वं वा सर्वस्यापीह वस्तुनः।
यस्यापेक्षामुपेक्षां वा समाश्रित्यैव तिष्ठति ॥४३॥

संस्मृतिस्तस्य तत्त्वस्य नियतं ह्यनपायिनी।
स्वरूपे संस्थितिः सत्यमात्मसंमानना मता ॥४४॥

अहंकार से निर्मुक्त जो शुद्ध ध्रुव तत्त्व है, भाई तुम उसको नहीं जान रहे हो। वास्तव में तुम वही हो, वही तुम्हारा बड़ा धन है।

जिसकी अपनी अभीप्सा (=प्राप्त करने की इच्छा) और जिहासा (=छोड़ने की इच्छा) से व्याप्त इस त्रिलोकी की सार्थकता उसके ईक्षण-मात्र से सम्पन्न होती है,

प्रत्येक पदार्थ की महत्ता अथवा लघुता का रहस्य जिसकी अपेक्षा अथवा उपेक्षा में ही निहित है,

उसी तत्त्व की निश्चय रूप से अविचल संस्मृति को 'स्वरूपावस्थिति' कहना चाहिए। वास्तव में 'आत्म-संमान की भावना' यही है।

[९]

मैं कौन हूँ ?

सारवत्त्वमसारत्वं मूल्यवत्त्वमथान्यथा।
वस्तूनां निर्णयापेक्षि यस्य सोऽहं न संशयः ॥४५॥
आहरन्ति बलिं यस्मै दृश्यानीमानि नित्यशः।
विश्वभुग् विश्वसाक्षी च सोऽहं नैवात्र संशयः ॥४६॥
मांसमज्जादिभिः पूर्णो देहोऽयं पूतिपूरितः।
मनोज्ञो रुचिरश्चापि येन सोऽहं न संशयः ॥४७॥

कोई भी पदार्थ सारवान् है अथवा सारहीन, मूल्यवान् है अथवा मूल्यहीन— इस बात में जिसके निर्णय की अपेक्षा की जाती है, निस्सन्देह मैं वही हूँ।

ये सारे दृश्य पदार्थ पूजारूप में जिसके लिए अपने अनुभवों की बलि देते हैं वह विश्व का भोक्ता और साक्षी मैं ही हूँ, इसमें संदेह नहीं है।

मांस मज्जा आदि से पूर्ण और दुर्गन्ध से पूरित यह शरीर जिसके कारण सुन्दर और आकर्षक प्रतीत होता है, निःसन्देह मैं वही हूँ।

ब्रह्म का चिन्तन

ऊपर आत्म-तत्त्व का विचार किया गया है। उस विचार का पर्यवसान विश्व-प्रपञ्च के मूल-तत्त्वरूप ब्रह्म के चिन्तन में ही होता है। नीचे की रचनाओं (१०–१६) का इसी विचार से संबन्ध है—

[१०]

ब्रह्म-सायुज्य-प्राप्ति का क्रम

आत्मनो ब्रह्मसायुज्यक्रमव्याख्या विधीयते।
प्रथमं जडात्मकं सर्वं तमोऽवस्थानमेव तत् ।४८॥

प्रकृत्या बलशालिन्या तमोभूयिष्ठया तदा।
आच्छादितो य एवाग्निः शेते सुप्त इवोरगः॥४९॥

सधूमो रागयोगेण रजोऽवस्थानमेव तत्।
स एव निर्मलः शान्तः सत्त्वभूयिष्ठ उच्यते॥५०॥

तस्यैवोपरमोऽनन्ते शान्ते ब्रह्मण्यसंशयम्।
निर्वाणमथ सायुज्यममृतत्वं च गीयते॥५१॥

एवं तमोरजःसत्त्वावस्थाः क्रान्त्वा तदमृतम्।
चैतन्यमश्नुतेऽद्वैतं ब्रह्मणा प्रणवेन वै॥५२॥

व्यष्टि-रूप आत्मा ब्रह्म के साथ किस क्रम से सायुज्य अथवा अद्वैत को प्राप्त करता है या कर सकता है, इसी की व्याख्या यहाँ की जा रही है।

जीव के क्रमिक विकास में जो सब से नीचे की या प्राथमिक अवस्था होती है वह जडावस्था से अभिन्न होती है; उसे घोर तामसिक स्थिति ही समझना चाहिए।

उस अवस्था में अत्यधिक तमःस्वरूपिणी तथा बलशालिनी प्रकृति से आच्छादित चैतन्य-रूप अग्नि, सोये हुए सर्प के समान, मानो सुप्तावस्था में रहती है।

वही चैतन्य-रूप अग्नि जब राग (=आसक्तिरूप रक्तता) के योग से मानो सधूम अवस्था को प्राप्त हो जाती है, उसी को रजो-गुण की स्थिति समझना चाहिए।

अभिप्राय यह है कि घोर तामसिक अवस्था से ऊपर उठते हुए जीव में जो रागात्मक प्रवृत्ति का विकास होता है उसको राजस स्थिति ही समझना चाहिए।

राख से ढकी हुई कण्डे की आग वायु के लगने से सुलगने और धुआँ देने लगती है; वही स्थिति उक्त द्वितीय अवस्था में आत्मा की होती है।

वही चैतन्यरूप अग्नि जब निर्मल और शान्त होकर प्रकाशित हो उठती है तब उसमें सात्त्विक अवस्था का अत्यधिक विकास हुआ समझना चाहिए। अभिप्राय यह है कि जैसे अग्नि अपने प्रकाश की उत्कृष्ट अवस्था में शुभ्र, निर्मल और शान्त दिखलायी देती है, ऐसे ही उत्कृष्ट सात्त्विकता के विकसित होने पर आत्मा निर्मल और शान्त अवस्था को प्राप्त हो जाता है।

उसी व्यष्टयात्मक चैतन्य की जब अनन्त तथा शान्त ब्रह्म में उपरति हो जाती है उसी अवस्था का शास्त्रों में 'निर्वाण' अथवा 'सायुज्य' अथवा 'अमृतत्व' इन शब्दों से वर्णन किया गया है।

अभिप्राय यह है कि अग्नि जैसे अपनी अन्तिम स्थिति में समष्टयात्मक अग्नि में लीन हो जाती है, आत्मा की 'निर्वाण' अवस्था को भी वैसा ही समझना चाहिए।

इस प्रकार व्यष्टि-रूप आत्मा क्रमशः तामस, राजस और सात्त्विक अवस्थाओं को पार करता हुआ अन्त में ब्रह्म के साथ अमृत-रूप अद्वैतावस्था को प्राप्त कर लेता है।

शास्त्रों में उसी ब्रह्म का वर्णन प्रणव या ओंकार रूप से भी किया गया है।[1]

---

१. तु० "ओमित्येतदक्षरमिदꣳ सर्वं तस्योपव्याख्यानम्।.........इति सर्वमोङ्कार एव।...सर्वꣳ ह्येतद् ब्रह्मायमात्मा ब्रह्म...। अमात्रश्चतुर्थोऽव्यवहार्यः प्रपञ्चोपशमः शिवोऽद्वैत एवमोङ्कार आत्मैव संविशत्यात्मनात्मानं य एवं वेद।"

(माण्डूक्योपनिषद् १।२।१)

[११]

विशाल-चिन्तन का महत्त्व

यो वै भूमा तत्सुखम् । नाल्पे सुखमस्ति ।
भूमैव सुखम् । भूमा त्वेव विजिज्ञासितव्यः ॥

(छान्दोग्योपनिषद् ७।२३।१)

अर्थात्, जो विशाल है, महान् है, वही सुख-रूप है । अल्प में, लघु में, सुख नहीं रहता । निस्सन्देह महान् ही सुख है । इसलिए महान् को ही विशेष रूप से जानना चाहिए ।

लघु स्वार्थों का सतत चिन्तन ही मनुष्य की अशान्ति का मूल कारण है और विशाल-चिन्तन में ही उसकी सच्ची शान्ति का रहस्य निहित है, इसी तथ्य का प्रतिपादन नीचे के पद्यों में किया गया है :—

शरीरात्मा लघुस्तस्य नैव कार्या विचारणा ।
चिन्तनं हि लघोर्यस्माल्लघुतापादकं मतम् ॥५३॥
भूमा वै सुखमाम्नातं सुखमल्पे न विद्यते ।
अनर्थान्तरता तस्मान्मता भूमपरात्मनोः ॥५४॥
ब्रह्मविज्जायते ब्रह्म ह्याम्नातमसकृच्छ्रुतौ ।
तस्माद् ब्रह्मविचारेऽब्धौ निमग्नः शान्तिमाप्नुहि ॥५५॥
तत्त्वमानन्दरूपं तदादिमं नात्र संशयः ।
तथापि महदाश्चर्यं दृश्यन्ते दुःखिनो जनाः ! ॥५६॥
एकमेवाद्वितीयं तन्मूलं सर्वस्य वस्तुनः ।
तद्विकासाः सर्वे भावा नियतं तत्स्वरूपिणः ॥५७॥
इत्येवं सततं ध्यायन्मुनिर्ब्रह्मपरायणः ।
लघुतापादकान्भावान् भित्त्वा भूमानमश्नुते ॥५८॥

शरीर-धारी तत्तद् व्यक्ति का व्यक्तित्व लघु है । केवल उसी के स्वार्थ के विचार में मनुष्य को नहीं लगा रहना चाहिए । क्योंकि लघु का चिन्तन लघुता को लाने वाला होता है ।

विशालता में अथवा महत्ता में ही सुख रहता है, ऐसा (उपरि-निर्दिष्ट) श्रुति में कहा गया है। अल्प में, लघु में, सुख नहीं रहता। इसीलिए 'भूमन्' (=महत्) और 'परमात्मन्' दोनों शब्द वास्तव में समानार्थक हैं, ऐसा शास्त्रीय सिद्धान्त है।[१]

ब्रह्म जो भूमा है उसको जानने वाला ब्रह्म हो जाता है, ऐसा श्रुति में बार-बार कहा गया है। इसलिए ब्रह्म-विचार-रूपी सागर में निमग्न होकर तुम शान्ति को प्राप्त करो।

अभिप्राय यह है कि मनुष्य का चिन्तन जितना ही विशाल होगा अथवा लघु स्वार्थों से ऊपर रहेगा उतना ही अधिक सच्चे सुख और शान्ति का अनुभव उसको होगा।

जो आदिम अथवा मूल तत्त्व है वह अपने में पूर्ण होने से आनन्द-स्वरूप है, इसमें सन्देह नहीं हो सकता। तब भी मनुष्य दुखी दिखायी देते हैं, यह बड़े आश्चर्य की बात है। परन्तु

'एक ही अद्वितीय परमतत्त्व सब वस्तुओं के मूल में है। इसलिए उसी से विकसित होने वाले समस्त पदार्थ निश्चय रूप से तत्स्वरूप ही हैं।'

ब्रह्मपरायण मुनि इस प्रकार सतत चिन्तन करता हुआ चित्त में लघुता को लाने वाले विचारों को दूर भगाकर भूमा को, परमात्मा को, अथवा सच्चे सुख और शान्ति को, प्राप्त करता है।

[१२]

अनन्त की यात्रा

विहगोऽनन्त आकाशे विचरन्नपि यदा कदा।
वृक्षाग्रं पर्वताग्रं वा यथैवाश्रित्य तिष्ठति ॥५६॥

---

१. इस सम्बन्ध में 'ब्रह्मसूत्र-शाङ्कर-भाष्य' का भूमाधिकरण (१।३।८-९) देखिए।

तथैव पथिकोऽनन्ते विचरन् ब्रह्मणोऽध्वनि ।
तांस्तानाश्रयते देवान् तत्तदादर्शरूपिणः ॥६०॥
उच्चादुच्चप्रदेशांस्तान् लब्ध्वा सोऽध्यात्मवर्त्मनि ।
असक्तो निर्ममो गच्छन् ब्रह्मसायुज्यमश्नुते ॥६१॥

जैसे अनन्त आकाश में जब-तब विचरता हुआ एक पक्षी वृक्षों की चोटियों पर या पर्वत के शिखर पर आश्रय पाकर बैठ जाता है;

इसी प्रकार ब्रह्म-प्राप्ति की अनन्त यात्रा का पथिक भी विचरता हुआ तत्तद् उदात्त आदर्शों के रूप में[1] तत्तद् देवताओं का आश्रय लेता हुआ आगे-आगे बढ़ता जाता है।

इस प्रकार वह अध्यात्म-मार्ग में उच्च से उच्च स्थितियों (भूमियों) को पाकर असक्त और निर्मम भाव से ऊपर उठता हुआ अन्त में ब्रह्म-सायुज्य को पा लेता है।

[१३]

विश्व का सूत्रधार

यदन्तः शाश्वतं तत्त्वं तेजोरूपमकल्मषम् ।
तन्मनास्तत्परो भूत्वा विचरेन्ना गतस्पृहः ॥६२॥

कार्यकारणसूत्रेण जगदेतत् परात्मना ।
चाल्यतेऽचलभावेन काष्ठपुत्तलिका इव ॥६३॥

कार्यकारणसूत्रेण सूत्रधारेण केनचित् ।
चाल्यमाने जगत्यस्मिन् नैव किंचिदहेतुकम् ॥६४॥

तेजोरूप अकल्मष (=मल या पाप से रहित) जो शाश्वत सर्वान्तर्यामी मूलतत्त्व है, मनुष्य को उसका चिन्तन करते हुए और उसमें विश्वास रखते हुए तृष्णा या लिप्सा से रहित होकर विचरना चाहिए।

---

१. देखिए ऊपर आठवीं रश्मि में पद्य ३४।

तथ्य तो यह है कि सर्वान्तर्यामी परमात्मा ही इस जगत् को कठ-पुतली के समान अचल भाव से कार्य-कारण के सूत्र (=डोर) द्वारा चला रहे हैं।

जब कि कोई सूत्रधार कार्य-कारण के सूत्र द्वारा इस जगत् को चला रहा है तब यह निश्चित जानो कि इस जगत् में कोई भी बात निर्हेतुक नहीं हो सकती।

[१४]

अभिमान का आवरण

आनन्दं विभुमात्मानं ब्रह्म प्राहुर्मनीषिणः।
सर्वत्रगमतोऽस्माभिः सान्निध्यं तस्य विद्यते ॥६५॥

सान्निध्यं कथमत्रेति जिज्ञासा न प्रयोजिका।
सत्यस्मिन् नित्यसान्निध्ये कुतोऽस्माकं विषण्णता? ॥६६॥

प्रश्न एष महाँस्तावन् ममोद्वेगाय जायते।
तस्यैतस्य समाधानं किञ्चिदत्र प्रपञ्च्यते ॥६७॥

अभिमानो दुरन्तोऽयं तम आवरकं यथा।
व्याघातकारणं तत्र सान्निध्ये नः प्रतीयते ॥६८॥

आवृत्य परितः पृथ्वीं वर्तते वायुमण्डलम्।
आत्मानमभिमानोऽयं तथैवावृत्य तिष्ठति ॥६९॥

अभिमानेन मूढोऽयं सन्निधावपि संस्थितम्।
आनन्दधाम सर्वत्र व्याप्तं तत्त्वं न पश्यति ॥७०॥

ततो ज्ञानासिना धैर्यचर्म संगृह्य बुद्धिमान्।
छित्त्वाहंकारमानन्दी ब्रह्मणा संगतो भवेत् ॥७१॥

तत्त्वदर्शियों का कहना है कि ब्रह्म स्वभावतः आनन्द-स्वरूप, सर्वत्र फैला हुआ, सब का आत्मा और सर्व-व्यापक है। ऐसी दशा में हमारे साथ उसका सान्निध्य है, यह स्वतः सिद्ध है।

पर यहाँ 'यह सान्निध्य क्यों कर है ?' इस जिज्ञासा से हमारा कोई प्रयोजन नहीं है। प्रश्न तो यह है कि आनन्दस्वरूप ब्रह्म के साथ नित्य रहने वाले इस सान्निध्य के होने पर भी हमारी यह विषण्णता क्यों है ? उसका क्या कारण है ?

यही महान् प्रश्न हमारे सामने है। इसी से हम उद्विग्न हो रहे हैं। इसी के समाधान की कुछ चर्चा हम यहाँ करना चाहते हैं।

ऐसा प्रतीत होता है कि जैसे अन्धकार सब पदार्थों को ढक लेता है; इसी प्रकार हमारा यह दुःखदायी अभिमान ही ब्रह्म के साथ हमारे सान्निध्य में व्याघात का कारण हो रहा है।

जैसे पृथ्वी को चारों ओर से वायु-मण्डल आवृत किये हुए है, इसी प्रकार यह अभिमान हमारी आत्मा को आवृत किये हुए रहता है।

अभिमान से मूढावस्था को प्राप्त मनुष्य अपनी सन्निधि में भी रहनेवाले आनन्द के धाम तथा सर्वत्र व्याप्त ब्रह्म-रूप परम-तत्त्व का अनुभव नहीं कर पाता।

इसलिए बुद्धिमान् मनुष्य को चाहिए कि वह धैर्यरूपी ढाल को लेकर ज्ञान-रूपी खड्ग से अहंकार-शत्रु का संहार करके ब्रह्म के सान्निध्य को पाकर सदा आनन्द का अनुभव करे।

[१५]

परमतत्त्व का आश्रय

जगत्यस्मिन् मदीयं किमिति वक्तुं न शक्यते।
देहोऽप्ययं मदीयो यो न मदीयोऽस्ति वस्तुतः ॥७२॥

अहन्तापि मदीया या न मदीयास्ति वस्तुतः।
मदीयभावना नूनं यतः सर्वा प्रवर्तते ॥७३॥

अहन्तया विना यत्तत्साक्षात्त्वेन व्यवस्थितम्।
तत्त्वं तदेव वेत्तव्यं 'मदीयम्' अपि तद् भवेत् ॥७४॥

तदेव वस्तुतो ज्ञेयं यतः सर्वं प्रवर्तते।
यत्रैव च लयं याति तत् त्वं तत्त्वं समाश्रय ।।७५।।

इस जगत् में मेरा क्या है ? यह नहीं कहा जा सकता। यह शरीर भी जो मेरा है, वास्तव में मेरा नहीं है।

जो मेरी अहन्ता है, जिससे मेरेपने की सारी भावना निश्चित रूप से प्रवृत्त होती है, वह भी वस्तुतः मेरी नहीं है।

अहन्ता के बिना, जो साक्षाद्रूप से (अर्थात् स्वरूपत्वेन) व्यवस्थित है, उसी को तत्त्व समझना चाहिए। कदाचित् उसी को 'मेरा' कहा जा सकता है।

वास्तव में वही ज्ञेय है। उसी से सब कुछ प्रवृत्त होता है और उसी में विलीन हो जाता है। उसी तत्त्व का तुम आश्रय लो !

[१६]

शैशवी अवस्था का दिव्य संदेश

अध्यात्म-मार्ग के पथिक के लिए, दूसरे शब्दों में, अपने जीवन में ब्रह्म के साथ तादात्म्य का अनुभव चाहने वाले के लिए, एक सुन्दर आदर्श के रूप में दिव्य शैशवी अवस्था का हृदयस्पर्शी चित्रण नीचे के पद्यों में किया गया है :—

अवस्थां शैशवीं दिव्यामामनन्ति मनीषिणः।
गुणानां कीर्तनं तस्याः क्रियते शान्ति-वर्धनम् ।।७६।।

चिन्ता यापरिमेयान्ता लोकान् संव्याप्य तिष्ठति।
तस्या नाम्नापि सद्भावस्तस्यां किञ्चिन्न दृश्यते ।।७७।।

सन्दिहानमनोवृत्तिः संशयावसरस्तथा ।
अंशेनापि न विद्येते यतः शान्तिमयी हि सा ।।७८।।

किञ्चिल्लोकोत्तरं ज्योतिर्दोषसंस्पर्शवर्जितम् ।
शान्तेः प्रसारकं मन्ये शिशुभावेन तिष्ठति ।।७९।।

मनीषी लोग शैशवी अवस्था को दिव्य अवस्था बतलाते हैं। शान्ति को बढ़ाने वाला उसी के गुणों का कीर्तन यहाँ हम करेंगे।

कभी समाप्त न होने वाली जो चिन्ता सब लोगों को व्याप्त किये हुए है उसकी नाममात्र की भी सत्ता उस अवस्था में नहीं पायी जाती।

सब कामों में सन्देह करने वाली मनोवृत्ति तथा संशय का अवसर दोनों किञ्चिन्मात्र भी उसमें नहीं पाये जाते, क्योंकि वह अवस्था केवल शान्तिमयी होती है।

ऐसा प्रतीत होता है कि दोषों के संस्पर्श से रहित और शान्ति का प्रसार करने वाली कोई लोकोत्तर ज्योति शिशुभाव से स्थित हो रही है[1]।

प्राणरक्षाकृते लोकाश्चिन्तासन्तानकर्षिताः।
दृश्यन्ते भयविभ्रान्ता धावन्त इव सर्वतः ॥८०॥

तेषु तेषु प्रयत्नेषु साधकं बाधकं प्रति।
रागद्वेषौ प्रजायेते सर्वस्यापि न संशयः ॥८१॥

परेशस्य जगद्भर्तुर्मायया मातृरूपया।
रक्षितानां शिशूनां सा चिन्ता नैवोपपद्यते ॥८२॥

रागद्वेषभयैः शून्या निश्चिन्ताः प्रेममूर्त्तयः।
सर्वेषां शिशवस्तस्मान्मोदमादधते सदा ॥८३॥

निर्माया निरहङ्काराः स्पर्धयास्पृष्टमानसाः।
प्रसन्नचेतसो नूनं शिशवो वशिभिः समाः ॥८४॥

सांसारिक लोग अपने प्राणों की रक्षा के लिए नानाप्रकार की चिन्ताओं से सन्तप्त तथा एक-न-एक भय से विभ्रान्त मानो सब तरफ़ दौड़ते हुए दिखायी पड़ते हैं।

प्रत्येक मनुष्य में अपने विभिन्न प्रयत्नों में साधक और बाधक वस्तुओं या व्यक्तियों के प्रति क्रमशः राग और द्वेष के भाव उत्पन्न हुआ करते हैं।

परन्तु जगदीश्वर भगवान् की मातृ-रूपिणी माया से सुरक्षित शिशुओं में वह दुःख-दायिनी चिन्ता नहीं पायी जाती।

---

१. तु० "सुताभिधानं स ज्योतिः सद्यः शोकतमोऽपहम्।" (रघुवंशमहाकाव्य १०।२)।

राग, द्वेष और भय के भावों से शून्य, चिन्ता से रहित, प्रेम के मूर्त्ति-स्वरूप शिशु सब के लिए प्रसन्नता को देनेवाले होते हैं ।

छल-कपट और अहङ्कार से रहित, जिनके मन में स्पर्धा ने स्पर्श भी नहीं किया है, अत एव सदा प्रसन्न-चित्त शिशुओं को संयतेन्द्रिय महात्माओं के समान समझना चाहिए ।

नानाधिव्याधिखिन्नानां सन्तापैस्तप्तचेतसाम् ।
दुर्भावनापरीतानां मर्त्यलोकाधिवासिनाम् ॥८५॥
शान्तिप्रसादमाधुर्यदिव्यसंदेशवाहिनः ।
देवदूतान् शिशून्मन्ये देवलोकादुपागतान् ॥८६॥

नाना प्रकार की आधियों और व्याधियों से खिन्न, सन्तापों से सन्तप्त और अनेकानेक दुर्भावनाओं से ग्रस्त मर्त्यलोकाधिवासी लोगों के लिए

शान्ति, प्रसाद और माधुर्य के दिव्य सन्देशों को देनेवाले शिशुओं को देवलोक से आये हुए देवदूत मानना चाहिए ।

अवस्थां शैशवीं तस्माद् आहुरादर्शमुत्तमम् ।
मनीषिणो मनुष्याणां कृते लोकहितैषिणः ॥८७॥
बालभावेन तिष्ठासेद् विद्वान् शान्तिपरायणः ।
श्रुतिरेतज्जगौ तस्माल्लोककल्याणकाम्यया ॥८८॥
ब्रह्मसूत्र[1]देश्चैव हेतुमद्भिर्विनिश्चितम् ।
आरुरुक्षोर्मुनेरर्थे शैशवाश्रयणं हितम् ॥८९॥

इसीलिए लोकहितैषी मनीषियों ने मनुष्यों के लिए शैशवी अवस्था को उत्तम आदर्श कहा है ।

इसीलिए शान्तिपरायण विद्वान् को बालभाव से रहने की इच्छा करनी चाहिए—ऐसा लोक-कल्याण की कामना से श्रुति (उपनिषद्)[1] ने गान किया है ।

---

१. तु० "तस्माद् ब्राह्मणः पाण्डित्यं निर्विद्य बाल्येन तिष्ठासेत् ।"
(बृहदारण्यकोपनिषद् ३।५।१)

वेदान्तसूत्रों[1] ने भी हेतु और उपपत्ति के साथ ऐसा सिद्धान्त निश्चित किया है कि आध्यात्मिक जगत् में ऊपर उठने की इच्छा रखने वाले मुनि के लिए शैशव-भाव को धारण करना श्रेयस्कर है।

तमेव शैशवादर्शमनुगच्छन्निरन्तरम्।
प्रसन्नो दोषनिर्मुक्तस्तिष्ठेयमिति भावये ॥६०॥

उसी शैशवी अवस्था के आदर्श का निरन्तर अनुसरण करते हुए दोषों से रहित होकर मैं प्रसन्नता से रहूँ, यही मेरी कामना है!

परम-तत्त्व का साक्षात्कार

मूल-तत्त्व के चिन्तन और विश्वास को अपने जीवन का आधार और चरम लक्ष्य समझने वाले तत्त्वदर्शी विवेचक की दृष्टि से परम-तत्त्व के स्वरूप के वर्णन के साथ-साथ उसके चिन्तन से जनित अपनी अनुभूति का दिग्दर्शन भी नीचे की रचनाओं में किया गया है :—

[१७]

आनन्दघन अद्वैततत्त्व

यदेतदमृतं किञ्चिद् व्याप्य विश्वं व्यवस्थितम्।
सर्वेषामपि भावानामन्ततः सारमुत्तमम् ॥६१॥
ज्योतिषामपि यज्ज्योतिः परमं यत्परायणम्।
ओतप्रोतं जगद्येन यदाश्रित्यैव संस्थितम् ॥६२॥
यदाश्रित्यैव वर्तन्ते संबन्धा विश्वविस्तृताः।
जडचेतनयोर्वापि चेतनानां परस्परम् ॥६३॥

---

१. तु० "अनाविष्कुर्वन्नन्वयात्" (वेदान्तसूत्र ३।४।५०)।

प्रेमरूपेण बध्नाति सत्यरूपेण वा पुनः ।
अथवाकर्षणेनैव तत्तद् वस्तु परस्परम् ॥६४॥
व्यक्तं यत्प्रेम्णि मातुर्यन्मैत्रीभावनया सताम् ।
आवर्जनेन गीतानां कारुण्येन महात्मनाम् ॥६५॥
आनन्दघनमद्वैतं जगतः प्रभवाप्ययम् ।
जीवनस्य परं स्रोतस्तदहं नित्यमाश्रये ॥६६॥

यह जो कोई अमृत (तत्त्व) विश्व को व्याप्त करके व्यवस्थित है,
जो अन्त में चलकर समस्त भाव पदार्थों का उत्तम सार है;
जो ज्योतियों का ज्योति, जो अन्तिम परायण है,
जिससे ओत-प्रोत हुआ जगत् जिसके आश्रय पर ही संस्थित है;
जड़ और चेतन के अथवा चेतनों के ही परस्पर जो विश्व में विस्तृत
संबन्ध हैं वे जिसका आश्रय लेकर ही वर्तमान हैं;
(जो) तत्तद् वस्तु को प्रेम-रूप से अथवा सत्य-रूप से,
अथवा आकर्षण द्वारा ही परस्पर बाँधे हुए है;
जो माता के प्रेम में, सत्पुरुषों की मैत्री भावना द्वारा, गीतों के
आकर्षण द्वारा तथा महात्माओं के कारुण्य से व्यक्त होता है;
उस आनन्दघन, अद्वैत, जगत् की उत्पत्ति और प्रलय का कारण-भूत, तथा
जीवन के महान् स्रोतः-स्वरूप (तत्त्व) का मैं सदा आश्रय लेता हूँ ।

[१८]

मूल-तत्त्व में आस्था

प्रेमकारुण्ययोर्धाम तत्त्वं विश्वनियन्तृ यत् ।
जीवनस्य परं मूलं तदहं नित्यमाश्रये ॥६७॥

विस्मृतेनापि बहुधा मया मोहवशेन हा ।
विस्मर्यें न क्षणं येन तदहं नित्यमाश्रये ॥६८॥
प्राणानामपि मे प्राणः परमं यत्परायणम् ।
वरेण्यं शरणं पुण्यं तदहं नित्यमाश्रये ॥६९॥

जो मूलतत्त्व प्रेम और कारुण्य का स्थान है,
जो समस्त विश्व को नियन्त्रण में रखता है,
जो जीवन का परममूल है,
मैं सदा उसी का आश्रय लेता हूँ।
हा ! मैं मोहवश
प्रायः उसे भूला रहता हूँ !
पर जो क्षण भर के लिए भी मुझे नहीं भुलाता,
मैं सदा उसी का आश्रय लेता हूँ।
जो मेरे प्राणों का भी प्राण है,
जो जीवन का परम उत्कृष्ट आदर्श है,
जो वरणीय पवित्र शरण-स्थान है,
मैं सदा उसी का आश्रय लेता हूँ।

ध्यायते योगिभिर्नित्यं ज्ञानिभिश्चिन्त्यते तथा।
भक्ता गानरता यस्य तदहं नित्यमाश्रये ॥१००॥
सन्तोऽपि यस्य सत्ताया विश्वासेन निरन्तरम् ।
जीवन्मुक्ता वसन्तीह तदहं नित्यमाश्रये ॥१०१॥

योगी सदा जिसका ध्यान करते हैं,
ज्ञानी जिसका चिन्तन करते हैं,
भक्त-जन जिसके गान में रत रहते हैं;
मैं सदा उसी का आश्रय लेता हूँ।
सन्त-महात्मा जिसकी सत्ता के विश्वास से,

संसार में निरन्तर
जीवन्मुक्तों का जीवन व्यतीत करते हैं,
मैं सदा उसी का आश्रय लेता हूँ।

गीयते कीर्तिसंगीतं सुगन्धिसुमनोहरैः।
निःशब्दं कुसुमैर्यस्य तदहं नित्यमाश्रये ॥१०२॥
सौन्दर्यं विश्वविस्तीर्णं कवयः क्रान्तदर्शिनः।
पश्यन्त्यलौकिकं यस्य तदहं नित्यमाश्रये ॥१०३॥
शुद्धोदात्तविचारेषु परार्थे जीवने तथा।
मन्ये मे दर्शनं यस्य तदहं नित्यमाश्रये ॥१०४॥
व्यष्टेरस्या मदीयायाः सर्वस्वं निलयस्तथा।
समष्टिरूपं यत्तत्त्वं तदहं नित्यमाश्रये ॥१०५॥
अपूर्णतासु सर्वासु तथाकाङ्क्षास्वसंशयम्।
संकेतो यस्य पूर्णस्य तदहं नित्यमाश्रये ॥१०६॥
यन्नूनं परमं सत्यं नैव किञ्चिद्बहिर्यतः।
सन्निधावथ दूरे यत् तदहं नित्यमाश्रये ॥१०७॥

सुगन्धित सुमनोहर पुष्प जिसकी कीर्ति के संगीत का निःशब्द-भाव से गान करते हैं, मैं सदा उसी का आश्रय लेता हूँ।

जिसके समस्त विश्व में फैले हुए अलौकिक सौन्दर्य को क्रान्त-दर्शी कविगण देखते हैं, मैं सदा उसी का आश्रय लेता हूँ।

पवित्र उदात्त विचारों में तथा परार्थ जीवन में मुझे जिसकी झाँकी मिलती है, मैं सदा उसी का आश्रय लेता हूं।

जो विश्व का समष्टि-रूप तत्त्व मेरी इस व्यष्टि (= व्यक्ति) का सर्वस्व और एकमात्र निकेतन है, मैं सदा उसी का आश्रय लेता हूँ।

समस्त अपूर्णताओं में तथा समस्त आकांक्षाओं में जिस पूर्ण-तत्त्व का निश्चित संकेत मिलता है, मैं सदा उसी का आश्रय लेता हूँ।

निश्चय ही जो परम सत्य है, जिससे बाहर कुछ भी नहीं है, जो पास भी है और दूर भी है, मैं सदा उसी का आश्रय लेता हूँ!

[१९]

आनन्द की अनुभूति

नित्यं तस्य जगद्भर्तुः प्रतिवेशे वसन्नपि ।
दारिद्र्येणाभिभूतोऽहमिति मिथ्यामतिर्मम ॥१०८॥

सदा उस विश्वंभर भगवान् के पड़ोस में रहते हुए भी, मेरा 'मैं दारिद्र्य से अभिभूत हूँ' ऐसा सोचना मेरी मिथ्यामति ही है ।

पेयस्यामृतकल्पस्य जीवनस्यान्तिके सतः ।
पिपासाकुलितस्येव महामूर्खस्य सा स्थितिः ॥१०९॥

मेरी यह स्थिति, पीने के योग्य और अमृत के समान जल के पास में होते हुए भी, प्यास से व्याकुल महामूर्ख के समान ही है[1] ।

[२०]

आनन्दनिर्झर भगवान्

विश्वात्मा भगवान् नूनं साक्षादानन्दनिर्भरः ।
तस्यान्तः संस्थितः स्वस्थः सदानन्दो वसाम्यहम् ॥११०॥
योऽसौ सर्वजगद्रक्षाभारं वहति सर्वदा ।
तस्मिन्न्यस्याखिलाश्चिन्ताः सदानन्दो वसाम्यहम् ॥१११॥
योऽसौ सर्वजगत्साक्षी भगवान् पुरुषोत्तमः ।
तदाश्रयेण निश्चिन्तः सदानन्दो वसाम्यहम् ॥११२॥
चिन्तासन्तानसंतापैः खिन्नानां परमौषधम् ।
आत्मविश्वासमाश्रित्य सदानन्दो वसाम्यहम् ॥११३॥

---

१. तु० "अपां मध्ये तस्थिवांसं तृष्णाविदज्जरितारम्" (ऋग्वेद ७।८९।४) ।

विश्वात्मा भगवान् निश्चय ही साक्षात् आनन्द के निर्झर हैं। उनके अन्दर स्थित, शान्तचित्त, मैं सदा आनन्द से रहता हूँ।[1]

जो सदा संपूर्ण जगत् की रक्षा के भार को उठाये हुए हैं, उन्हीं पर सारी चिन्ताओं को छोड़ कर, मैं सदा आनन्द से रहता हूँ!

वे जो सारे जगत् के साक्षी भगवान् पुरुषोत्तम हैं, उन्हीं के आश्रय से निश्चिन्त होकर, मैं सदा आनन्द से रहता हूँ!

चिन्ता की परम्परा के संताप से खिन्नों के लिए परम औषधरूप आत्म-विश्वास के आश्रय को पाकर, मैं सदा आनन्द से रहता हूँ!

[२१]

आनन्दमय दिव्य-जीवन

इहैव जीवने आतदुःखदारिद्र्यदुर्गतीः।
तिरस्कृत्य सदानन्ददिव्यजीवनमाप्नुयाः ॥११४॥

देवो यो विश्वकृन्नित्यं विश्वं व्याप्यावतिष्ठते।
सान्निध्यं स्वात्मनस्तस्य साक्षात्त्वेनावधारयेः ॥११५॥

तत्तद्भावप्रभावेण हर्षशोकादि जायते।
तत उद्धर्तुमात्मानं शाश्वतं भावमाश्रयेः ॥११६॥

कार्यकारणसूत्रेण जगदेतन्नियन्त्रितम्।
साक्षित्वभावनां तत्र निःसङ्गस्त्वं समाश्रयेः ॥११७॥

---

१. आनन्दानुभूति की तीव्र लालसा से वैदिक साहित्य ओत-प्रोत है। उदाहरणार्थ नीचे के प्रमाणों को देखिए :—

यत्र ज्योतिरजस्रं यस्मिन् लोके स्वर्हितम्।
तस्मिन् मां धेहि पवमानामृते लोके अक्षिते।...(ऋग्वेद ९।११३।७)
यत्रानन्दाश्च मोदाश्च मुदः प्रमुद आसते।
कामस्य यत्राप्ताः कामास्तत्र माममृतं कृधि। (ऋग्वेद ९।११३।११)

नद्या जलप्रवाहस्य सातत्यमवलोक्यताम् ।
तत्र रोधप्रयत्नेन नात्मानमवसादयेः ॥११८॥
विश्वमेतदनन्तं वै तवापेक्षां विनैव यत् ।
वर्ततेऽनिशमासक्तेस्तत्र ते किं प्रयोजनम् ॥११९॥
व्यक्तेस्तवापि व्यक्तित्वे कारणं न प्रदृश्यते ।
मा कृथाः कृशमात्मानं तदर्थं चिन्तया वृथा ॥१२०॥
संयोगश्च वियोगश्च भावानामनिवार्यतः ।
जीवने दृश्यते तत्र चिन्तायाः किं प्रयोजनम् ॥१२१॥

अयि भाई ! तुम इसी जीवन में दुःख, दारिद्र्य और दुर्गति को दूर भगाकर सतत आनन्दमय दिव्य-जीवन को प्राप्त करो !

जो विश्व-निर्माता देव विश्व में व्याप्त होकर अवस्थित है, उसके साथ अपने सान्निध्य को तुम साक्षात् रूप से अनुभव करो !

जीवन में तत्तद् भावों (=मनोविकारों) के प्रभाव से हर्ष, शोक आदि हुआ करते हैं। उस अवस्था से अपने को ऊपर उठाने के लिए तुम शाश्वत भाव रूप जो भगवान् हैं उनका आश्रय लो !

कार्य-कारण-भाव के सूत्र से यह जगत् नियन्त्रित है। इस संबंध में तुम निःसङ्ग होकर (अर्थात् अनासक्त भाव से) साक्षित्व की भावना का आश्रय लो ! अर्थात् विश्व की यावद् घटनाओं को तुम एक साक्षी के रूप में, उनमें अनासक्त होते हुए, देखो !

ज़रा देखो तो सही कि नदी का जल-प्रवाह सतत-रूप से बराबर जारी है। उस प्रवाह को रोकने के प्रयत्न से तुम अपने को दुःखी न करो ! अर्थात् तुम उसको रोक नहीं सकते। इस लिए रोकने के व्यर्थ प्रयत्न से अपने को दुःखी न करो !

यह अनन्तानन्त विश्व तुम्हारी अपेक्षा के बिना ही सदा अपने रूप में चल रहा है। उसमें तुम यदि आसक्ति रखते हो तो वह निष्प्रयोजन ही है !

फिर तुम्हारी व्यक्ति का जो व्यक्तित्व है उसका भी कोई कारण स्पष्ट नहीं दिखाई देता है। इसलिए तद्विषयक व्यर्थ चिन्तन से अपने को क्यों दुबला बनाते हो; अर्थात्, क्यों परेशान होते हो ?

भावों का संयोग और वियोग जीवन में अनिवार्य रूप से देखने में आता है। इसलिए उनके सम्बन्ध में चिन्ता करने से क्या लाभ है ?

[२२]

प्रगति का अनन्त मार्ग

अनन्ते प्रगतेर्मार्गे गच्छन्सोल्लासमानसः।
नानाविधानि दृश्यानि पश्यन्नानन्दनिर्भरः॥१२२॥
अनासक्तः क्वचित्, स्वीयं यात्रोद्देश्यं च संस्मरन्।
सर्वदा सर्वथा स्वस्थः सदानन्दो वसाम्यहम्॥१२३॥

प्रगति के अनन्त पथ पर मन में उल्लास के साथ चलते हुए,
नाना प्रकार के दृश्यों को आनन्दातिशय से देखते हुए,
कहीं भी आसक्त न होकर, अपनी यात्रा के उद्देश्य को स्मरण में रखते हुए, सर्वदा सब प्रकार से शान्त-चित्त, मैं सदा आनन्द से रहता हूँ !

[२३]

अनासक्ति से आनन्दानुभव

वाहकस्यास्य जगतः कालस्य महिमा महान्।
तस्यापि साक्षिभूतोऽयमात्मेति महदद्भुतम्॥१२४॥
दृश्यमेतज्जगत्सर्वं नानावैचित्र्यशोभितम्।
दर्शं दर्शमनासक्तस्तदानन्दमवाप्नुहि॥१२५॥

इस जगत् के वाहक काल की महिमा महान् है।
यह आत्मा उस (काल) का भी साक्षी है। यह बड़ी अद्भुत बात है !
नाना प्रकार की विचित्रताओं से सुशोभित यह सारा जगत् (हमारा) दृश्य है।
अनासक्त भाव से उसको देखते हुए तुम आनन्द का अनुभव करो !

[२४]

विश्वभावन भगवान् की महिमा का गान

अयि ! विश्वभावन विश्वभृत् करुणानिधान नमोऽस्तु ते ।
महिमा महान् मम मानसे महनीय देव ! विभाति ते ॥१२६॥

गिरिमूर्ध्नि निर्जनकानने रमणीयतैकनिकेतने ।
तडितां गणैरतिशोभने परिभाति ते महिमा घने ॥१२७॥

तपनातपेन विभासिते गगनाङ्गणे विधु-भा-सिते ।
उडुवृन्ददीप्तिविचित्रिते तव रोचिरेव विरोचते ॥१२८॥

अयि विश्व-भावन ! विश्वम्भर ! करुणा-निधान ! आपको मेरा नमस्कार है । हे पूजनीय देव ! आपकी बड़ी महिमा मेरे मन में भासित हो रही है ।

पर्वत के शिखर पर, अथवा रमणीयता के एकमात्र निकेतन निर्जन कानन में, अथवा बराबर दमकती हुई दामिनी से शोभित बादल में आपकी महिमा भासित हो रही है ।

सूर्य के प्रकाश से प्रकाशित, अथवा चन्द्रमा की चाँदनी से शोभायमान, अथवा तारा-समूह की दीप्ति से विचित्रित गगन के अंगण में आपकी ही छवि चमकती है ।

द्विजवृन्दशब्दनिकूजिते कुसुमावलीपरिशोभिते ।
मलयानिलेन सुगन्धिते मृगसंचयेन निषेविते ॥१२९॥

शुभशीतनिर्झरवारिणा सरसीतटे परिपूरिते ।
मुनियोगिवृन्दसमर्चिते महिमा विभो ! तव भासते ॥१३०॥

पक्षि-समूहों के शब्दों से शब्दायमान, पुष्पों की पंक्तियों से शोभायमान, मलयानिल से सुगन्धित, मृगों के समूहों से निषेवित,

झरनों के स्वच्छ शीतल जलों से परिपूरित झीलों के तटपर, जहाँ मुनियों और योगियों के दर्शन होते हैं, हे प्रभो ! आपकी महिमा दृष्टिगोचर होती है ।

विजितान्तरारिचमूचया: शुभशान्तवृत्तिसदाशया: ।
विहिताधिदेवसमाश्रया: प्रणिधानजातविनिश्चया: ॥१३१॥

परदु:खतापकदर्थना मथितुं समाहितभावना: ।
तव तन्मन:सु विरोचना द्युतिरस्ति येऽत्र तपोधना: ॥१३२॥

जिन्होंने आभ्यन्तर शत्रुओं की सेनाओं को जीत लिया है, जिनकी चित्त-वृत्तियाँ पवित्र और शान्त हैं और जो सदाशय हैं, जिन्हें एकमात्र भगवान् का सहारा है, जिन्होंने चित्त की एकाग्रता से तात्त्विक ज्ञान को पा लिया है,

दूसरों के दु:ख के तापों की पीडाओं को दूर करने के लिए जिन्होंने अपनी भावनाओं को पवित्र बनाया है, उन तपोधनों के हृदयों में आपकी शोभायमान द्युति विराजमान है ।

मुनिभिर्भवानिह चिन्त्यते व्रतिभिर्भवान् परिचीयते ।
निगमस्तथा जगदीश ! ते ह्युपवर्णनेत्यवसीयते ॥१३३॥

निजनीडसंश्रितपक्षिभिरुषसीह सायमु राविभि: ।
गुणकीर्तनं तव योगिभि: क्रियते समाहितबुद्धिभि: ॥१३४॥

मुनिजन आपकी चिन्तना करते हैं; व्रती लोग आपका परिचय प्राप्त करते हैं । हे जगदीश ! वेद भी निश्चय ही आपके गुणों का वर्णन करते हैं ।

अपने घोंसलों में बैठकर प्रात: और सायं शब्द करने वाले पक्षियों द्वारा तथा समाहित बुद्धिवाले योगियों द्वारा आपके गुणों का कीर्तन किया जाता है ।

सगुणो भवानिह कर्मठैरपि निर्गुण: कथित: कठै: ।
तव चित्रमत्र चरित्रमात्मरतैरवेक्ष्यमसंशयै: ॥१३५॥

विपिनेऽथवा गिरिगह्वरे परितो दरेऽपि मनोहरे ।
समुपह्वरे त्वयि सुन्दरे मुनयो हरे ! निरता: परे ॥१३६॥

आप कर्मकाण्डियों द्वारा सगुण और उपनिषदों द्वारा निर्गुण कहे गये हैं । आपके विचित्र चरित्र को संशय से रहित आत्म-रत लोग ही देख सकते हैं ।

हे भगवन् ! चारों ओर भय के होने पर भी मनोहर विपिन में, अथवा पर्वत की गुफा में, अथवा एकान्त स्थान में मुनिजन सौन्दर्य से युक्त तथा परमधाम-स्वरूप आपके ध्यान में ही निरत रहते हैं ।

यदजं ध्रुवं परितस्ततं निगमागमैरपि संस्तुतम् ।
तव तत्स्वरूपमहं भजे शिव ! शान्तिधाम निरन्तरम् ॥१३७॥

हे शिव ! हे शान्तिधाम ! भगवन् ! मैं आपके उस स्वरूप को निरन्तर भजता हूँ, जो अजन्मा, कूटस्थ, सर्वत्र व्यापक और निगम तथा आगम द्वारा संस्तुत है ।

[२५]

जीवन का परम लक्ष्य

सद्भावनाप्रसूनैर्यद् वासितं सुमनोहरम् ।
सर्वलोकसमाकर्षि तत्पदं मे प्रकाशताम् ॥१३८॥

सद्भावना-रूपी कुसुमों से जो सुरभित और सुमनोहर है, जो समस्त लोक को आकृष्ट करने वाला है, वह पद मेरे लिए प्रकाशित हो !

नैराश्यमन्धतमसं यतः सर्वं निवर्तते ।
आशाप्रकाशविच्छिन्नं तत्पदं मे प्रकाशताम् ॥१३९॥

आशा के प्रकाश से विच्छिन्न हो कर घोर अन्धकार रूपी सारा नैराश्य जहाँ से निवृत्त हो जाता है, वह पद मेरे लिए प्रकाशित हो !

सेवितं सततं सद्भिः सूरिभिर्गतमत्सरैः ।
सदाचारपरैः शुद्धैस्तत्पदं मे प्रकाशताम् ॥१४०॥

ईर्ष्या से रहित, सदाचार में तत्पर, पवित्रात्मा और विद्वान् सत्पुरुषों द्वारा जो सदा सेवित है, वह पद मेरे लिए प्रकाशित हो !

सति दुःखेऽप्यनुद्विग्नमादर्शमनु निश्चितम् ।
उत्तरोत्तरमुत्कर्षि तत्पदं मे प्रकाशताम् ॥१४१॥

दुःख के आने पर भी जो उद्विग्नता से रहित है, आदर्श के प्रति जो दृढ है और उत्तरोत्तर उत्कर्ष करने वाला है, वह पद मेरे लिए प्रकाशित हो !

सत्यानुसन्धानपरा लोककल्याणसेतवः ।
आश्रित्य यत्स्थिता धीरास् तत्पदं मे प्रकाशताम् ॥१४२॥

सत्य के अनुसन्धान में तत्पर और लोक के कल्याण के लिए सेतु-रूप धीर पुरुष जिस का आश्रय लेकर सदा रहते हैं, वह पद मेरे लिए प्रकाशित हो !

विषादेनावसादेन निर्मुक्तं मुक्तसंशयम् ।
कर्त्तव्यपथमारूढं तत्पदं मे प्रकाशताम् ॥१४३॥

विषाद और अवसाद से जो रहित है, संशय जहाँ नहीं है और कर्तव्य के मार्ग पर जो आरूढ है, वह पद मेरे लिए प्रकाशित हो !

श्रमेण तपसा नित्यं संयमेन समन्वितम् ।
विनयेनापि संजुष्टं तत्पदं मे प्रकाशताम् ॥१४४॥

जो श्रम, तपस् और संयम से सदा समन्वित है और विनय भी जहाँ विद्यमान है, वह पद मेरे लिए प्रकाशित हो !

येनेदं मधुमद् विश्वं स्वयं यन्मधुमत्तमम् ।
मधु यन्मधुविद्यायास् तत्पदं मे प्रकाशताम् ॥१४५॥

जिस से विश्व का माधुर्य सम्पन्न होता है, जो स्वयं निरतिशय माधुर्य से युक्त है, जो मधु-विद्या[1] का मधु है, वह पद मेरे लिए प्रकाशित हो !

प्रेम्णा स्नेहेन दिव्येन कारुण्येनार्जवेन च ।
पृथिवी स्वर्गायते येन तत्पदं मे प्रकाशताम् ॥१४६॥

जिसके कारण दिव्य प्रेम और स्नेह से तथा कारुण्य और आर्जव से यह पृथिवी स्वर्ग बन जाती है, वह पद मेरे लिए प्रकाशित हो !

भाषासीमामतिक्रम्य स्वरूपेणैव संस्थितम् ।
यदेतच्छाश्वतं तथ्यं तत्पदं मे प्रकाशताम् ॥१४७॥

भाषा की सीमा का अतिक्रमण करके जो अपने रूप से ही स्थित है और जो शाश्वत तथ्य-रूप है, वह पद मेरे लिए प्रकाशित हो !

---

१. तु० अथर्ववेद १।३४ तथा बृहदारण्यकोपनिषद् २।५ ।

तत्तन्नामभिराख्यातं विभिन्नैः सांप्रदायिकैः ।
वस्तुतस्तैरसंस्पृष्टं तत्पदं मे प्रकाशताम् ॥१४८॥

विभिन्न सम्प्रदायों के लोग भिन्न-भिन्न नामों से जिसका निर्देश करते हैं, परन्तु वस्तुतः जो उन नामों से असंस्पृष्ट है, वह पद मेरे लिए प्रकाशित हो !

मोहेन तमसा हीनम् आनन्दरसनिर्भरम् ।
दिव्येन ज्योतिषा दीप्तं तत्पदं मे प्रकाशताम् ॥१४९॥

मोह और अज्ञान से जो रहित है, आनन्द-रस से जो आप्लावित है और अलौकिक प्रकाश से जो प्रकाशित है, वह पद मेरे लिए प्रकाशित हो !

यत्र स्थिता महात्मानस् तत्त्वमव्ययमद्वयम् ।
पश्यन्त्यलौकिकं दिव्यं तत्पदं मे प्रकाशताम् ॥१५०॥

जहाँ स्थित होकर महात्मा लोग दिव्य अलौकिक शाश्वत तथा अद्वितीय परमतत्त्व का साक्षात्कार करते हैं, वह पद मेरे लिए प्रकाशित हो !

नर उवाच

जीवनज्योतिरेतद्वै लब्ध्वा भगवतः प्रभो ।
मानवीयं स्वकं जन्म धन्यं मन्येऽद्य वस्तुतः ॥१५१॥

मानवस्य समस्यानां जीवने संभवन्ति याः ।
कष्टप्रदाः समाधानं तासामत्र प्रदर्श्यते ॥१५२॥

नूनं समस्तशास्त्राणां सतां सारमिहोद्धृतम् ।
हिताय सर्वलोकानां हृदयंगमया गिरा ॥१५३॥

तदेतदमृतं पुण्यं पीत्वा पीत्वा रसायनम् ।
इहैव जीवने विद्वान् ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥१५४॥

नर ने कहा

हे प्रभो ! इस जीवन-ज्योति को आप से पाकर मैं आज वास्तव में अपने मानवीय जन्मको धन्य मानता हूँ ।

मानव के जीवन में जो कष्ट-प्रद समस्याएँ उपस्थित होती रहती हैं, उनका समाधान यहाँ दिखलाया गया है ।

इसमें समस्त सत् शास्त्रों का सार, सब लोगों के हित के लिए, हृदयंगम भाषा द्वारा, उद्धृत किया गया है ।

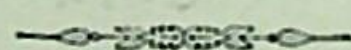
सो इस अमृत-स्वरूप पवित्र रसायन को पी पीकर विद्वान् इसी जीवन में ब्रह्म-भाव को प्राप्त कर सकता है ।

नारायण उवाच

प्रसन्नो नितरां सौम्य ! गच्छाव स्वपदं ततः ।
विश्वकल्याणमातन्वन् वर्तेथा ब्रह्मणोऽध्वनि ॥१५५॥

श्रीनारायण ने कहा

हे सौम्य ! मैं अत्यन्त प्रसन्न हूँ । अच्छा, अब हम दोनों अपने स्थान को चलें ! तुम्हें चाहिए कि तुम विश्वकल्याण के विस्तार द्वारा ब्रह्म के मार्ग पर चलते हुए जीवन-यात्रा करो !



उपसंहार

तदेवं विश्वकल्याणबुद्ध्या संवादमद्भुतम् ।
कृत्वा दिव्यं स्वकं धाम नरनारायणौ गतौ ॥१५६॥

तमिमं दिव्यसंवादं बुद्ध्या धृतिगृहीतया ।
अधीयानोऽथ शृण्वन्वा श्रद्धाभक्तिसमन्वितः ॥१५७॥

नैराश्यमन्धतमसं मुक्त्वाशावादमाश्रितः ।
उत्तरोत्तरमुत्कृष्टजीवने दत्तमानसः ॥१५८॥

कर्त्तव्यभावनापूतमाश्रितः कर्मदर्शनम् ।
व्रतग्रहणपुष्टात्मा ब्रह्मचारी जितेन्द्रियः ॥१५९॥
'दुःखं दुःखमिदं सर्वं' त्यक्त्वा मिथ्यामतिं मुदा ।
'कल्याणायैव नः सर्व'मिति भावनया युतः ॥१६०॥
चारित्र्यबलसंपन्नः स्वस्थ आरोग्यवान् सदा ।
सर्वा बाधास्तिरस्कृत्य हेलया गतमत्सरः ॥१६१॥
अन्तःपरीक्षणे दक्षः पूतात्मा दग्धपापकः ।
प्रसन्नमानसो धीमानास्थावाञ्जीवने दृढम् ॥१६२॥
आनन्दरूपमात्मानं मन्वानो मुक्तसंशयः ।
चिन्ताव्याधिविनिर्मुक्तः शाश्वतं पदमास्थितः ॥१६३॥
अकिञ्चनोऽपि दिव्यैस्तैः पदार्थैर्विश्वविस्तृतैः ।
तथा चाध्यात्मसंपत्त्या ऋद्धिमांस्तुष्टमानसः ॥१६४॥
कूटस्थममृतं नित्यं यतः सर्वं प्रवर्तते ।
यत्रैव च लयं याति येन सर्वमिदं ततम् ॥१६५॥
सत्यानां परमं सत्यं मूलतत्त्वं निगद्यते ।
शक्तिर्माता शिवो विष्णुः सत्यमोङ्कार एव वा ॥१६६॥
'धम्मो' कर्मेश्वरो ब्रह्मेत्यादिशब्दैः कथंचन ।
शब्दसृष्टिमतिक्रान्तं यदाहुः शब्दकोविदाः ॥१६७॥
श्रद्धाविश्वाससंपन्नोऽनन्ते तस्मिन् परात्मनि ।
अवसादेन निर्मुक्तः सर्वभूतहिते रतः ॥१६८॥
परार्थसाधने स्वार्थं पश्यन्नित्यमुदारधीः ।
सर्वात्मभावनो धीरः संसिद्धिं परमां गतः ॥१६९॥
अध्यात्मयोगसंपन्नः स्थितप्रज्ञस्तथात्मवान् ।
जीवनस्य परं स्रोतो लब्ध्वा ब्रह्म समश्नुते ॥१७०॥
निराशातिमिराच्छन्ने प्रकाशं जीवनप्रदम् ।
वितरञ्जीवनज्योतिश् चिरं लोके प्रकाशताम् ॥१७१॥

सो इस प्रकार विश्व-कल्याण की बुद्धि से अद्भुत संवाद करके नर और नारायण अपने दिव्य धाम को चले गये।

इस दिव्य-संवाद को श्रद्धा और भक्ति से समन्वित होकर धैर्य-पूर्वक बुद्धि से पढ़ने वाला अथवा सुनने वाला—

घोर अन्धकार-रूप नैराश्य को छोड़के आशावाद का आश्रय लेकर, उत्तरोत्तर उत्कृष्ट जीवन की प्राप्ति में मन को लगाने वाला,

कर्तव्य की भावना से पवित्र कर्म-दर्शन का आश्रय लेकर, व्रत-ग्रहण से पुष्ट आत्मा वाला, जितेन्द्रिय ब्रह्मचारी,

प्रसन्नता-पूर्वक 'यह सब कुछ केवल दुःख रूप है' इस मिथ्या-मति को छोड़कर, 'सब-कुछ हमारे कल्याण के लिए ही है' इस भावना से युक्त,

चारित्र्य के बल से संपन्न, सदा स्वस्थ और आरोग्यवान् रहते हुए, समस्त बाधाओं को मानो खेल में तिरस्कृत करके, मत्सर से रहित,

अन्तःसमीक्षण (=आत्म-परीक्षण) में दक्ष, पवित्रात्मा, निष्पाप, प्रसन्न मन वाला, बुद्धिमान् और जीवन में दृढ आस्था रखने वाला,

निःसंदेह रूप से आत्मा को आनन्द-स्वरूप मानता हुआ, शाश्वत पद में स्थित होकर चिन्ताकी व्याधि से विनिर्मुक्त,

लौकिक धन-धान्य की संपत्तिसे रहित होते हुए भी, विश्वमें विस्तृत तत्तद् दिव्य पदार्थों तथा अध्यात्म-संपत्ति से ऋद्धि वाला तथा संतुष्ट मन वाला,

कूटस्थ अमृत तथा नित्य जो तत्त्व है, जिससे सब की प्रवृत्ति होती है और जिसमें सब कुछ विलीन हो जाता है, जिससे यह सारा विश्व व्याप्त है, वही मूलतत्त्व सत्य पदार्थों में परम सत्य कहा जाता है। उसको, जो शब्द-सृष्टि से परे है, शब्द-शास्त्र के विद्वान् शक्ति, माता, शिव, विष्णु, सत्य, ओंकार, धर्म्म, कर्म, ईश्वर, ब्रह्म इत्यादि शब्दों द्वारा किसी प्रकार कहते हैं। उसी अनन्त परमात्मा में श्रद्धा और विश्वास से संपन्न होकर, अवसाद से जो निर्मुक्त है और सब प्राणियों के हित में रत है,

परार्थ-साधन में स्वार्थ को देखते हुए नित्य उदार बुद्धि से युक्त होकर सर्वत्र आत्मा की भावना वाला, धीर, परमसिद्धि को पहुँचने वाला,

अध्यात्म-योग से संपन्न, स्थित-प्रज्ञ और आत्मवान्, जीवनके मूलस्रोत को पाकर ब्रह्म को प्राप्त हो जाता है।

निराशा के अन्धकार से आच्छादित लोक में जीवनप्रद प्रकाश को वितरण करती हुई यह जीवन-ज्योति चिरकाल तक प्रकाशित हो !

ग्रन्थकर्ता का आशीर्वाद

तदिदं जीवनज्योतिः पठन् श्रद्धासमन्वितः ।
विचारेण समं धीमान् धृत्युत्साहसमन्वितः ॥१७२॥

दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः ।
कर्त्तव्यमाचरन्नित्यं लोकानां हितकाम्यया ॥१७३॥

निरस्य जीवनेऽनास्थां नैराश्यं लक्ष्यहीनताम् ।
उत्तरोत्तरमुत्कृष्टां प्रगतिं लभतां ध्रुवम् ॥१७४॥

सो इस जीवन-ज्योति को श्रद्धा-पूर्वक धैर्य और उत्साह के साथ पढ़ते हुए, दुःखों में अनुद्विग्न मनवाला, सुखों में स्पृहा-रहित होकर, लोगों की हित कामना से नित्य अपने कर्त्तव्य का पालन करते हुए, जीवन में अनास्था नैराश्य और लक्ष्यहीनता को हटाकर, बुद्धिमान् मनुष्य निश्चय ही उत्तरोत्तर उत्कृष्ट प्रगति को प्राप्त करे—ऐसा ग्रन्थकर्ता का आशीर्वाद है ।

भद्रा भवतु नो वाणी तेभ्यो ये तामधीयते ।
भद्रा उत प्रशस्तयो जागृयाम पुरोहिताः ॥१७५॥

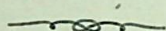
भद्राः सन्तु प्रशस्तयो भद्रा वाचो वचोविदः ।
जागृयाम पुरोहिताः ॥१७६॥

तमसस्परि पश्यन्तो नित्यं स्वर्वयमुत्तरम् ।
अश्नुवीमहि तज्ज्योतिरुत्तमं यदनामयम् ॥१७७॥

हमारी वाणी उसको पढ़ने वालों के लिए
कल्याण-कारिणी हो !
(ग्रंथ में दी हुई) प्रशस्तियाँ (=प्रतिपादन),
कल्याण करने वाली हों !
विश्व-कल्याण का मार्ग-प्रदर्शन करने वाले हम लोग,
अपने कर्तव्य-पालन में सावधान और तत्पर रहें !

ग्रंथकार की प्रशस्तियाँ सुन्दर और सुखद सिद्ध हों !
शब्दावली भी सबके हित-साधन में समर्थ हो !
कल्याण-मार्ग का प्रतिपादन करने वाले हम ग्रन्थकार,
अपने कर्तव्य-पालन में सजग रहें !
सतत उत्कृष्टतर प्रकाश के आदर्श को सामने रखते हुए,
और अज्ञानान्धकार की अवस्था से क्रमशः ऊपर उठते हुए,
हम सब उस दिव्य उत्तम प्रकाश को प्राप्त हों जो नितरां आनन्दमय है !!!

॥ इति श्रीभगवन्नारायणपरायणेन मुनिर्मेधातिथिरित्युपनामकेन विद्यामार्तण्डश्रीमङ्गलदेवशास्त्रिणोद्भासिते जीवन-ज्योतिषि प्रज्ञाप्रसादो नामान्तिमः षोडशो रश्मिः ॥



जीवन-ज्योति की रचनाओं के शीर्षकों की अकारादि क्रम से सूची



विशिष्ट विद्वानो की संमतियाँ

जीवन-ज्योति अथवा वैदिक गीताञ्जलि का केवल संस्कृत में संस्करण १९६८ में वाराणसी से प्रकाशित हुआ था। उसी पर प्रसिद्ध विद्वानों की प्राप्त संमतियाँ नीचे दी जाती हैं :—

[१]

साहित्य अकादेमी, नई देहली, के अध्यक्ष, तथा भारत के राष्ट्रीय प्राध्यापक सुप्रसिद्ध विद्वान् पद्मभूषण डा० सुनीतिकुमार चैटर्जी की सम्मति—

(इंग्लिश से अनूदित)

···प्रोफ़ेसर डा० मङ्गलदेव शास्त्री हमारे बीच में उन कतिपय वयोवृद्ध विशिष्ट संस्कृत विद्वानों में से हैं जिन्होंने अपना समस्त जीवन वैदिक तथा लौकिक संस्कृत वाङ्मय के आधार पर भाषा, साहित्य और भारतीय संस्कृति के अध्ययन, अनुशीलन, शोध और शोध के निदेशन में तत्परता से लगा दिया है। अर्ध-शताब्दी से अधिक समय पूर्व यूरोप में मुझे उनका सतीर्थ्य होने का गौरव प्राप्त हुआ था। तब से ही उन्होंने···प्रगाढ अनुशीलन बराबर जारी रखा है···और अपने विषयों में रोचक तथा विशिष्ट महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों का प्रकाशन करते रहे हैं।

उनका नवीनतम प्रकाशन है--जीवनज्योतिः अथवा वैदिकगीताञ्जलि। इस ग्रन्थ को परम्परागत भारतीय दार्शनिक विचारधारा के संबन्ध में उनके जीवन भर के चिन्तन का परिणाम रूप ही कहना चाहिए।

पुस्तक के साथ में भारतवर्ष के दो वरिष्ठ वयोवृद्ध ···अग्रणी विद्वानों के अत्यन्त प्रशंसात्मक लेख ग्रंथ के महत्त्व को स्पष्ट करते हैं। वे हैं—पद्म-विभूषण आचार्य श्री काकासाहेब कालेलकर का शुभाशंसन और महामहोपाध्याय पद्मविभूषण डा० गोपीनाथ कविराज का प्राक्कथन।

···प्राचीन-परम्परागत हृदयहारी सुभाषितों आदि की उदात्त शैली पर लिखित अपने अनुष्टुप्-प्रधान संस्कृत पद्यों की सुन्दर रचना के साथ-साथ, जीवन के प्रति ग्रन्थकार की आशावाद से समन्वित, आधुनिक युगानुसारी, युक्तियुक्त विचारधारा भी झटिति चित्त को आकृष्ट कर लेती है।······

संशयों से आकुल एवं निराशा-जनक वर्तमान भारतीय वातावरण में गम्भीर चिन्तन एवं विमर्श पर आधारित, ग्रंथ के आशावादी स्फूर्तिप्रद संदेश का हम हृदय से अभिनन्दन करते हैं। ......

विश्वास है कि यह कृति आधुनिक भारतीय साहित्यिक रचनाओं में, विशेषत: संस्कृत भाषा में, एक वास्तविक त्रुटि की पूर्ति करेगी।

पूर्ण आशा है कि हमारा शिक्षा-प्रेमी एवं विचार-क्षेत्र का उन्नायक नेतृवर्ग तथा अन्य विद्वान् पुस्तक का अत्यन्त हार्दिक स्वागत करेंगे।

सुधर्मा
कलकत्ता—२६
३।६।१६७०

[२]

प्रोफ़ेसर डा० बाबूराम सक्सेना, एम० ए०, डी० लिट्०, भूतपूर्व उपकुलपति, रविशंकर शुक्ल विश्वविद्यालय, रायपुर, की सम्मति—

......जीवन-ज्योति मनोयोग से पढ़ी......आप की रचना सर्वथा अभिनन्दनीय है। वैदिक सिद्धान्तों का प्रतिपादन आपने बड़े सुबोध और सरस ढंग से किया है। आस्तिक भावना की स्थापना तर्कसंगत शैली में की गई है। प्रवृत्ति और निवृत्ति दोनों मार्गों का वास्तविक सामंजस्य आपने कर दिया है और मानव को आशावादी कर्मयोग की ओर प्रेरित किया है।

शताब्दियों तक भारतीय जनता निराशाके सागर में डूबकर अब निकलती हुई दिखाई देती है। पर पश्चिम के भौतिकवाद का कुछ ऐसा प्रभाव पड़ा है कि सामान्य भारतवासी के मन से सत्य, अहिंसा, अपरिग्रह आदिकी भावनाएँ हटती जा रही हैं। भारतवासी नेतृविहीन और नेत्र-विहीन हो रहा है। उसके उद्धार के लिये क्या किया जाय!

मुझे विश्वास है कि इस पुस्तक के पढ़ने से उसे प्रकाश मिलेगा...।

हिन्दी आदि प्रचलित भाषाओं के अनुवाद-सहित इसके संस्करण निकाले जायं तो निश्चय ही हितकर होंगे।

इलाहाबाद
२६।६।१६७०

[३]

सुप्रसिद्ध विद्वान् पद्मभूषरण डा० विश्वबन्धु, शास्त्री, M. A., M. O. L. (पं०), O. d' A. (.फ्रां.), Kt. C. T. (इट.), डी० लिट०, ग्रादरी संचालक, विश्वेश्वरानन्द वैदिक शोधसंस्थान, होशियारपुर, की सम्मति–

······यह खेद की बात है······कि···मानव,······नैतिक स्तर पर, मानो ग्रभी भूतल पर, चलना भी नहीं सीख पाया है। निःसन्देह, उसकी इस नैतिक ग्रसमर्थता का ही यह दुष्परिणाम है कि ग्राज भी इस भूमि का कोई भी ऐसा भाग नहीं जहाँ······मानव-जीवन संघर्ष एवं ग्रशान्ति से दूषित न हो रहा हो।

सचमुच ग्रभी उस संतुलित एवं समन्वित चरित्र का उदय एवं उत्तरोत्तर विकास होना शेष है, जो एकमात्र मानव-समाज के वर्तमान नैतिक ग्रसमञ्जस का ग्रचूक ग्रौषध बन सके।

विद्यामार्तण्ड डाक्टर मङ्गलदेव शास्त्री का······'जीवन-ज्योति' ग्रथवा 'वैदिक गीताञ्जलि'······ग्रंथ बहुत-कुछ उपर्युक्त प्रकार की धारणाग्रों की पृष्ठभूमि को लिये हुए है। यह ग्रंथ प्राञ्जल संस्कृत भाषा के······श्लोकों के माध्यम से 'रश्मि' नाम के १६ खण्डों में पूर्वसंकेतित धारणाग्रों को विचार-विमर्श के ग्रति विशद प्रकाश में लाकर बड़े मनोहर ढंग से प्रस्तुत करता है। हमें पूर्ण विश्वास है कि···विचारशील पाठक इस ग्रन्थ-रत्न से पूरा-पूरा लाभ उठा सकेंगे!

होशियारपुर
८।१।७१

[४]

साहित्य ग्रकादेमी, नई देहली, की संस्कृत-प्रतिभा (६।१।१९७१) में उसके विद्वान् संपादक पद्मभूषण डाक्टर वी० राघवन कहते हैं—

संस्कृत से ग्रनूदित)

···प्रकृत ग्रन्थ में सुप्रसिद्ध विद्वान् ग्रन्थकार ने ग्रध्यात्मवासनावासित ग्रपने जीवन-दर्शन का प्रतिपादन किया है। दुःखावेश से संत्रस्त लोक के प्रति ग्रनुग्रह-बुद्धि से प्रेरित नर ग्रौर नारायण के संवादरूप में इस संस्कृत-पद्यात्मक ग्रन्थ का निर्माण किया गया है।

विषयावतरण के साथ-साथ प्रतिपाद्य विषय का समुचित निरूपण ग्रन्थकर्ता कवि की कल्पना-शक्ति तथा मनोभावों की उदात्तता का प्रदर्शन करता है। संसार का स्वरूप दुःखमय, निराशामय ग्रथवा सृष्टि के मूलतत्त्व का केवल माया-रूप न होकर, वास्तव में ग्राशामय,

प्रसादमय और आनन्दमय है; किञ्च व्रत, चारित्र्य, सन्नीति और भाव-संशुद्धि आदि साधनों द्वारा अन्तर्यामी जगदीश्वर की प्रसन्नता के लिए तथा···इसी लोक में जीवन्मुक्ति के अनुभव के लिए किस प्रकार मानव को यत्न करना चाहिए ? १६ रश्मियों में कवि ने इन ही विषयों का मनोहर पद्धति से प्रतिपादन किया है। प्रत्येक रचना के प्रारम्भ में सूत्ररूप में उसका शीर्षक तथा तत्प्रतिपादक वैदिक उद्धरण भी दिया गया है।

भावगर्भित शैली से प्रतिपादित विषय चिन्तन को प्रेरणा देनेवाले हैं। निस्सन्देह ग्रन्थ सुतरां श्लाघनीय है।

[५]

हिन्दी अनुवाद के सहित ग्रन्थ के प्रकृत संस्करण पर

प्रसिद्ध विद्वान् आचार्य सीताराम चतुर्वेदी, एम्० ए० (हिन्दी, संस्कृत, पालि, प्रत्न भारतीय इतिहास तथा संस्कृति), बी० टी०,ए ल् एल्० बी०, साहित्याचार्य, की सम्मति—

डॉ० मंगलदेव शास्त्री हमारे देश के संस्कृत के सुविख्यात दिग्गज विद्वान् हैं। जिस प्रकार प्राचीन आचार्यगण पाण्डित्य-पूर्ण ग्रन्थों के अतिरिक्त लोककल्याणकारी ग्रन्थों का भी प्रणयन करते थे, उसी प्रकार शास्त्रीजी ने इस युग के दीन, कुण्ठाग्रस्त, निराश, खिन्न, आत्महीनताग्रस्त और पीडित मानव-समाज के कल्याण के लिए 'जीवन-ज्योति' नाम का यह प्रकाशस्तम्भ-स्वरूप ग्रन्थ रचकर प्रस्तुत किया है। इसमें ग्रन्थकार महोदय ने वेद-शास्त्र-प्रतिपादित उद्धरणों और उक्तियों के आधार पर यह सिद्ध कर दिया है कि मनुष्य को निराशा-वादिता छोड़कर आशावाद का पन्थ ग्रहण करके, चारित्र्य और स्वास्थ्य-संपत्ति अर्जित करके, सब (आन्तरिक तथा बाह्य) संघर्षों से युद्ध करते हुए, मनः-प्रसाद-पुरस्सर वास्तविक नैतिकता का अनुसरण करते हुए, अध्यात्म पर आधारित कर्म-पथ पर अग्रसर होते रहना चाहिए। यही जीवन का सच्चा पुरुषार्थ है। ग्रन्थकार महोदय ने अत्यन्त मनोवैज्ञानिक क्रम तथा सरल ढंग से मानव-जीवन की महत्ता और उसके उतरोत्तर उत्कर्ष के आदर्श का अत्यन्त सरस विवेचन इस ग्रन्थ में किया है।

मुझे विश्वास है इस युग की सम्पूर्ण मानवता को इस ग्रन्थ से अपार बल, अप्रतिम शांति और अपूर्व प्रकाश मिलेगा।

उत्तर बेनिया बाग, वाराणसी
८-११-७१ } सीताराम चतुर्वेदी





भारतीय ज्ञानपीठ

उद्देश्य

ज्ञान की विलुप्त, अनुपलब्ध
और अप्रकाशित सामग्री का
अनुसन्धान और प्रकाशन
तथा लोक - हितकारी
मौलिक-साहित्य का निर्माण



संस्थापक
श्री शान्तिप्रसाद जैन

अध्यक्षा
श्रीमती रमा जैन



मुद्रक : सन्मति मुद्रणालय, दुर्गाकुण्ड मार्ग, वाराणसी-५